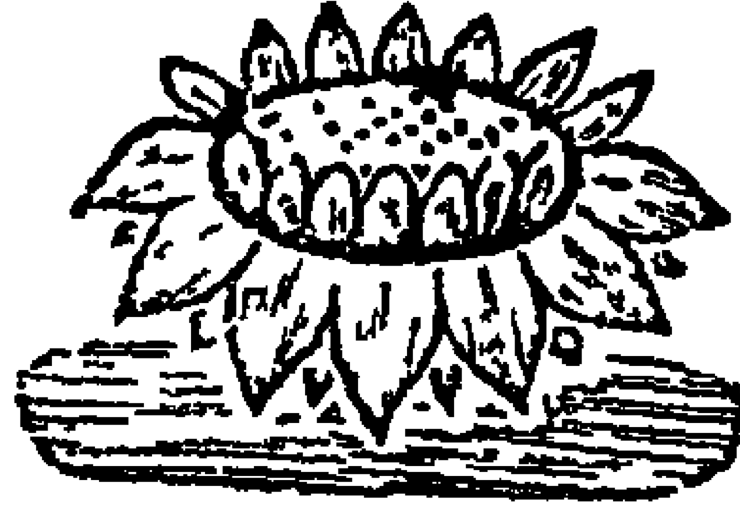
अच्युत-लेखमाला



प्रकाशनस्थानम्—
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,
काशी।

अच्युत-लेखमाला



प्रकाशनस्थानम्—
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः
काशी।

दो शब्द

हमने सर्वसाधारणके लाभके लिए, अपने कतिपय ग्राहकोंकी इच्छानुसार, 'अच्युतमें' उच्चकोटिके महात्माओंके उपदेश और विशिष्ट विद्वानोंके आध्यात्मिक लेखोंके लिए एक स्तम्भ सुरक्षित कर दिया था। यह क्रम केवल एक ही वर्ष तक चल सका, कारण कि हमारे अधिकांश ग्राहक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थोंके अनुवादपर ही विशेष अभिरुचि रखते हैं। उन्हें आधुनिक लेखोंके लिए प्राचीन उत्तम ग्रन्थोंके स्थानका यह बँटवारा पसन्द नहीं आया। उन्होंने वारवार अनुरोध किया कि आधुनिक महात्माओंके उपदेश एवं आध्यात्मिक लेखोंको प्रकाशित करनेवाली अन्यान्य अनेक पत्र पत्रिकाएँ विद्यमान हैं, 'अच्युत' में केवल प्राचीन उत्तमोत्तम संस्कृत ग्रन्थोंका अनुवाद ही प्रकाशित हो। ग्राहकोंका उक्त अनुरोध हमें भी ससार प्रतीत हुआ एवं जिस उद्देश्यसे यह आयोजन किया गया था, उसमें भी विशेप उल्लास दृष्टिगोचर नहीं हुआ, अतएव हमने इस क्रमको वन्द कर दिया।

एक वर्ष तक अच्युतमें जो लेख प्रकाशित हुए थे, उन्हींका यह 'अच्युत-लेखमाला' नामक लघुसंग्रह है। इसे जनताके सन्मुख उपस्थित करते हमें बड़ा आनन्द हो रहा है। इसमें सन्त-महात्माओंके भावपूर्ण अनेक उपदेश एवं लेख अध्यात्मपथमें आरूढ़ होनेकी इच्छा करनेवाले लोगोंके लिए वड़े उपयोगी हैं। आशा है, जनता सन्त-महात्माओंके उपदेशोंसे लाभ उठाएगी। इति शम्।

काशी
दीपमालिका १९९७

विनीत—
सम्पादक 'अच्युत'

श्रीः

अच्युत-लेखमालाकी विषय-सूची

अच्युतत्व

[एक परमहंस महात्माके उपदेश]

अच्युतके साथ अच्युततादात्म्यापन्न अच्युतकी स्मृतिमें स्थापित अच्युतका अच्युत लक्ष्य यही है कि अनन्त सच्चिदानन्दघन अच्युतके अच्युत अंशभूत अच्युतस्वभाववान् जीवोंको अच्युत शास्त्रीय साधनों द्वारा अच्युत परम पद प्राप्त हो।

विश्वकी शान्ति और सुखमें ही अपनी शान्ति और सुख माननेवाले अभिज्ञ महापुरुषोंका यह अच्युत निश्चय है कि अनादिकालीन जन्म-मरण-परम्परारूप संसारमें चक्कर लगानेवाले जीवोंको तब तक पूर्ण शान्ति एवं सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती जब तक वे अपने आश्रयभूत परिपूर्ण परब्रह्मके साथ अभेद-भावसे सायुज्य प्राप्त न कर लें। जैसे तागेसे बँधा हुआ पक्षी इधर उधर भ्रमण करता हुआ परिश्रान्त एवं उद्विग्न होकर शान्ति एवं विश्रान्तिके लिए अपने आश्रयका ही संश्रय करता है—

'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा०' (छा० ६।८।२)

वैसे ही जब जीव अपने अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप परिपूर्ण परमात्मारूप आश्रयसे वियुक्त होकर जाग्रत्प्रपञ्च एवं स्वप्नप्रपञ्चके अन्तर्गत अनन्त विषयोंमें आसक्त होता हुआ अनन्त प्रकारके शोक, मोह आदि अनर्थोंका अनुभव कर उद्विग्न एवं अशान्त होता है, तभी वह अपने आश्रयके साथ सायुज्यकी अभिलाषा करता है। जाग्रदवस्था एवं स्वप्नावस्थामें यद्यपि विविध सुख और उनकी सामग्रियाँ विद्यमान हैं, तथापि किसी समय उनकी भी उपेक्षा करके जीवको अद्वैत ब्रह्मरूप स्वाश्रयके सम्मिलनकी उत्कट अभिलाषा होती है। यहाँ तक कि कर्म एवं उपासना द्वारा प्राप्त दुर्लभ लोकोंमें दुर्लभ सुखका उपभोग प्राप्त करके भी इस अद्वैत ब्रह्मरूप स्वाश्रयके सम्मिलनकी उत्कट वाञ्छा बनी ही रहती है। जिन्हें दुर्लभातिदुर्लभ लोकोंका आधिपत्य भी प्राप्त है, उन्हें भी इस अद्वैत तत्त्वका

सम्मिलन सुतरां वाञ्छनीय ही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति-प्राकृत नामरूपमय प्रपञ्चके अन्तर्गत चाहे जितनी उन्नति एवं सुखसामग्रियाँ प्राप्त हों; किन्तु द्वैत एवं दुःखरूप होनेके कारण वे अनन्त शान्ति एवं विश्रान्तिके सम्पादनमें अत्यन्त असमर्थ हैं। ठीक ही है, भला महासमुद्रसे वियुक्त होकर तरंगको शान्ति और विश्रान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है, महाकाशसे वियुक्त होकर घटाकाशको शान्ति और विश्रान्ति कैसे मिल सकती है और बिम्बसे वियुक्त होकर प्रतिबिम्बमें शान्ति और विश्रान्ति कैसे हो सकती है? शान्ति और विश्रान्ति तो दूर रही महासमुद्र, महाकाश और बिम्बसे वियुक्त होकर तरंग, घटाकाश और प्रतिबिम्बकी स्थिति भी नहीं हो सकती। अतः वास्तविक अभेद एवं अव्यवधान-दशामें ही भेद एवं व्यवधान अनादिकल्पनामात्र है।

'गिरा अर्थ जल बीचि जिमि कहियत भिन्न न भिन्न'

सुषुप्तिकालमें होनेवाली अद्वैतात्मसम्पत्ति पूर्ण नहीं होती है। यद्यपि जाग्रत् एवं स्वप्नकी अपेक्षा सुषुप्तिमें शान्ति और विश्रान्तिकी यत्किञ्चित् प्राप्ति होती है, तथापि अनन्त, अपरिच्छिन्न एवं अनावृत आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती। अतः अनन्त शान्ति और विश्रान्तिके लिए अनावृत एवं अनन्त अच्युतानन्दतत्त्वकी ही प्राप्ति जीवमात्रको अपेक्षित है। यद्यपि अशेष अनर्थकी निवृत्ति एवं अनन्त आनन्दकी प्राप्तिके लिए प्रत्येक प्राणी लालायित है, सुषुप्ति-सुखकी लालसा उसका एक उदाहरणमात्र है, तथापि व्यामोहवश साधनोंके निश्चयाभावसे प्राणियोंकी साधनाभासमें ही प्रवृत्ति एवं वास्तविक साधनकी ओर अरुचि होती है। तात्पर्य यही है कि यद्यपि प्रत्येक प्राणीको अपना हित अत्यन्त अभीष्ट है, तो भी वह मोहवश हिताचरणके विपरीत अपने अहितका ही आचरण कर बैठता है अर्थात् हितमें अहित बुद्धि और अहितमें हित बुद्धिसे ही प्रत्येक पुरुष हितकी उपेक्षा और अहितका ग्रहण करता है।

शास्त्रोक्त धर्मपर विश्वास न रखनेवाले लौकिक उपायोंसे ही अर्थ और कामके सम्पादनमें तत्पर मनुष्य भी हिताचरण और अहितकी उपेक्षा ही चाहता है। जिन्हें शास्त्र एवं शास्त्रमें उक्त धर्मपर आस्था है, वे शास्त्रोक्त उपायोंसे पारलौकिक अभीष्ट धर्म एवं मोक्षरूप हितके सम्पादन एवं तद्विपरीत विघ्न या बाधकरूप अहितोंसे बचनेका प्रयत्न करते हैं। भेद इतना ही है कि

दीर्घदर्शी अभिज्ञ पुरुष स्थायी शान्ति और सुखके हेतु तत्त्वको ही हित समझता है, तद्विपरीत स्थायी सुखके विघातक लौकिक हितको हिताभास ही समझता है। जैसे सौगन्ध्य, माधुर्य और सौन्दर्यसे सम्पन्न विषसम्मिश्रित पक्वान्न तत्क्षण तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्तिका साधन होनेपर भी स्थायी हितका विघातक होनेसे विघातक ही समझा जाता है, याने लौकिक उपायोंसे लौकिक काम और अर्थसम्पत्ति भी हित ही है, परन्तु उसी दशामें जब कि वह पारलौकिक स्थायी हितका बाधक न हो, ऐसे हितका भी विरोधी अच्युत नहीं है, प्रत्युत समर्थक ही है। परन्तु लौकिक हिताभास सुखाभास वैषयिक क्षुद्र सुखके लोभसे अचिन्त्य अनन्त अच्युत आनन्दका बाध अच्युतके लिए असह्य है। अतएव उसका यह विरोधी है।

शास्त्र एवं शास्त्रप्रतिपादित धर्मपर विश्वास रखनेवाले प्राणियोंमें भी शास्त्रके अभिप्रायके अज्ञानसे या किन्हीं अन्य हेतुओंसे धर्ममें अधर्मबुद्धि एवं अधर्ममें धर्मबुद्धि भी संभावित होती है। यही कारण है कि अति आस्तिक या आस्तिकाभासोंमें—पुरातन सनातन और परिष्कृत सनातनमें—अत्यन्त मतभेद है। कहीं-कहीं शास्त्रके अभिप्राय जानने और न जाननेसे ही मतभेद होता है। उस मतभेदका निराकरण विचारसे ही हो सकता है। परन्तु लौकिक प्रलोभनोंसे जान-बूझकर जो धर्माधर्मके विनिमयका सम्पादन किया जाता है, उसकी चिकित्सा तो अच्युतके परमतात्पर्यविषयीभूत अच्युतसे ही हो सकती है। वास्तवमें लौकिक उपायोंके प्रयोक्ताओंको इसपर ध्यान अवश्य देना चाहिए कि उनके जीवनमें उनसे प्रयुक्त उपायोंका फल उनके दृष्टिगोचर हो। अन्यथा देहमात्रको आत्मा माननेवाले ईश्वर वा शास्त्रप्रतिपादित धर्म अथवा पारलौकिक फलपर विश्वास न रखनेवाले यदि किसीने लौकिक फलकी प्राप्तिके लिए अपना धनक्षय, जनक्षय, शक्तिक्षय या सर्वस्वनाश कर लिया और उसका फल आकाश कुसुमके समान ही रहा, तो वह उपाय नीतिज्ञोंकी दृष्टिमें अत्यन्त अनुपादेय सिद्ध होता है। अतः दीर्घकालिक उपायसाध्य फलोंके अभिमानियोंको भी देहव्यतिरिक्त जन्मान्तरीय या पारलौकिकफलसम्बन्धी आत्मा एवं ईश्वर, शास्त्र और तदुक्त धर्मके साथ सम्बन्ध मानना आवश्यक होता है ताकि इस जन्ममें फलकी प्राप्ति न होनेपर भी उनके प्रयत्नका फल जन्मान्तरमें प्राप्त हो सके। और उपायोंके साथ धर्माविरोध या धर्मसम्बन्धकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उसके बिना दीर्घ-

कालिक उपाय-साध्य फलके लिए प्रयत्न अत्यन्त अयुक्त समझा जाता है। आत्माको जन्मांन्तरीय-फल-सम्बन्धी माननेपर भी अभिलषित फलकी प्राप्तिके लिए ईश्वर या धर्मका सम्बन्ध अपेक्षित ही होता है, क्योंकि उसकी प्राप्तिका साधन केवल अभिलाषा ही नहीं है। धर्मनिरपेक्ष अभिलाषा फलके सम्पादनमें कदापि समर्थ नहीं हो सकती—

परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि ।
युक्तात्मन्यफला ह्यासन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः ॥'* (भा० ७।५।४१)

'विफल होहिं रावणसर कैसे ।
खलके सफल मनोरथ जैसे ॥'

इस समय जो प्राणी जिस देश और जिस राष्ट्रके उद्धारके लिए प्रयत्न कर रहे हैं, हो सकता है कि वे ही जन्मान्तरमें देशान्तरके सम्बन्धसे परतन्त्रताकी दृढ़ताके लिए ही प्रयत्न करें, क्योंकि नवीन सम्बन्ध प्राचीन सम्बन्धका अभिभव कर देता है, यह प्रत्यक्ष ही है। प्राक्तन समस्त सम्बन्धियोंकी विस्मृति और सब प्रकारके सम्बन्धोंका विच्छेद अनुभवसिद्ध है। हाँ, यदि धर्मयुक्त अभिलाषा हो, तो वह अवश्य ही अभिलषित फलकी प्राप्तिमें हेतु होती है। जैसे कोई सम्राट् लौकिक प्रयत्न द्वारा अन्य राष्ट्रको स्वायत्त करनेके लिए प्रयत्न करते समय यदि शस्त्राघात आदिसे नष्ट हो जाय, तो धर्मनिरपेक्ष वासनामात्रसे वह जन्मान्तरमें राष्ट्रके आधिपत्यको प्राप्त नहीं कर सकता। हाँ, यदि धर्मसापेक्ष वासना हो, तो वह अवश्य फलकी साधिका हो सकती है। तात्पर्य यही है कि वैषयिक क्षुद्र सुखोंके प्रलोभनमें शास्त्र एवं धर्मकी उपेक्षासे प्राणियोंका अत्यन्त अहित है। उसमें हित बुद्धि करना अत्यन्त अदूरदर्शिताका द्योतक है। इसी लिए शास्त्र प्रतिपादित, अव्यभिचरित स्थिर शान्ति एवं विश्रान्तिके अच्युत साधनोंका अभ्रान्तरूपमें प्रकाश करना भी अच्युतका लक्ष्य है।

धर्ममें अधर्मबुद्धि और अधर्ममें धर्मबुद्धि विश्वके पतनका मूल कारण है। अतः उसके निराकरणमें सदा सचेष्ट रहना अच्युतका अच्युत कर्तव्य है। इस तरह ऐहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदयके साधनोंका आनुषङ्गिकरूपसे

* जैसे पुण्यहीन पुरुषसे आरम्भ किये गये लौकिक उद्यम निष्फल होते हैं, वैसे ही निर्विकार निराधार निरतिशय ऐश्वर्यसम्पन्न सर्वात्मा भगवान्में लीन प्रह्लादपर उनके (असुरोंके) प्रहार निष्फल हुए।

प्रकाशन करता हुआ प्राणी-मात्रका परम ध्येय, ज्ञेय, आराध्य, अपरिच्छिन्न अचिन्त्य और अप्रच्युतस्वभाव भगवत्तत्त्वकी प्राप्तिका अव्यभिचरित उपायभूत भगवदाराधनबुद्धिसे अनुष्ठीयमान जो वर्णाश्रमानुसार श्रौतस्मार्त धर्म है, उसका प्रकाशन अच्युतका अन्तरङ्ग विषय है।

समाजसंग्रह या अन्यान्य प्रलोभनोंसे शास्त्रीय धर्मतत्त्वके हिंसकोंके सिद्धान्तोंका निराकरण भी उसी कोटिमें निक्षिप्त है।

अच्युतके सिद्धान्तमें अच्युतभक्तिकी असाधारण सामग्री शास्त्रप्रतिपादित धर्म-कर्म ही अभीष्ट है। तदविरुद्ध अन्यान्य शास्त्रप्रसिद्ध सामग्रियाँ भी पूर्णरूपसे आदरणीय ही हैं। अच्युतका अच्युत तत्त्व अत्यन्त अपरिच्छिन्न और उदार है। उसमें 'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्' के अनुसार भेद एवं अभेद दोनोंके ही लिए स्थान है। तात्पर्य यह है कि वेदान्तशास्त्रके महातात्पर्यके विषयीभूत अच्युत तत्त्वकी व्यापकता, अनन्तता और परिपूर्णताको अक्षुण्ण रखते हुए यदि व्यवहारोपयुक्त भेदगर्भित भगवदनुरक्तिमें अपेक्षित भेद हो, तो वह भी अभेदसे कम आदरणीय नहीं है—

'पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे'* ।
'भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्'† ॥

वस्तुतः अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्तप्राणियोंकी विचित्र प्रकृतिके अनुसार अनादि परमेश्वरीय विज्ञानमय वेदादि सत् शास्त्रोंने अनेक मार्गोंका उपदेश किया है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे मार्ग अनियमित एवं शास्त्र-सीमाके बहिर्भूत उच्छृङ्खल एवं शास्त्रीय विषयोंसे अनियन्त्रित भी उपादेय हो सकते हों; किन्तु शास्त्रीय सीमाके अन्तर्गत शास्त्रीय विषयोंसे नियन्त्रित ही मार्गोंका अनेकत्व बुद्धिमानोंको सम्मत है। तदनुसार एक ही वेदान्त-वेद्य परिपूर्ण परम तत्त्व अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्तिसे अनेक उपास्य स्वरूपोंमें भी व्यक्त होता है अर्थात् शिव, विष्णु, गणपति, सूर्य और शक्ति उसीके रूप हैं।

उपासनानियमोंके अनुसार प्रायः भक्त लोग शिवको जीव विष्णुको ईश्वर एवं विष्णुको जीव और शिवको ईश्वर आदि कल्पनाओं द्वारा

---

* वास्तवमें अद्वैत ही है केवल भक्तिके लिए द्वैतकी कल्पना की जाती है।

† भक्तिके लिए कल्पित द्वैत अद्वैतसे भी अच्छा है।

परस्परानुरक्त तत्त्वोंका सम्मान या अपमान करते हैं। इतना ही नहीं, वरन् भगवान् विष्णुके ही स्वरूपोंमें कोई श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्रजीको परिपूर्ण परब्रह्म पदपर आसीन करते हैं और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दको अपकृष्ट समझते हैं। तथा कोई श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दको ही उत्कृष्टोत्कृष्ट पदपर आसीन करते हैं एवं श्रीमद्रामभद्रको अपकृष्ट समझते हैं।

'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'

भावनामय स्वरूपभेद अनुरक्तिदार्ढ्यके लिए अच्युतको भी अभीष्ट ही है। अच्युत केवल वस्तुभेदकी प्रतिपत्तिमें ही विप्रतिपत्ति या उसका खण्डन करता है। अर्थात् वस्तुस्वरूपके एक होते हुए भी भावनामय स्वरूपभेद और उनका तारतम्य भावुककी भावनाके अनुसार अयुक्त नहीं है। जैसा किसी भावुकने कहा है—

'महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे
जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे
तथाऽपि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे॥'*

'श्रीनाथे जानकीनाथे चाभेदो नास्ति कश्चन।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः†॥'

कहा कहूँ छवि आजकी, भले बने हो नाथ‡।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बाण लो हाथ॥
कित मुरली कित चन्द्रिका, कित गोपिनको साथ,
अपने जनके कारणे श्याम भये रघुनाथ॥

अच्युतका अच्युत अचिन्त्य अनन्तगुणगणनिलय होता हुआ भी गुणगण-कृत सौख्य, महत्त्व आदि निरपेक्ष हो पूर्ण, अनावृत, अनन्त, विज्ञानानन्द स्वरूप

---

* यद्यपि जगत्के स्वामी भगवान् महादेवजीमें और जगत्के अन्तर्यामी भगवान् विष्णुमें मेरी तनिक भी भेदबुद्धि नहीं है तथापि मेरी भक्ति भगवान् चन्द्रशेखरमें ही है।

† यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण एवं भगवान् रामचन्द्रजी में कुछ भी अन्तर नहीं है, तथापि मेरे सर्वस्व कमललोचन श्रीरामचन्द्र ही हैं।

‡ श्रीरामभद्र।

है। अतएव स्वभावसे जो निर्गुण है उसके स्वरूपभूत माधुर्यपर मुग्ध होकर तदाश्रित होनेमें ही गुण अपना परम सौभाग्य समझते हैं। अच्युतका अच्युत अनृत, जड़, दुःख और नानात्मक सविशेष प्रपञ्चका निदान होता हुआ भी परम सत्य, परम चैतन्य, परमानन्द एवं अद्वितीय परम निर्विशेष है। अच्युत एक विज्ञानमें सर्वविज्ञानकी श्रौती प्रतिज्ञाके अनुपचरितरूपसे समर्थनके लिए अचिन्त्य अनिर्वाच्य शक्तिसे युक्त अच्युतको ही प्रपञ्चका उपादान एवं निमित्त मानता है। विशेषण या नियम्य स्वतन्त्र सत्तावाले प्रकृति, परमाणु आदिकी कारणताका उपचारमात्र अनुमत नहीं है। जैसे वह्नि-शक्ति वह्नि-स्वरूप नहीं है, किन्तु वह्निसे विलक्षण है, वैसे ही सविशेष सद्रूप प्रपञ्चमूल निर्विशेषसत्की प्रपञ्चोत्पादनानुकूल सच्छक्ति भी सद्रूप नहीं है अर्थात् सत्के समान सत्तावाली नहीं है। अतएव सद्विलक्षण है। जैसे मृत्तिकासामान्य मृत्तिकाविशेष घट आदिका कारण है, वैसे ही सत्सामान्य सद्विशेष प्रपञ्चका निदान है। कार्यकी सविशेषता, जड़ता और दुःखात्मता अच्युतकी स्वभावभूत निर्विशेषता और परमचैतन्यानन्दस्वरूपताको प्रच्युत करनेमें समर्थ नहीं हैं। प्रत्युत परमकारणभूत अच्युतकी ओर अग्रसर होते ही स्वयं अस्तंगत हो जाती हैं। कार्यकारणका वैलक्षण्य लोकमें दृष्ट है। अचेतन गोमय आदिसे चेतन वृश्चिक आदिकी सृष्टि होती है और चेतन शरीरसे अचेतन नख, लोम आदिकी सृष्टि देखी जाती है। अतएव परमसत्य, चैतन्य, आनन्द, निर्विशेष अच्युतसे अनृत, जड़, दुःखात्मक, सविशेष प्रच्युतस्वभाव जगत्की उत्पत्तिमें कोई बाधा नहीं है। अतएव एतादृश प्रपञ्च अच्युतसे उत्पन्न होकर भी अच्युतकी कूटस्थता, निर्विकारता और अनन्तताको प्रच्युत करनेमें समर्थ नहीं है। अतः अच्युतका अच्युतत्व सर्वथा ही अच्युत रहता है। समान सत्तावाले भाव एवं अभावका ही पारस्परिक विरोध होता है। विषम सत्तावालेका नहीं होता। अतएव व्यावहारिक, प्रापञ्चिक सद्वितीयता और अपारमार्थिकता अच्युतकी पारमार्थिकता और अद्वितीयताको प्रच्युत करनेमें समर्थ नहीं है। अच्युतके अच्युतका सत्यत्व घटादिके सत्यत्वके समान ही नहीं, प्रत्युत अच्युतका अच्युत सत्योंका भी सत्य है। जैसे 'राजराजः' इत्यादि स्थलोंमें प्राथमिक षष्ठ्यन्त राजपदवाच्यकी अपेक्षा तदुत्तरभावी प्रथमान्त राजपदवाच्यका उत्कर्ष होता है अर्थात् आपेक्षिक प्रजाओंकी अपेक्षा यत्किञ्चित् ऐश्वर्यशाली व्यक्तिविशेष राजपदवाच्य होता हुआ भी पूर्ण ऐश्वर्यशाली सम्राट् या राजराजकी अपेक्षा प्रजा ही होता है, वैसे ही शुक्तिरूप्य,

रज्जुसर्प आदि प्रातिभासिक असत्य पदार्थोंकी अपेक्षा सत्य भी आकाशादि सत्यके सत्यभूत सर्वथा अबाध्य परिपूर्ण परब्रह्मकी अपेक्षा असत्य ही हैं। अर्थात् जैसे कि जीव और जगत् स्वरूपकी अपेक्षा परमात्मस्वरूपका वैलक्षण्य सर्ववादिसम्मत है।

अच्युतके सिद्धान्तमें जगदादिके सत्यत्वकी अपेक्षा परमात्मस्वरूपके सत्यत्वमें भी वैलक्षण्य है। अच्युतके सिद्धान्तमें अच्युतके अंशभूत जीव अच्युत ही हैं। अच्युतस्वरूप जीवोंको अच्युतसे च्युत करनेवाला जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिका कार्य-कारणरूप प्रपञ्च ही है। इन कार्यकारणात्मक उपाधियोंके साथ तादात्म्याध्याससे ही अच्युतांशभूत जीवोंका अच्युत भी अनन्तचैतन्यानन्दस्वरूप प्रच्युत-सा प्रतीत होता है। अच्युतकी अच्युत स्मृतिसे प्राप्त अच्युतकी अच्युत प्रसन्नतासे विघ्न-समूहभूत जाग्रदादि प्रपञ्चका विलयन होता है। तदनन्तर स्वरूपभूत जाग्रदादिकल्पनातीत अनन्तस्वरूपके साथ अनन्तकालके लिए तादात्म्यापन्न होकर अच्युतांशभूत जीव अच्युत ही हो जाता है।

इस तरह अच्युतकी असीम अनुकम्पासे अच्युत-सम्बन्धी सभी पदार्थ अच्युत ही हैं। अच्युतके मूल भी

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' *

इत्यादि स्मृतिके अनुसार अच्युत वेद, तन्मूलक स्मृति, इतिहास, पुराण आदि सत् शास्त्र ही हैं। सत्शास्त्रप्रतिपादित अच्युतादरणीय समस्त साधनकलाप भी अच्युत फलके साथ अव्यभिचरित सम्बन्धवाले होनेके कारण अच्युत ही हैं और अच्युतमें ही अच्युतका परम तात्पर्य है।

इस प्रकार स्वरूप, साधन, साध्य और स्मृति विषय—ये सभी अच्युत स्वरूप हैं। इसी वास्ते अच्युतका अच्युतत्व सर्वथा अव्याहत है। वास्तवमें अच्युतसे अतिरिक्तकी अच्युतप्राप्ति सम्भावित भी नहीं है। कारण कि अन्यका अन्यभाव या स्वरूपनाश दार्शनिकोंकी दृष्टिमें एक ही बात है। अतएव जीव अच्युतका अंश होकर भी यदि अच्युत स्वरूप न हो तो उसका औपचारिक भी अंशांशिभाव उपपन्न नहीं हो सकता, कारण कि अनन्त, कूटस्थ, निर्विकार अच्युत तत्त्वमें कला या खण्डरूप अंश अत्यन्त ही असम्भावित है। औपाधिक घटाकाशादिवत् औपाधिक ही अंशांशिभाव हो सकता है। अतएव आकर्षण या

* भगवान् ब्रह्माजीने आदि और अन्तरहित नित्य वाणीका उपदेश किया।

प्रीति भी सजातीयमें उपपन्न हो सकती है। अत्यन्त विजातीयमें यह सर्वथा असम्भावित है। इसीलिए अच्युतकी बहिरङ्गता, सोपाधिक और सातिशय प्रेमास्पदता, अनात्मता आदिके भयसे अत्यन्त अन्तरङ्ग, स्वयंप्रकाश एवं निरतिशय और निरुपाधिक प्रेमास्पदभूत प्रत्यगात्माके साथ अभेद द्वारा अच्युत अच्युतकी अन्तरतमता, स्वयंप्रकाशता और निरुपाधिक तथा निरतिशय प्रेमास्पदताके प्रख्यापनका प्रयत्न करता है। तात्पर्य यह है कि भगवती श्रुतिने अच्युतको सर्वावभासक बतलाया है। अच्युतके भानके अनन्तर ही अच्युतभास्य भावोंका भान अभिज्ञसम्मत है—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्'। परन्तु यदि अच्युत पराक्तत्त्व है, तो उसकी स्वयंप्रकाशता असिद्ध एवं असम्भावित है। हाँ, यदि अच्युत सर्वदृश्यावभासक, सर्वान्तरतम और प्रत्यगात्मरूप ही है, तो उसकी स्वयंप्रकाशता सम्भावित एवं प्रसिद्ध ही है। अतएव भगवती श्रुति प्रसिद्ध विज्ञातृस्वरूपसे ही अच्युततत्त्वका निर्देश कर कहती है—

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'

अतएव अच्युतके सिद्धान्तमें अच्युत अच्युतस्वभाव प्रत्यगात्माका, परम अन्तरङ्ग वास्तविक स्वरूप ही होनेसे, निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेमका आस्पद है। एवं उसके नित्यसिद्ध तादात्म्यरूप सम्प्रयोगमें उपद्रवरूप जाग्रदादि द्वैतदर्शन ही हैं। जाग्रदादि द्वैतदर्शनरूप उपद्रव या विघ्नोंसे अच्युतके अच्युत-तादात्म्यसम्प्रयोगका तिरोभाव ही अच्युतांशभूत जीवोंके लिए अनन्त दुःख एवं नाश है।

'प्रिय-वियोग सम जग दुख नाहीं'

अतः जाग्रदादि द्वैतदर्शन ही अच्युत-स्वभावके निराकरणका मूल कारण है। अच्युतस्वरूपका साक्षात्कार जाग्रदादि द्वैतदर्शनके निराकरणका निदान है। जाग्रदादि द्वैतदर्शनका निराकरण कर अच्युतांशभूत जीवोंका अपने प्रियतम परमप्रेमास्पद विज्ञानानन्दघन अच्युततत्त्वके साथ अच्युततादात्म्यरूप सम्प्रयोगसम्पत्ति ही परम पुरुषार्थ है। उसीके सम्पादनमें अच्युतका महातात्पर्य है। यही अच्युतका अच्युतत्व है।



परम सुखी होनेका उपाय

[लेखक—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी महाराज]

काशीवासी विश्वनाथकी जिसके ऊपर कृपा होती है, उसीको अपना कल्याण करनेकी इच्छा होती है, यानी संसाररूप महादुःखसागरसे छूट कर स्व-साम्राज्य कैवल्यपद प्राप्त करनेका विचार होता है, इतना ही नहीं, धन, धाम, ऐश्वर्य, सुत, दार, विद्या आदिकी प्राप्ति भी शशिशेखरके अनुग्रहसे ही होती है।

शिवशङ्कर और प्रभाशङ्कर दो युवक एक-साथ एक ही कालेजमें, एक ही कक्षामें पढ़ते थे और परस्पर गाढ़े मित्र थे। दोनों ही कुलीन और लौकिक संपत्तिसे संपन्न थे। कालेजसे निकलनेके बाद कई वर्ष तक दोनों मित्रोंका वियोग रहा, मिल न सके, क्योंकि प्राणियोंका संयोग-वियोग भी गङ्गाधर महादेवके अधीन है। बहुत दिनोंके बाद एक बगीचेमें दोनोंका सम्मेलन हुआ। दोनोंने परस्पर गले मिलकर आलिङ्गन किया और जैसे श्रीकृष्ण और सुदामाजीने बहुत दिन पीछे मिलनेके कारण प्रेमके आंसु बहाये थे, इसी प्रकार दोनोंने बड़ी देर तक प्रेमाश्रु बहाये। पीछे एकान्त स्थानमें बैठ कर दोनों मित्र इस प्रकार बात-चीत करने लगे—

प्रभाशङ्कर—भाई! जैसा मैंने आपको कालेजमें देखा था, वैसा ही अब भी देखता हूँ। किसी प्रकारका आपमें परिवर्तन नहीं हुआ, यानी जैसे आप पहले हृष्ट-पुष्ट थे, वैसे ही अब हैं। शरीरकी कान्ति और मुखका तेज तो पहलेसे भी अधिक है। आपका मुख देखनेसे आपकी भीतरी शान्तिका अनुमान होता है। आप बहुत ही शान्त मालूम होते हैं। क्या आपने ध्यान-समाधि सिद्ध कर ली है या भगवान्के पावन चरित्रोंका आपने पठन-पाठन किया है अथवा शम, दम आदि अन्य साधन किये हैं? किसी साधनके विना तो ऐसी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जब आप बोलते हैं, तब फूलोंकी झड़ी-सी लग जाती है, चेहरा कुंदन-सा चमकता है, आंखें प्रेमरससे पूर्ण हैं, फिर भी उनकी तरफ मैं देख नहीं सकता। पहले तो आप ऐसे नहीं थे। थोड़े ही दिनोंमें आपका कायापलट कैसे हो गया? क्या कोई कल्प तो आपने नहीं किया है? मेरे पास भी आशुतोष महादेवके अनुग्रहसे धन, धाम आदि समग्र सांसारिक सुखकी सामग्री मौजूद है, फिर भी मुझे शान्ति नहीं है। यद्यपि ऊपरसे हृष्ट-पुष्ट दिखायी देता हूँ, परन्तु पूर्वका-सा सामर्थ्य मुझमें नहीं है, पूर्वकी अपेक्षा ऊपरसे भी कुछ-

न-कुछ न्यूनता ही है। क्या आपको बहुत-सा धन तो कहींसे नहीं मिल गया है? नहीं, नहीं, धनसे ऐसी शान्ति नहीं हो सकती, धनसे शान्ति होती तो मुझे भी होती, धनकी मेरे पास कमी नहीं है, परन्तु मुझे किञ्चित् भी शान्ति नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि धनसे आपमें ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता, कोई अपूर्व वस्तु ही आपको प्राप्त हो गई है, ऐसा अनुमान होता है। वह वस्तु मुझे भी, यदि मैं उसके पानेका अधिकारी होऊँ, तो बतलाइए और मुझे भी अपने समान सुखी और शान्त बनाइए।

शिवशङ्कर—(प्रसन्न होकर) मित्र! यद्यपि आप मुझे पहलेसे ही प्यारे हैं, तथापि आपके इस प्रश्नसे आप मेरे और भी परम प्रिय हो गये हैं। जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है, जिसके कारण मुझे अपूर्व शान्ति प्राप्त हुई है, वह वस्तु मैं आपको अवश्य ही बतलाऊँगा। सुनिए, न तो मैंने ध्यान-समाधि सिद्ध की है और न जप, तप, शम, दम आदि साधनोंका अभ्यास ही किया है। साधनोंके अभ्याससे कुछ मिलता भी नहीं है, जो कुछ मिलता है, वह वृषभध्वज उमानाथकी कृपासे ही मिलता है, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है। धन मेरे पास पहलेसे है ही, यह आपसे भी छुपा नहीं है। भूमादेवने मुझे भूमिके कई ग्राम दे रक्खे हैं, उनकी आमदनी पर्याप्त है। मैंने अपने ग्रामसे बाहर एक मैदानमें चार कुटियाँ बना रक्खी हैं, पाँच चार सन्त महात्मा उनमें प्रायः नित्य ही रहा करते हैं। दो चले जाते हैं, तो दो और आ जाते हैं। इस प्रकार चार पाँच नित्य बने ही रहते हैं। उनकी मैं यथाशक्ति सेवा करता रहता हूँ, उनका सत्संग करता हूँ और उनके मुखसे वेदान्तका श्रवण किया करता हूँ। स्वयं भी वेदान्तग्रन्थोंका अवलोकन करता रहता हूँ, इसीसे मुझे परम शान्ति प्राप्त हुई है।

प्रभाशङ्कर—मित्र! क्या वेदान्तके श्रवणमात्रसे ही आपको शान्ति प्राप्त हो गई है? सुना है कि श्रवणमात्रसे आत्माका साक्षात्कार नहीं होता, श्रवण किये गये तत्त्वका मनन करना पड़ता है, मनन किये गयेका निदिध्यासन करना पड़ता है। चिरकाल तक निदिध्यासन करनेसे विपरीत भावनाके निवृत्त होनेपर आत्मसाक्षात्कार होता है, नहीं तो आत्माका साक्षात्कार नहीं होता। आपको वेदान्तके श्रवणमात्रसे शान्ति कैसे प्राप्त हो गई? और आपके मुखसे, वचनसे और चेष्टासे शान्ति झलक रही है। इसलिए आपको शान्ति तो अवश्य ही प्राप्त है, इसमें संदेह नहीं है। क्या यह केवल श्रवणसे ही हो गई?

शिवशङ्कर—भाई ! जिसका मन शुद्ध होता है, उसको श्रवणमात्रसे ही तत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है, अशुद्ध मनवालेको श्रवणमात्रसे ज्ञान नहीं होता, किन्तु उसे चिरकाल तक मनन और निदिध्यासन करना पड़ता है। बात यह है कि गुरुमुखसे महावाक्योंके तात्पर्यका निश्चय करना श्रवण है, श्रवण किये गये तत्त्वको समझना मनन है और मनन किये गयेका ध्यान करना निदिध्यासन है। शुद्ध मनवाला ये तीनों एक-साथ ही कर सकता है, अशुद्ध मनवाला एक-साथ नहीं कर सकता, उसको तीनों क्रमसे करने पड़ते हैं। इसमें राजा अलर्कका दृष्टान्त प्रमाणरूप है।

रानी मदालसाके पाँच पुत्र थे। उनमें अलर्क सबसे छोटा था। अलर्कके चारों बड़े भाई तो होश सँभालते ही माता-पिताकी आज्ञा लेकर राजपाटपर लात मार कर वनको चले गये थे। अलर्कको उसके माता-पिताने राज्य करनेके लिए रोक लिया था, क्योंकि प्रजाका पालन करना ही राजाका परम धर्म है। माता-पिताके वनमें चले जानेपर अलर्क काशीका राज्य करने लगा। एक दिन उसके भाई अपने मनमें विचार करने लगे—

हम सब तो दुःखके आगार जगत्को छोड़कर नित्य निरन्तर ब्रह्मका अनुसंधान करते हुए सर्वदा ब्रह्मानन्दमें मग्न रहकर जीवन्मुक्तिके सुखका आनन्द लेते हैं, देह-त्यागके पश्चात् कैवल्य स्वराज्यको अवश्य ही प्राप्त हो जायेंगे, परन्तु हमारा छोटा भाई संसार दल-दलमें फँस गया है, जीवन्मुक्तिका सुख तो उसको होगा ही नहीं, आत्मज्ञान भी उसे है या नहीं, इसकी परीक्षा करनी चाहिए। यदि न हो, तो उसे मृत्युके भयसे निर्भयकर देना हमारा कर्तव्य है। ब्रह्मवेत्ताके कुलमें कोई अब्रह्मवित् नहीं होता, ऐसा वृद्ध पुरुषोंका मत है। इसलिए आत्मज्ञानका उपदेश देकर हमें उसको राजपाटसे विमुख करके मोक्षकी ओर प्रवृत्त कर देना चाहिए।

ऐसा विचार कर अन्य राजाओंसे सेना माँगकर अथवा अपने योगबलसे ही मायिक सेना रचकर चारों भाइयोंने चारों तरफसे चढ़ाई करके काशीपुरीको घेर लिया। यह समाचार सुनकर अलर्क घबराया, मंत्री आदिसे सम्मति ली, तो किसी प्रकारका निश्चय न कर सका। रानी मदालसा एक पत्र अलर्कको दे गई थी और कह गई थी कि जब कोई महासंकट आवे, तब इस पत्रको खोलना, नहीं तो भुजामें बाँधे रहना। अलर्कने उस पत्रको खोलकर देखा, तो

उसमें लिखा हुआ था—'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमायापरिवर्जितोऽसि'। उसको पढ़ते ही अपने पूर्वसंस्कारोंके बलसे अथवा तत्त्वदर्शी माता-पिताके रजवीर्यके प्रभावसे, जैसे अष्टावक्र गुरुको तन, मन, धन दक्षिणामें दे देनेके बाद विदेहराजका मन विरुद्ध होकर ब्रह्माकार हो गया था, वैसे ही अलर्कका मन अमन हो गया और 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इस न्यायके अनुसार वह स्वस्वरूप ब्रह्ममें स्थित हो गया। उसने अपनेको सर्वत्र परिपूर्ण शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन पाया। उसका देहादिका अध्यास निवृत्त हो गया और उसने चारों भाइयोंको इस प्रकार पत्र लिखा—

हे राजाओ, हे शूरवीरो, प्रजाका रञ्जन करनेवालेको विद्वान् राजा कहते हैं तथा काम, क्रोध आदि शत्रुओंका वेग जिसके धैर्यको न डिगा सके, उसको वेदवेत्ता शूरवीर कहते हैं। यदि आपने प्रजाका रञ्जन करनेके लिए काशीपुरीपर चढ़ाई की है, तो आपका भला हो, आ जाइए, राज्य आपका है, प्रजाका पालन कीजिये और मुझे वन जानेकी आज्ञा दीजिये। वनमें जाकर मैं आत्मानुसन्धान करता हुआ आपके अनुग्रहसे अपने सनातनस्वराज्यपद विदेह-कैवल्यको प्राप्त हो जाऊँगा। आप मेरे गुरु हैं, मैं आपका शिष्य हूँ। मनसे, धनसे और कायासे आपका शिष्य हूँ। राज्यके भारसे मुक्त हो जाना और ईश्वरानुसन्धानमें संलग्न होना, मुझे आपकी कृपासे ही प्राप्त हुआ है, इसलिए आप मुझे अपनी आत्मा कैलासपति उमानाथसे भी अधिक प्यारे हैं। आपको करोड़ों बार नमस्कार हैं। यदि आपने युद्ध करनेके अभिप्रायसे मेरे ऊपर आक्रमण किया है, तो मैं समझता हूँ कि आप मुझे देहरूप बन्धनसे छुड़ानेके लिए, कैवल्यपद प्राप्त करानेके लिए अथवा लोकमें यश प्राप्त करानेके लिए आये हैं, इसलिए आप तलवार लेकर चारों एक साथ अथवा एक-एक करके मैदानमें मेरे सम्मुख आ जाइए। मनुष्य-शरीर यद्यपि दुर्लभ है, फिर भी मेरा प्रयोजन उससे सिद्ध हो गया है, मुझे उसमें आसक्ति नहीं है। यह क्षत्रियका शरीर है, यदि युद्धमें काम आ जाय, तो अति उत्तम है। दान देना क्षत्रियका परम धर्म है, हमारे पूर्वजोंने युद्धदान देनेमें कभी संकोच नहीं किया है, इसलिए आप यदि युद्ध मांगते हैं तो मैं सब प्रकारसे तैयार हूँ। क्षणभङ्गुर शरीरके सुखके लिए, राज्य पानेके लिए प्राणियोंकी हिंसा करना मैं राजाका धर्म नहीं समझता। हाँ, अपने धर्मकी रक्षा करनेके लिए अपने प्राण दे सकता हूँ।

छोटे भाईका धीरता, वीरता और उदारताका प्रकाशक पत्र पढ़कर चारों भाई बहुत ही प्रसन्न हुए। सबने आकर छोटे भाईको गले लगाया और इस प्रकार आशीर्वाद देकर अपने अपने स्थानको लौट गये। आशीर्वादके वचन ये हैं—हे सहोदर! तेरी परीक्षा लेनेके लिए हमने तेरे ऊपर चढ़ाई की थी, तू ज्ञान, विराग और ईश्वरभक्तिसे युक्त है। राज्य करनेके योग्य है। तेरे शुद्ध विचार देखकर हम चारोंको बहुत ही संतोष हुआ है। तेरी बुद्धि इसी प्रकारकी सर्वदा शुद्ध बनी रहे। तुच्छ राज्यपाटका लोभ तेरे मनमें न आवे। अपने कर्तव्यको न भूलकर तू सदा अपनी आत्मा शम्भुका अनुसंधान करता हुआ प्रजाका रञ्जन करे। मृत्युलोकमें सब मनुष्य रोते हुए आते हैं, रोते हुए ही चले जाते हैं। कोई विरला माईका लाल ही यहां अपना यश फैलाकर हँसता हुआ कैलाशपतिके परमधामको चला जाता है, जहांसे फिर यहां लौटकर नहीं आता, वही धन्य है, उसीका जन्म सफल है, तू भी ऐसा ही हो, ऐसा ही हो। इति शम्।

ऐसा उपदेश और आशीर्वाद देकर चारों भाई अलर्ककी बुद्धिकी प्रशंसा करते हुए विचरने लगे और अलर्क राज-काज करने लगा। अन्तमें वनमें जाकर आत्मानुसंधान करते हुए उसने देहका त्याग किया।

अब आपकी समझमें आ गया होगा कि वेदान्तश्रवणमात्रसे किसी किसी विलक्षण बुद्धिवालेको ब्रह्मात्माका साक्षात्कार हो जाता है, जिसकी ऐसी विशुद्ध बुद्धि नहीं होती, उसको श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करनेसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है, इसमें भी मनन और निदिध्यासनका कारण होनेसे वेदान्त-श्रवण ही मुख्य है।

प्रभाशङ्कर—कोई कोई सन्त महात्मा गोविन्द गुणगानको ही श्रेयका परम साधन बताते हैं, आपका कथन उससे विरुद्ध है, इसका समाधान मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ।

शिवशङ्कर—भाई इसमें शब्दोंका ही भेद है, अर्थका भेद नहीं है, जो गोविन्दगुणगान है, वही वेदान्तश्रवण है और जो वेदान्तश्रवण है, वही गोविन्दगुणगान है। गोविन्दशब्दमें गो और विन्द दो पद हैं। गो नाम इन्द्रियोंका है और विन्द नाम प्राप्त होनेका है, जो इन्द्रियोंको प्राप्त हो गया हो, उसका नाम गोविन्द है। इस व्युत्पत्तिसे गोविन्द नाम सगुण ब्रह्मका है। श्रुतिका नाम भी गो है, जो श्रुतिके सिवा अन्य किसी प्रमाणसे प्राप्त न हो यानी श्रुतिसे ही जाना जाय, उसका नाम गोविन्द है। इस व्युत्पत्तिसे

निर्विशेष ब्रह्मका नाम गोविन्द है। गोविन्दगुणगानमें गानपद चिन्तन और धारणका भी उपलक्षण है, इसलिए गोविन्दगुणगान करना, चिन्तन करना और धारण करना श्रेयका मार्ग है, यह इस वाक्यका अर्थ हुआ। गोविन्द सविशेष और निर्विशेष ब्रह्मका नाम है, यह ऊपर कहा ही गया है। वेदान्तमें भी इन शब्दोंका श्रवण कराया जाता है, श्रवण और गान दोनों वाणीके व्यापार होनेसे एक ही हैं, चिन्तन और मनन दोनों पर्याय हैं एवं धारण और निदिध्यासन भी पर्याय हैं, इसलिए गोविन्दगुणगान और वेदान्तश्रवण दोनोंका एक ही अर्थ है, दोनोंमें भेद नहीं है। इस वेदान्तश्रवणसे ही मुझे परम शान्ति प्राप्त हुई है। यदि आपको सर्वदाके लिए सुखी और स्वतन्त्र होनेकी इच्छा है, तो नित्य निरन्तर वेदान्तका श्रवण किया कीजिये। परम शान्ति प्राप्त करानेवाला यही उपाय है, ऐसा मेरा अनुभव है और शुकादि अन्य महात्माओंका भी ऐसा ही मत है।

प्रभाशङ्कर अपने मित्रके कथनानुसार वेदान्तश्रवणमें तत्पर हो गया और धीरे धीरे शान्तिको प्राप्त होता हुआ अन्तमें सुखरूप सदाशिव अपनी आत्माका साक्षात्कार करके परम सुखी हो गया।

वेदान्तश्रवण देहाध्यासका मिटानेवाला, चिद्-जड़ग्रन्थिका खोलनेवाला, आत्मा और अनात्माका विवेक करानेवाला, परम शान्ति देनेवाला और नरको नारायण बनानेवाला है, इसमें किञ्चित् भी संशय नहीं है, क्योंकि यह बात श्रुति, स्मृति, युक्ति और विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध है। फिर भी 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' इस न्यायके अनुसार वेदान्तका श्रवण-श्रावण अनेक जन्मोंके पुण्य और अन्तर्यामी काशीश्वरकी कृपाके बिना नहीं होता। यदि कोई कहे कि वाल्मीकि, वसिष्ठ, व्यास आदि महात्माओ द्वारा मुमुक्षुओंके हितके लिए रचे गये बहुतसे ग्रन्थ हैं, तब यह कहना असंगत ही है कि वेदान्तश्रवण दुःसाध्य है, तो यह कथन यद्यपि ठीक है, फिर भी ये ग्रन्थ संस्कृत वाणीमें होनेसे अत्यन्त क्लिष्ट हैं, विद्वानोंके समझाये बिना साधारण पुरुषोंकी समझमें नहीं आ सकते। सन्त महात्मा प्रायः एकान्तमें वास करते हैं, कहीं कोई एकाध महात्मा ही वेदान्तका प्रवचन करते हुए दिखाई देते हैं। वेदान्तको सरल भाषामें समझानेवाला 'वेदान्तकेसरी' के सिवा दूसरा पत्र नहीं है। यह पत्र भी कलेवरमें बहुत छोटा है, ऐसा देखकर 'अच्युत' नामक पत्रके संरक्षकोंने बड़े कलेवरमें वेदान्तके गूढ़ रहस्यको सरल रीतिसे समझानेका बीड़ा उठाया है। गंगाधर काशीपति उमानाथ सदाशिवकी ही ऐसी प्रेरणा हुई

है कि 'अच्युत' वेदान्तके गूढ़ रहस्यका प्रचार करे। यह पत्र प्रसिद्ध महात्मा गंगातीरवासी अच्युत मुनिके स्मारकरूपमें प्रकाशित हुआ है और अच्युत भगवान्‌के तत्त्वका ही विवेचन करना इसका मुख्य उद्देश है, इसलिए इसका नाम 'अच्युत' है। आशा है कि यह पत्र अपना उद्देश्य पूरा करनेमें सफलता प्राप्त करेगा और भारतवासी श्रेयकाङ्क्षी इससे लाभ उठाकर परम पुरुषार्थ सिद्ध करेंगे। ॐ तत्सत्।

'अच्युत' पढ़िये प्रेमसे, समता मनमें आय।
अच्युत शंकर दर्श दें, शोक मोह भय जाय॥
शोक मोह भय जाय, मृत्युसे हो छुटकारा।
माया मायाकार्य, विलय हो जावे सारा॥
भोला! पढ़ वेदान्त, स्वाद आवेगा अद्भुत।
तज दे सब व्यापार, शम्भु भज चिन्मय अच्युत॥

—*—

प्रार्थना

[रचयिता—सेठ कन्हैयालालजी गोयनका 'दासहरि']

अबकी नाथ लेहु निभाय।
यदपि हौं कामी कुटिल पै नाथ सरल सुभाय।
नीच हौं अति पतित परनिन्दकरु अघी अघाय॥
खान सब दुरगुननकी हौं अघहु गये हराय।
नाहिं तन-धन-बुद्धि-बल मोहि नाहिं कोऊ सहाय॥
राखि लेहु निरावलम्बहिं युगल करन बढ़ाय,
साँच हियकी कहौं हरि जो देहु तुम बिसराय।
तौ न फिर तिहुँ लोकमें कोउ मोहिं जो अपनाय,
'दास हरी' निज विरदकी प्रभु लाज राखहु धाय।
कहुँ कलंक न पतितपावन नाममें लगि जाय॥



भगवान् श्रीशङ्कराचार्य

*(लेखक—महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराजजी एम्० ए०,
प्रिन्सिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस)*

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनको उपदेश देनेके बहाने श्रीमुखसे यह प्रतिपादन किया है कि जब-जब देशमें धर्मका ह्रास और अधर्मकी अभिवृद्धि होती है एवं जब-जब किसी भी कारणसे धर्मराज्यमें उच्छृङ्खलता तथा वैषम्य आदिका आविर्भाव होता है तब-तब मैं अपनी मायाका अवलम्बन कर धर्मसंस्थापनके लिए जगत्में आविर्भूत होता हूँ* । जन्ममृत्युरहित प्राकृतसम्बन्ध-विवर्जित सर्वभूतोंके अन्तर्यामी परमात्मा केवल जगत्के कल्याणके लिए देश तथा कालके उपयोगी शरीरको धारण करते हैं, क्योंकि स्थूल जगत्में स्थूलभावसे कार्य करनेके लिए स्थूल रूपका परिग्रह आवश्यक होता है। अनन्त शक्तियोंके परमाश्रयस्वरूप परमेश्वर प्रयोजनके अनुसार तत्-तत् शक्तियोंको अभिव्यक्त करनेके लिए स्वेच्छासे तद्‌योग्य शरीरका ग्रहण किया करते हैं।

जिस समय भगवान् श्रीशङ्कराचार्य आविर्भूत हुए थे उस समय देशमें सद्धर्मका अनुष्ठान प्रायः लुप्त हो गया था । केवल इतना ही नहीं, उसका स्वरूपज्ञान भी उच्चकोटिके इने-गिने महापुरुषोंमें ही सीमित रह गया था। परमात्माकी ज्ञानशक्तिने ही उस अज्ञानप्रधान समयमें श्रीशङ्कराचार्यके रूपमें प्रकट होकर देशव्यापक अज्ञानान्धकारको दूर कर देशके एक कोनेसे दूसरे कोने तक वैदिक धर्म-कर्मका एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर दिया था। 'शङ्करः शङ्करः साक्षात्' इत्यादि वचनोंके अनुसार शङ्कराचार्य लोकगुरु भगवान् शङ्करके अवतार थे, यह सर्वत्र प्रसिद्ध ही है† ।

---

* यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

† कलौ रुद्रो महादेवो लोकानामीश्वरः परः ।
तदेव साधयेन्नॄणां देवतानाञ्च दैवतम् ॥
करिष्यत्यवताराणि शङ्करो नीललोहितः ।
श्रौतस्मार्तप्रतिष्ठार्थं भक्तानां हितकाम्यया ॥

कुछ लोगोंको यह सन्देह हो सकता है कि भगवान् शङ्कराचार्यने आविर्भूत होकर ऐसा कौन-सा अभिनव सिद्धान्त प्रकट किया या धर्मका प्रचार किया जिससे यह प्रतीत हो सके कि उन्होंने जगत्का अवतारोचित अभूतपूर्व तथा लोकोत्तर कल्याण किया था ? वस्तुतः अद्वैतवाद अनादिकालसे ही तत्-तत् अधिकारियोंके अन्दर प्रसिद्ध था। उन्होंने प्रस्थानत्रयपर भाष्यका निर्माण कर अथवा अपने और किसी व्यापारसे कौन-सा विशेष कार्य सिद्ध किया ?

इस शङ्काका समाधान यह है कि यद्यपि अधिकारके भेदके अनुसार अद्वैत, द्वैत आदि मत अनादिकालसे ही प्रसिद्ध हैं, तथापि विशुद्ध ब्रह्माद्वैतवाद अवैदिक दार्शनिक सम्प्रदायके आविर्भावसे एक प्रकार लुप्त-सा हो गया था। योगाचार तथा माध्यमिक सम्प्रदायमें एवं किसी-किसी तान्त्रिक सम्प्रदायमें अद्वैतवादके नामसे जिस सिद्धान्तका प्रचार हुआ था वह विशुद्ध औपनिषद ब्रह्मवादसे अत्यन्त भिन्न है। वैदिक धर्मके प्रचार तथा प्रभावके मन्द हो जानेसे समाज प्रायः श्रुतिसम्मत विशुद्ध ब्रह्मवादको भूलकर अवैदिक सम्प्रदायों द्वारा प्रचारित अद्वैतवादका ग्रहण करने लगा था। हीनयान तथा महायानके अन्तर्भूत अष्टादश सम्प्रदाय ; शैव, पाशुपत, कापालिक, कालमुख प्रभृति माहेश्वरसम्प्रदाय; पाञ्चरात्र, भागवत प्रभृति वैष्णवसम्प्रदाय तथा गाणपत्य, सौर प्रभृति विभिन्न धर्मसम्प्रदाय भारतवर्षके विभिन्न देशोंमें फैल गये थे। स्थानविशेषमें आर्हत सम्प्रदायका

उपदेक्ष्यति तज्ज्ञानं शिष्याणां ब्रह्मसंज्ञितम् ।
सर्ववेदान्तसारं हि धर्मान् वेदनिदर्शितान् ॥
सर्ववर्णान् समुद्दिश्य स्वधर्मा ये निदर्शिताः ।
ये तं प्रीता निषेवन्ते येन केनोपचारतः ॥
विजित्य कलिजान् दोषान् यान्ति ते परमं पदम् ।
(कूर्मपुराण अ० ३० श्लोक ३२-३६)

चतुर्भिः सह शिष्यैस्तु शङ्करोऽवतरिष्यति ।
व्याकुर्वन् व्याससूत्राणि श्रुतेरर्थं यथोचिवान् ॥
स एवार्थः श्रुतेर्ग्राह्यः शङ्करः सविता न ना ।
(शि० पुराण)

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले ।
स एव शङ्कराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः ।

प्रभाव भी कम न था। देशके खण्ड-खण्डमें विभक्त होनेके कारण तथा मनुष्योंकी रुचि और प्रवृत्तिमें विकार आ जानेके कारण श्रौतधर्मनिष्ठ एवं श्रौतधर्मसंरक्षक सार्वभौम चक्रवर्ती राजा भी कोई नहीं रह गया था, जिसके प्रभाव तथा आदर्शसे जनसमुदाय शुद्ध धर्मके अनुष्ठानमें प्रवृत्त हो सकता।

ऐसी परिस्थितिमें वैदिक साधनाके परम लक्ष्य विशुद्ध ब्रह्मतत्त्वविज्ञानका म्लान हो जाना असम्भव न था। योगाचार्यसम्मत विशुद्ध विज्ञानसन्तति निर्विशेष चिदानन्दघन ब्रह्मतत्त्वकी स्थानापन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि विज्ञान-वादीका विज्ञान परमार्थतः क्षणिक है और सन्तान कल्पित है। एवं शून्यवादीका शून्य मिथ्याभूत संसारका अधिष्ठान न होनेके कारण अव्यभिचारी सत्यस्वरूप ब्रह्मतत्त्वका स्थानापन्न नहीं हो सकता। तत्काल प्रचलित अद्वैतवादोंके समर्थक तथा प्रचारकगण विशुद्ध अद्वैतवादको कलङ्कित करके अपने-अपने संस्कार, रुचि तथा सम्प्रदायगत वैशिष्ट्यके पोषणमें बद्धपरिकर थे। भगवान् शङ्कराचार्यने अपने ग्रन्थोंमें वेदानुमत निर्विशेष अद्वैत वस्तुका शास्त्र तथा युक्तिके बलसे दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन कर केवल विविध द्वैतवादोंका ही नहीं, परन्तु भ्रान्त अद्वैत-वादका भी खण्डन ही किया है। शुद्ध वैदिक ज्ञानमार्गका अन्वेषण करनेवाले विरक्त, जिज्ञासु मुमुक्षु पुरुषोंके लिए यही सर्वप्रधान उपकार माना जा सकता है, क्योंकि भगवान् शङ्कर जैसे लोकोत्तर धीशक्तिसम्पन्न पुरुषको छोड़कर दूसरे किसीके लिए नागार्जुन, दिङ्नाग, असङ्ग वसुबन्धु और धर्मकीर्ति जैसे दार्शनिकोंके युक्तिजालका खण्डन करना सरल नहीं था। केवल इतना ही नहीं, अद्वैतसिद्धान्तका अपरोक्षतया स्वानुभव करके जगत्में उसके प्रचारके लिए तत्-तत् देश और कालके अनुसार मठादिस्थापन द्वारा ज्ञानोपदेशका स्थायी प्रबन्ध करना भी साधारण मनुष्यका कार्य नहीं था।

पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक भेदसे सत्ताभेदकी कल्पना करके भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने एक विशाल समन्वयका मार्ग खोल दिया था, वह अपने-अपने अधिकारके अनुसार वेदमार्गरत निष्ठावान् साधकके लिए परम हितकारी ही हुआ; क्योंकि व्यवहारभूमिमें अनुभवके अनुसार द्वैतभावका अङ्गीकार करते हुए और तदनुरूप आचार, अनुष्ठान आदिका उपदेश देते हुए भगवान्ने दिखाया है कि वस्तुतः वेदान्तोपदिष्ट अद्वैतभावसे शास्त्रानुमत द्वैतभावका विरोध नहीं है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्मज्ञानके उदयसे संस्कार या वासनाकी निवृत्ति, विविध प्रकारके कर्मोंकी

निवृत्ति तथा चित्तका उपशम हो जानेपर अखिल द्वैतभावोंका एक परमाद्वैतभावमें ही पर्यवसान हो जाता है। परन्तु जब तक इस प्रकार परा ब्रह्मविद्याका उदय न हो तब तक द्वैतभावको मिथ्या कहकर द्वैतभावमूलक शास्त्रविहित उपासना आदिका त्याग करना उनके सिद्धान्तके विरुद्ध है, क्योंकि अनधिकारीका अर्थात् जिसको आत्मानात्मविवेक नहीं हुआ है, जिसके चित्तमें पूर्णरूपसे वैराग्यका उदय नहीं हुआ है, जो साधनसम्पन्न नहीं है और जिसमें मुक्तिकी इच्छा तक उदित नहीं हुई है; उसके लिए वेदान्तज्ञानका अधिकार तक नहीं है। कर्मसे शुद्धचित्त होकर उपासनामें तत्पर होनेसे धीरे-धीरे ज्ञानकी इच्छा तथा उसका अधिकार उत्पन्न हो जाता है। अतएव व्यवहारभूमिमें अपने-अपने प्राक्तन संस्कारोंके अनुसार जो जिस प्रकार द्वैत अधिकारमें रहता है उसके लिए वही ठीक है। भगवान् शङ्कराचार्यजीका कहना यही है कि वह शास्त्रसम्मत होना चाहिए, क्योंकि उच्छास्त्रित पौरुषसे उन्नतिकी आशा नहीं है।

वर्णाश्रमधर्मका लोप होनेसे समाजमें धर्मविपर्यय अवश्यम्भावी है। भगवान् शङ्कराचार्यका सिद्धान्त है कि वर्णाश्रमधर्मका संरक्षण करना ही परमेश्वरका नररूपमें अवतीर्ण होनेका मुख्य प्रयोजन है। भगवान् शङ्कराचार्यके जीवन-चरित, शिष्योंके प्रति उनके उपदेश तथा ग्रन्थ आदिके पर्यालोचनसे प्रतीत होता है कि उन्होंने स्वयं भी वर्णाश्रमधर्मका उपकार करनेके लिए ही समग्र जीवन आत्मशक्तिका प्रयोग किया था, यह उनके अवतारत्वका ही द्योतक है। ये शङ्कररूपी शङ्करावतार वैदिकधर्मसंस्थापक, परमज्ञानमूर्ति, प्रज्ञा तथा करुणाके विग्रहस्वरूप महापुरुष वैदिकधर्मावलम्बी मनुष्यमात्रके सर्वदाके लिए प्रणम्य है।



भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीका सर्वमान्य अद्वैतसिद्धान्त

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० माधवशास्त्रीजी भाण्डारी)

चिदानन्दाकारं जलदरुचि सारं श्रुतिगिराम् ,
व्रजस्त्रीणां हारं भवजलधिपारं कृतधियाम् ।
विहन्तुं भूभारं विदधदवतारं मुहुरहो ,
महो वारं वारं भजत कुशलारम्भकृतिनः ॥१॥

श्रीमद्भगवत्पूज्यपादने अद्वैतमतको सार (रत्न) रूपमें निकालनेके लिए तीनों 'प्रस्थानों' पर प्रसन्न-गम्भीर भाष्य रचकर उपनिषत्समुद्रका जो मन्थन किया और नवनीतप्रिय श्रीकृष्ण भगवान्ने अपने उपनिषत्सारभूत गीता-शास्त्रमें बार-बार बतलाये हुए 'अनन्यता' योगको पुष्ट करनेके लिए उसी समुद्रमें से जो कई रत्न निकाले, पाठकोंके सामने उन रत्नोंका तथा उन्हीं रत्नोंसे बने हुए रत्न-मन्दिरस्थानीय अद्वैतसिद्धान्तका उपन्यास करनेके लिए यह लेख प्रस्तुत किया जाता है ।

यह अद्वैत-सिद्धान्त सारे संसारके लिए शान्तिप्रदान करनेवाला एक रत्न-मन्दिर है और इसका महान् प्रासाद मुख्यरूपसे चार रत्न-स्तम्भोंपर खड़ा है । उन चार स्तम्भोंका विचार करनेसे मन्दिरकी सुदृढ़ता तथा सुखमयताका अनायास निर्णय हो जायगा; इसलिए प्रथम उन्हींपर दृष्टिपात करना उचित है ।

अद्वैतसिद्धान्तके आधारभूत चार सिद्धान्तस्तम्भ

१—अविद्याको जन्म-मरणका मूल मानना, २—भूत, भौतिक आदि सारे संसारको मायानिष्पन्न मानना, ३—कारणके साथ कार्यकी अनन्यता मानना और ४—तत्त्वज्ञानसे अविद्यानिवृत्तिपूर्वक अपवर्ग मानना । ये चारों सिद्धान्त यदि सकल दार्शनिकोंके मतसे अङ्गीकृत हो जायँ, तो अद्वैतसिद्धान्त बिना किसी विरोधके सर्वमान्य हो जायगा । अतः यहांपर इन अवान्तर सिद्धान्तोंकी सर्वमान्यताका विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा । उसके भी पहले अविद्याका वेदान्ति-सम्मत स्वरूप क्या है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है ।

अविद्या अभावरूप नहीं, किन्तु भावरूप है

'अविद्या' पदका उच्चारण करते ही सर्वसाधारणकी दृष्टिमें विद्याका अभाव ही अविद्याका अर्थ आपाततः प्रतीत होता है । परन्तु 'नाभावाद् भावोत्पत्तिः'

इस न्यायसे अभावसे अस्मिता, राग, द्वेष आदि अविद्याकार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, यह आक्षेप हो सकता है। अतः वेदान्ति-सम्मत अविद्याका स्वरूप वास्तवमें विद्याका अभाव नहीं है, किन्तु भावरूप है; यह समझना चाहिए। इसीलिए संक्षेपशारीरकमें (१।३२०) श्रीसर्वज्ञात्ममुनिने कहा है—

'नाऽभावताऽस्य घटते वरणात्मकत्वान्नाऽभावमावरणमाहुरभावशौण्डाः।
अज्ञानमावरणमाह च वासुदेवस्तद्भावरूपमिति तेन वयं प्रतीमः॥'

यह अविद्या (अज्ञान) अभावरूप नहीं है, क्योंकि यह अधिष्ठानका आवरण करती है। आवरण करना यह अभावका काम नहीं है। अभावका परीक्षण करनेमें निपुण नैयायिकोंने अभावमें आवरणकारकता कहीं भी नहीं कही है। हमारी अविद्या तो आवरण करती है, जैसा कि श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' (गी० ५।१५)
धूमेनाऽऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च॥
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥' *(गी० ३।३८) इत्यादि।

इससे निश्चित हुआ कि अविद्या भावरूप है और वह भावरूप कार्यको उत्पन्न कर सकती है, यह वेदान्तसिद्धान्त है। और अविद्याका नाश अधिष्ठानके साक्षात्कारसे ही होता है, यह बात—

'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥' † (गी० ४।१६),

'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादि प्रमाणोंसे निश्चित है।

अब इस सिद्धान्तकी सर्वमान्यता देखिए। योगी लोग कहते हैं—

'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः' ‡ (यो० सू० २।३)

---

* अज्ञानसे ज्ञानके आवृत होनेके कारण प्राणियोंको मोह होता है। जैसे धूमसे वह्नि आवृत रहती है, मलसे दर्पण आवृत रहता है और उल्बसे (खेड़ीसे) गर्भ आवृत रहता है, वैसे ही अज्ञानसे यह ज्ञान आवृत है।

† ज्ञानसे जिनकी आत्माका अज्ञान नष्ट हो चुका है, उनका वह ज्ञान जैसे सूर्य घट, पट आदि वस्तुओंको प्रकाशित करता है, वैसे ही परब्रह्मको प्रकाशित करता है।

‡ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं। अनात्मामें आत्मबुद्धि—अविद्या, पुरुष और अन्तःकरणका अभेदभान—अस्मिता, सुखानुशयी (सुख या सुख-

'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः' (यो० सू० २।१२)

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (यो० सू० २।१३)

अविद्या से ही अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश होते हैं। यही पांच पर्ववाली अविद्या कर्माशयकी कारण है। वह कर्माशय वर्तमान अथवा आगामी जन्ममें फल देनेवाला है। अविद्याके रहते ही जन्म, आयुष्य और भोगरूप त्रिविध विपाक हो सकता है, अन्यथा नहीं। उस अविद्याका नाश विवेक-ख्याति होनेसे ही होता है 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' नामक तत्त्वज्ञान ही साक्षात् विद्याका निवर्तक है, जैसा कि कहा है—'ऋतम्भरा च तत्र प्रज्ञा' * (यो० सू० १।४८) 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' † (यो० सू० १।५०) इत्यादि।

इसी प्रकार अविद्यापदार्थका अङ्गीकार, तन्मूलक जन्म-मरण, और तत्त्व-ज्ञानसे अविद्याकी हानि इतनी बातें सांख्यमतमें भी विद्यमान हैं। जैसा कि सांख्यकारिका आदिमें कहा है—

'ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।' (सा० का० ४४)

'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ‡॥' (सा० का० ६४)

किं बहुना, वेदान्तादिदर्शनोंमें 'वास्तवमें न कोई बद्ध है और न कोई मुक्त है, किन्तु यह रज, तम आदि गुणोंका आभास है' इत्यादिरूपसे बहुशः जैसा वर्णित है, उसीकी छाया सांख्यकारिकामें देखिए—

साधनोंमें तृष्णाविशेष—राग, दुःख या दुःखसाधनोंमें निन्दात्मक क्रोध—द्वेष और शरीर आदि विषयोंसे मेरा वियोग न हो, इस प्रकारकी इच्छा अभिनिवेश है।

* ऋतंभरा—कभी भी विपर्ययसे बाधित न होनेवाली प्रज्ञा तभी होती है, जब निर्मलता प्राप्त हो जाती है।

† समाधिप्रज्ञासे होनेवाला संस्कार व्युत्थान आदिसे होनेवाले संस्कारोंका प्रति-बन्धक है।

‡ उक्त क्रमसे सांख्योक्त पचीस तत्त्वोंके तत्त्वालोचनलक्षण अभ्याससे पुरुषको यह प्रकृति है, यह पुरुष है और ये पञ्चतन्मात्राएँ हैं, प्रकृत्यादि पदार्थ मैं नहीं हूँ और मेरा शरीर भी नहीं है, मुझसे और शरीर आदि भिन्न हैं इत्यादिरूप जो निरवशेष, संशयादिसे रहित विशुद्ध, केवल पुरुषमात्रविषयक ज्ञान होता है, वही ज्ञान मोक्षकारण है, यह भाव है।

'तस्मान्न मुच्यतेऽद्धा न बध्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः *।' (सा० का० ६२)

इसी प्रकार न्यायमतमें भी मिथ्याज्ञान, तन्मूलक संसार और तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञाननिवृत्ति और अपवर्गका अङ्गीकार स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है—'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (गौ० सू० १।२) मिथ्याज्ञानसे ही रागद्वेष होते हैं, रागद्वेषसे प्रवृत्ति, प्रवृत्तिसे जन्म और जन्मसे ही दुःख होता है, अतः दुःखकी निवृत्तिके लिए जन्मसे छुटकारा पाना आवश्यक है, जन्मके अभावके लिए प्रवृत्तिसे मुँह मोड़ना चाहिए, प्रवृत्ति रोकनेके लिए राग-द्वेष हटने चाहिएँ और राग-द्वेषके हटनेके लिए अनात्मामें आत्मबुद्धि इत्यादिरूप मिथ्याज्ञान हटाना ही जरूरी है, क्योंकि अनात्मामें आत्मबुद्धिरूप मिथ्याज्ञानसे ही सम्पूर्ण संसारपरम्परा चलती है। उस मिथ्याज्ञानको हटानेके लिए ही 'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' (गौ० सू० १।१) इस सूत्रसे सोलह पदार्थोंका तत्त्वज्ञान, उनमें भी 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्' (गौ० सू० १।९) इस सूत्रमें प्रतिपादित आत्मा आदि बारह प्रमेयोंका यथार्थ ज्ञान ही निःश्रेयसके लिए मुख्य कारण बतलाया गया है। इस प्रकार ऊपर निर्दिष्ट चार सिद्धान्त-स्तम्भोंमें प्रथम और चतुर्थ सकलदार्शनिकसम्मत होनेसे सर्वमान्य और विरोधरहित सिद्ध हुए। अतः इनको हम सर्वतन्त्र-सिद्धान्त कह सकते हैं, केवल प्रतितन्त्र-सिद्धान्त नहीं कह सकते।

पदार्थमात्रका मायिकत्वसिद्धान्त

पहले हमें यह देखना आवश्यक है कि वेदान्तिसम्मत मायिकत्व कैसा है? मायिकत्व कहते ही सर्वसाधारणको आपाततः रज्जुसर्पके समान अथवा ऐन्द्रजालिक पदार्थोंके समान अर्थक्रियाकारित्वरहित होते हुए भासमान होना ही मायिकत्वका अर्थ प्रतीत होता है। किन्तु सांसारिक सभी पदार्थ स्पष्टरूपसे अर्थक्रियाकारी हैं, अतः वे मायिक कैसे हो सकते हैं, ऐसा आक्षेप हो सकता है। पर

---

* कोई भी पुरुष बद्ध या मुक्त नहीं है, किन्तु देव, मनुष्य आदि योनियोंकी आश्रयभूत प्रकृति ही बद्ध और मुक्त होती है, यह भाव है।

वास्तवमें अर्थक्रियाकारित्वसे रहित होना; ऐसा मायिकत्वका लक्षण वेदान्तमें कहीं भी वर्णित नहीं है। किन्तु 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (ब्र० सू० ३।२।३) इत्यादि सूत्रसे यही कहा गया है कि जैसे स्वाप्न पदार्थ स्वप्नदशामें अर्थक्रियाकारी होनेपर भी जाग्रत्दशामें बाधित हो जाते हैं, वैसे ही जाग्रद्दशामें भासमान और अर्थक्रियाकारी पदार्थ तुरीय दशामें अभासमान और अर्थक्रिया न करनेवाले हो जाते हैं। अतः उनमें पारमार्थिक दृष्टिसे बाधितत्व और मायिकत्व है। ऐसा होनेपर भी वेदान्ती उनकी व्यावहारिक सत्ता मानते ही हैं।

दूसरी बात यह है कि जाग्रद्दशामें भी ये भूत-भौतिक पदार्थ कभी थोड़ी देरके लिए व्यक्तदशामें देख पड़ते हैं, तो थोड़ी ही देरमें अव्यक्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें हमारे मनमें यही विचार उत्पन्न होता है कि अव्यक्तदशासे ही ये पदार्थ व्यक्तदशामें आये और फिर अव्यक्तदशामें लीन हो गये, अतः अव्यक्तदशा ही इनका वास्तविक रूप है। आदि और अन्तमें अव्यक्त ही इनकी अवस्था है। केवल मध्यमें थोड़ी देरके लिए जो व्यक्तदशा होती है, वह यद्यपि अर्थक्रियाकारी और भासमान है, तथापि वास्तविक नहीं है। इसी बातको लेकर कहा है कि

'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' (गौ० का० २ । ६)

'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ! ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥' (गी० २।२८)

'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।' (गी० ८।१८) इत्यादि । इस प्रकार जाग्रद्दशाके व्यक्त पदार्थ भी तुरीयदशामें बाधित होते हैं और जाग्रद्दशामें भी अव्यक्तदशा ही पदार्थोंको आद्यन्तमें घेरे रहती है, अतः व्यक्तदशा केवल मायिक सिद्ध होती है।

अव्यक्तसे व्यक्तदशामें पदार्थोंका आना और पुनः अव्यक्तदशामें लीन होना, यही प्रकार सांख्य और योगशास्त्रमें बड़े विस्तारसे वर्णित है, अतः यह वस्तुतत्त्व उनके भी सम्मत है। सांख्योंने यद्यपि मायिकशब्दसे उनका व्यवहार नहीं किया है, तथापि केवल शब्दसङ्केतके भिन्न होनेसे वस्तुतत्त्वमें कोई अन्तर नहीं आता। केवल सांख्ययोगके कतिपय प्रतितन्त्र-सिद्धान्तोंके भिन्न होनेसे उनके मतमें परिणामवाद और वेदान्तियोंके मतमें विवर्तवाद पर्यवसन्न होता है, यह बात दूसरी है। प्रतितन्त्र-सिद्धान्तसे विरोध आनेपर भी वास्तवमें कोई विरोध नहीं समझा जाता, किन्तु सर्वतन्त्रसिद्धान्तसे विरोध न होना चाहिए।

न्यायमतमें यह वात कैसे सम्मत होती है? यदि मायिकत्व पूर्वोक्त प्रकारसे न्याय-सम्मत न हुआ, तो यह मायिकत्व सर्वतन्त्रसिद्धान्त न हो सकेगा। अतः अव न्यायमतसे विचार करना आवश्यक है।

नैयायिक लोग आरम्भवादी हैं, अर्थात् उनके मतमें कारणोंसे अभिनव कार्यकी उत्पत्ति होती है। सांख्यमतके समान 'कार्यकी केवल अभिव्यक्ति होती है' ऐसा वे नहीं मानते, किन्तु कार्योत्पत्तिके पहले उसका प्रागभाव और कार्य नष्ट होनेपर उसका ध्वंस मानते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कार्य उत्पन्न होनेपर तो भावरूप है और आदि एवं अन्तमें वही अभावरूप हो जाता है।

अव यहां सूक्ष्मरूपसे विचार करना चाहिए कि जैसे सांख्य लोग व्यक्त होने-वाले घटकी अव्यक्तदशा मृत्पिण्डमें ही मानते हैं, तन्तु आदिमें नहीं मानते तथा व्यक्तदशाका नाश होनेपर उनके मतमें घट मृत्पिण्डमें ही अव्यक्त होता है, तन्तु आदिमें अव्यक्त नहीं होता, वैसे ही नैयायिक लोग भी घटका प्रागभाव मृत्पिण्डमें ही मानते हैं, तन्तुओंमें अथवा भूतलमें नहीं मानते और इसी प्रकार घटका ध्वंस भी घटके समवायी कारण मृत्पिण्डमें ही मानते हैं, तन्तु अथवा भूतलमें नहीं मानते। इससे यह सिद्ध ही हुआ कि सांख्य लोग आदि और अन्तमें जिस कारणमें कार्यकी अव्यक्तदशाकी स्थिति मानते हैं, नैयायिक लोग उसी कारणमें समवेत कार्यका प्रागभाव और ध्वंस मानते हैं। अतएव वायुमें रूपका प्रागभाव या ध्वंस कभी नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थितिमें चाहे प्रागभाव और ध्वंसशब्दसे व्यवहार किया जाय, चाहे अव्यक्तशब्दसे व्यवहार किया जाय, पर वस्तुतत्त्वमें कोई अन्तर नहीं आता।

दूसरी वात यह है कि प्रागभावशब्दसे जब नैयायिक लोग व्यवहार करते हैं, तब 'अभावका ज्ञान प्रतियोगीके ज्ञानके विना नहीं होता' इस नियमसे उनको उस अभावके साथ प्रतियोगिरूपसे घटका सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा, नहीं तो व्यवहारोच्छेद एवं उनके सिद्धान्तका भङ्ग होगा। एवञ्च स्वप्राग-भावदशामें भी अभावसम्बद्ध घट सिद्ध हुआ। यदि कहो कि अभी घट उत्पन्न ही नहीं हुआ, तो फिर उसका अभावके साथ सम्बन्ध कैसा? इसका उत्तर यही है कि यही तो अव्यक्तभावापन्न घट है, जो कि प्रकटरूपसे उत्पन्न न होनेपर भी संबद्ध रह सकता है। सांख्यलोग भी तो उत्पत्तिके पहले घटको कभी व्यक्त-स्वरूप नहीं मानते, किन्तु अव्यक्तस्वरूप ही मानते हैं। एवञ्च नैयायिकरीतिसे प्राग-

भाव और ध्वंसशब्दसे कहने अथवा सांख्यरीतिसे अव्यक्तशब्दसे कहनेसे वस्तु-तत्त्वमें कोई भेद नहीं आता। सांख्योंके सत्कार्यवादमें भी पूर्वमें अव्यक्त, मध्यमें व्यक्त और अन्तमें फिर अव्यक्त इतना समावेश सिद्ध ही है। उसीको नैयायिक-रीतिसे कहें, तो पहले प्रागभावदशापन्न, मध्यमें उत्पन्न और अन्तमें ध्वंससंबद्ध, इस प्रकार तीनों कालोंमें कार्यसम्बन्ध भिन्न-भिन्न रूपसे है। एवञ्च नैयायिकोंके मतमें निर्दिष्ट वस्तुतत्त्वके अपरिहार्य होनेसे मायिकत्ववाद भी सर्वतन्त्र-सिद्धान्त हो सकता है।

कारणके साथ कार्यका अनन्यत्वसिद्धान्त

वेदान्तियोंने 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि प्रमाणोंसे कारणके साथ कार्यका अनन्यत्व कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि कार्यदशाके व्याप्य और कारण-दशाके व्यापक होनेसे कार्यदशामें भी हम कारणदशाको देख सकते हैं, जैसा कि पटदशामें भी हम तन्तुओंको देखते हैं अथवा अँगूठीकी दशामें भी सुवर्णको देखते हैं। इसके विपरीत कारणदशामें हम कार्यदशाको नहीं देख सकते, तन्तुदशामें पटावस्था देखना अथवा सुवर्णपिण्डदशामें अँगूठी आदि कार्यावस्था देखना असम्भव है। अतएव वेदान्तमतसे हम कार्यरूप जगत्में कारणीभूत ब्रह्मकी दृष्टि कर सकते हैं, परन्तु कारणीभूत ब्रह्ममें जगद्दृष्टि नहीं कर सकते। अतएव गीतामें कहा है—

'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः'। 'भूतभृन्न च भूतस्थः' (गी० ९।४,५) इसका मतलब यह है कि मेरा अन्वय और व्यतिरेक भूतोंमें है, भूतोंका अन्वय और व्यतिरेक मुझमें नहीं है। जैसे मेरे रहने या न रहनेसे भूतोंकी सत्ता या असत्ता हो सकती है, वैसे भूतोंके रहने या न रहनेसे मेरी सत्ता या असत्ता नहीं हो सकती। एवञ्च भूतोंकी सत्ता मेरी सत्ताके सिवा लेशमात्र भी पृथक् न होनेसे वास्तवमें वे भूत-भौतिक हैं ही नहीं। जैसा कि कहा है—'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। (गी० ९।५) 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि। इसी सिद्धान्तके आधारपर सम्पूर्ण जगत्को भगवान्से अनन्य देखने और अनन्यचित्त होकर अनन्य भक्ति करते रहनेपर अद्वैत-मन्दिरमें बैठकर सुखशान्ति स्वतःसिद्ध हो जाती है, वह यत्नसाध्य नहीं समझी जाती इत्यादि उपपन्न होता है।

सांख्यमतकी दृष्टिसे कार्य-कारणका अनन्यत्व होनेपर भी उनके मतमें भगवान् जगत्के कारण नहीं हैं, किन्तु भगवान्से अतिरिक्त प्रकृति ही जगत्कारण है। सांख्यमतमें यह प्रकृतिकारणवाद प्रतितन्त्र-सिद्धान्त है, सर्वतन्त्र-सिद्धान्त नहीं है। इसका मतलब यह है कि सांख्योंको अपने सिद्धान्तमें महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा आदि तत्त्वोंका संयम द्वारा भिन्नरूपमें साक्षात्कार कराना अभिप्रेत है। यदि वे चेतनको ही कारण मान लें, तो कारणानन्यतया संयम करनेपर महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा आदि सब जड़ पदार्थ चेतनकारणरूपसे ही भासने लगेंगे, तब तो विदेह, प्रकृतिलय इत्यादि जगत्की सिद्ध व्यवस्था अथवा ग्राह्यसमापत्ति और ग्रहणसमापत्ति इत्यादि जड़ालम्बनके भेद उपपन्न न होंगे, किन्तु जगत्में तो वे विद्यमान हैं, यही सांख्योंको तत्त्वभेद द्वारा दिखलाना अभीष्ट है, अतः यह उनका प्रकृतिकारणवाद प्रतितन्त्र-सिद्धान्त है। उसके साथ अद्वैत-सिद्धान्तका विरोध भी अविरोध ही समझा जायगा।

इसी प्रकार नैयायिकोंका परमाणुकारणवाद भी प्रतितन्त्र-सिद्धान्त है, क्योंकि 'गुणोपचये मूर्त्युपचयः' इस नियमसे परमाणुका खण्डन करके पञ्चतन्मात्रा आदिकी सिद्धि सांख्य, योग, वेदान्त आदिमें उपपत्तियोंसे तथा श्रुतिप्रमाणोंसे सिद्ध की गई है, अतः परमाणुकारणवादमें 'अपकृष्टमहत्त्वके प्रति अनेकद्रव्यत्वरूप संमवेत-समवेतत्व कारण है' इस अधिकरणसिद्धान्तपर ही परमाणुकी सिद्धि नैयायिकोंने की है। अतः परमाणुकारणवाद अद्वैतसिद्धान्तका विरोधी नहीं है।

दूसरी बात यह है कि चैतन्यकारणवाद और पदार्थोंका मायिकत्व माने विना 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' इत्यादि श्रुतियां किसी भी प्रकारसे समन्वित नहीं हो सकतीं, अतएव चैतन्य ही जगत्के प्रति अभिन्न-निमित्तोपादान है। इसलिए भगवान्के सर्वप्रिय अनन्ययोगकी उपपत्ति होनेसे भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजी-का अद्वैतवाद सर्वमान्य सिद्ध होता है, इति शम्—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कीर्तयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥१॥



गंगे !

(रचयिता—पं० बलदेवप्रसादजी मिश्र)

(१)

मंडति चलति सिव-सीस औ हिमाचलकौ
विघन-पखान-जूह खंडति चलति है।
दंडति चलति देव-वैरिन समोद, तिन्ह
लोक-ओक-थोकनि विहंडति चलति है॥
चंडति प्रपंच रंच संचित सजग चाहि
दूर करि दुगुन उमंडति चलति है।
कंडति चलति दुरभाग, तीन तापन पै
ताकि कै वरुन-अस्त्र छंडति चलति है॥

(२)

पापन समेटि देति आवागौन मेटि तुम
भेंटि छन ह्वीं मैं फेंट बाँधि कै, प्रचार भौ।
कोऊ न सकात, पाप करत उमाहि चित
झूठौ ही प्रसिद्ध सब करम-विचार भौ॥
चलत न चारौ, विधि पचि-पचि हार्यौ, मूढ़
ह्वै गयौ, विवेक आज परम असार भौ।
एरी गंग ! याही हेत कबहुँ न तीर तव
तीन लोक जानै, कहूँ एक अवतार भौ॥

(३)

तुअ जल पाइ हूक धरत सुधा की नाहिं
ताके पुनि गौरव कौ गरव गहै नहीं।
कहुँ तट-पादप कौ करि विसराम-धाम
पारिजातहूँ कौ भूलि कामद कहै नहीं॥
एरी मातु गंग ! इन कलित कछारन कौ
छनक वियोग दुखदायक सहै नहीं।
रहत निसाँक विधि हूँ कौ कहै आक-बाक
काक पाकसासन का आसन चहै नहीं॥



श्री १०८ गो० तुलसीदासजीका सिद्धान्त

(*लेखक—साहित्यरञ्जन पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी*)

श्रीगोस्वामीजीके सिद्धान्तके विषयमें आज कल बहुत कुछ लिखा पढ़ी चल रही है, अतः अपने विचारोंको भी सर्वसाधारणके सामने प्रकट कर देनेके लिए यही समुचित अवसर है। मैं भी बहुत दिनोंसे गोस्वामीजीके ग्रन्थोंको मनोयोगके साथ देख रहा हूँ। मुझे तो श्रीगोस्वामीजीका सिद्धान्त अद्वैतपर्य्यवसायी भक्ति-मार्ग ही जँचता है—

रघुपति-भगति-बारि-छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास यह चित-बिलास जग बूझत बूझत बूझै॥ (विनय-पत्रिका)

श्रीसनातन धर्ममें इस समय पाँच वादोंका ही प्रचार दिखलाई पड़ता है—(१) अद्वैतवाद, (२) विशिष्टाद्वैतवाद, (३) द्वैताद्वैतवाद, (४) द्वैतवाद और (५) शुद्धाद्वैत-वाद। इनमें से माया या जगत्को मिथ्या माननेवाला केवल अद्वैतवादी समाज है। अन्य वादोंने इसके सत्यत्वका स्वीकार किया है। अतः इतना ही परीक्षण कर लेना पर्याप्त होगा कि श्रीगोस्वामीजीने संसारका मिथ्यात्व स्वीकार किया है या नहीं।

यदि स्वीकार किया है, तो उनके सिद्धान्तके विषयमें सन्देह ही नहीं रह जाता है कि वह अद्वैतवाद है और यदि स्वीकार नहीं किया है, तो यह विचार करना चाहिए कि शेष चारों वादोंमें उनका मत किससे मिलता है।

जगत्का मिथ्यात्व

(१) आनन्द-सिन्धु-मध्य तव वासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा।
मृग-भ्रम-बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी॥
तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि चलि आयो तहाँ॥
निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्‍यौ।
निःकाज राज बिहाय नृप इव सपन-कारागृह पर्‍यौ॥ (विनय०)

आनन्द-सिन्धु-मध्य तव वासा' कहकर जगत्को ब्रह्ममय कहा, 'बिनु जाने कस मरसि पियासा' कहकर अज्ञानको दुःखका कारण बतलाया, 'मृग-भ्रम-बारि सत्य जिय जानी' कहकर जगत्को मिथ्या कहा, 'निज सहज अनुभव रूप' को

'निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख' कहकर ब्रह्म-जीवका अभेद कहा और 'नृप ज्यौं स्वपनकारागृह पर्‍यौ' कहकर बन्ध कहा। अब इससे स्पष्ट अद्वैतवादका प्रतिपादन और कैसे हो सकता है?

(२) रजत सीप महँ भास जिमि, यथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ कालमहँ भ्रम न सकै कोउ टारि॥

येहि बिधि जग हरि आश्रित रहई।
जदपि असत्य देत दुख अहई॥ (रामचरितमानस)

जैसे (रात्रिके मन्दान्धकारमें) सीपमें चाँदी भासती है और जैसे (दिनमें दोपहरके समय) सूर्य्यके किरणोंमें जल भासता है, वह तीनों कालमें मिथ्या है, परन्तु सीपमें चाँदी और सूर्य्यके किरणोंमें जलका भ्रम किसीके हटाये नहीं हटता, वैसे ही जगत् भी हरि (ब्रह्म) के आश्रित है, तीनों कालमें असत्य है, पर दुःख देता है, यह उक्ति भगवान् शङ्करकी साक्षत् गिरिजानन्दनीके प्रश्नके उत्तरमें है, इसे पूर्वपक्ष भी नहीं कह सकते। इसमें बार-बार जगत् मिथ्या और ब्रह्म सत्य कहा गया है।

(३) मृगतृष्णा सम जग जिय जानी।
तुलसी ताहि संत पहिचानी॥ (वैराग्यसंदी०)

संसारको मृगतृष्णा जैसा जाने। भाव यह है कि दिखाई तो यह ऐसा पड़ता ही रहेगा, पर जो मनसे इसे मृग-जलकी भाँति मिथ्या निश्चय कर ले, वही सन्त है।

(४) जग नभ-बाटिका रही है फल फूलि रे।
धूआँ कैसे धौरहर देखि तू मत भूलि रे॥ (विनय०)

यहाँ संसारको आकाशकी फुलवारी कहकर अजातवाद कहा, धुवाँका धौरहर कहकर निस्तत्त्व कहा।

(५) ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकाश।
निर्गुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास॥

यहाँ अद्वैतवादके भी सिरेका सिद्धान्त अजातवाद कहा। इस भाँति सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि श्रीगोस्वामीजीका सिद्धान्त अद्वैतवाद ही था, तथापि वे भक्त थे। भक्ति अद्वैतमार्गकी वैरिन

नहीं है। भेदासहिष्णुता भक्तिमार्गकी एक अद्भुत विशेषता है। इसीसे शुद्धाद्वैतवादियोंको जीव और ब्रह्ममें तत्त्वतः अभेद स्वीकार करना पड़ा।

व्यवहारदशामें विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत भक्तोंकी भावनाके अनुसार सभी ठीक हैं। गोस्वामीजी खण्डन-मण्डनके पीछे कभी नहीं पड़ते। यथास्थान सबका आदर करते हैं—

जेहि के हृदय भगति जस प्रीती। प्रभु तहँ प्रकट सदा तेहि रीती॥

अद्वैतसिद्धान्त मानते हुए भी ज्ञानमार्गको अतिदुर्गम मानकर स्वयम् भक्तिमार्गका आश्रवण करते हैं और दूसरोंको भी भक्तिमार्गका आश्रयण करनेका ही उपदेश देते हैं। कर्मसे चित्तशुद्धि होना दुर्घट समझते हैं—

मल कि जाइ मलैं के धोए।
घृत कि पाव कोउ वारि विलोए।

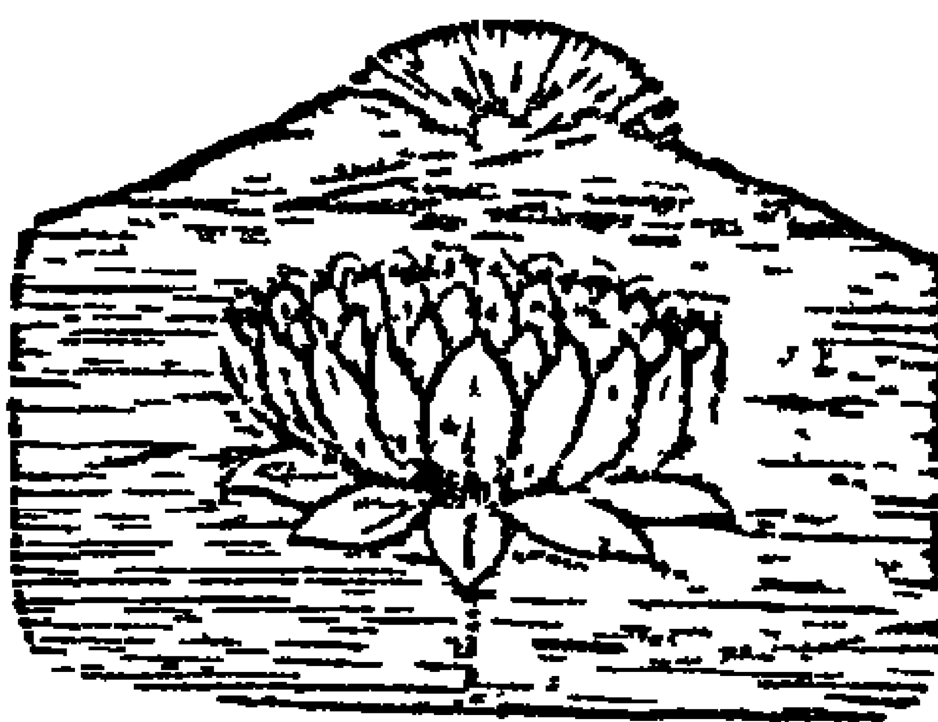
उनका सिद्धान्त है कि भक्तिके विना चित्तशुद्धि हो नहीं सकती—

प्रेम-भगति बिनु सुनु खगराई।
अभ्यन्तरमल कबहुक जाई॥ और

रघुपति-भगति-वारि-छालित चित
बिन प्रयास ही सूझै।

तुलसिदास यह चित-विलास जग
बूझत बूझत बूझै॥

अतः अद्वैतपर्य्यवसायी भक्तिमार्ग ही श्रीगोस्वामीजीका सिद्धान्त है।



अरे मन तू क्या वस्तु है ?

(लेखक—पण्डित नित्यानन्द पाण्डेयजी बी० ए०, एल्०-एल्० बी०)

अरे मन ! तू राज्यके बिना राजा बना देता है, द्रव्यके बिना धनी बना देता है, राजाको रङ्क कर देता है, कामीको विषयोंके अभावमें भी उनका अनुभव करा देता है; आकाशमें महल बना देता है, कहाँ तक कहा जाय ? अभूतपूर्व वस्तुओंको उत्पन्न कर देता है। इतना ही नहीं, यदि तू शुद्ध हो गया, तो पुरुषार्थ प्राप्त करा देता है, यदि अशुद्ध हो गया, तो बड़े-बड़े विद्वानोंकी अधोगति कर देता है।

अरे मन ! तेरी उत्पत्ति कहाँसे है ? तुझमें क्या शक्ति है ? तेरी वृद्धि और ह्रास किस प्रकार होते हैं ? क्या तू वशमें हो सकता है ? क्या तुझे त्याग देना चाहिए या तेरा अनुगामी हो जाना चाहिए ? तेरा क्या स्वरूप है ? तू क्या वस्तु है ? इस प्रकारके प्रश्न कल्याणमार्गके पथिकोंको हल करने पड़ते हैं।

मनका उपादान पाँच महाभूतोंका सत्त्वगुण है। थोड़े शब्दोंमें सब प्रश्नोंका उत्तर यह हो सकता है कि सत्त्वसे विजातीय रजोगुण और तमोगुणका असर मनपर न हो। किन्तु इतनेसे मनका वास्तविकरूप समझमें नहीं आवेगा। तत्त्वोंकी संख्यामें विवाद होते हुए भी यह निर्विवाद है कि मन एक तत्त्व है। यह इन्द्रियोंसे सूक्ष्म है *। मनका मुख्य कार्य संकल्प-विकल्प करना है, किन्तु श्रुतिके अनुसार इसके कई रूप हैं। "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" (काम, सङ्कल्प, स्नेह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि, भय ये सब मन ही हैं)।

यदि मन अपना कार्य न करे तो इन्द्रियाँ कुछ काम नहीं कर सकतीं; अर्थात् मनसे सम्बन्ध हुए बिना न कान सुन सकते हैं, न आँखें देख सकती हैं और न अन्यान्य इन्द्रियोंसे कोई कार्य बन सकता है। इस विषयका एक शास्त्रीय दृष्टान्त है—कोई इषुकार (बाण बनानेवाला) ध्यानपूर्वक बाण बना रहा था। उसके सामनेसे किसी राजाकी चतुरंगिणी सेना कोलाहल करते निकली। ऊँट और हाथियोंने कहीं-कहीं वृक्षोंकी डालियाँ भी तोड़ डालीं थीं। सेनाके चले जानेपर थोड़ी देरके बाद उस इषुकारसे पूछा गया कि सेना किस

---

* इन्द्रियेभ्यः परं मनः। गीता ३।४२

ओर गई है। उसने कहा—मेरा मन बाण बनानेमें लगा था, मैंने न कुछ देखा और न कोई शब्द सुना। श्रुति भी कहती है—'अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौपम्', (बृ० १।५।३) 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' इत्यादि।

इस विवेचनसे सिद्ध होता है कि इन्द्रियोंका प्रेरक मन है और यह भी समझमें आ जायगा कि केवल इन्द्रियोंके निरोधसे मनका निरोध नहीं होता*। वह इन्द्रियोंके बिना भी सुख-दुःखका भोग कर सकता है। उसमें यह शक्ति है कि वह न केवल सुख-दुःखकी कल्पना करता है, किन्तु इन्द्रियोंकी भी कल्पना कर लेता है। इसी कारण यद्यपि स्वप्नमें इन्द्रियां नहीं हैं, तथापि मन सब इन्द्रियोंको रचकर भोग करा देता है।

अतः यह सिद्ध है कि इन्द्रियोंका संचालक मन है। ऐसी अवस्थामें यह स्पष्ट है कि मनपर अपना अधिकार जमाना पुरुषार्थ है। किन्तु यह पुरुषार्थ सिद्ध करना कोई मामूली बात नहीं है। इस कारण मनके विषयमें अधिक विचार करनेकी आवश्यकता है। प्रथम यह देखना है कि मनकी वृद्धि और ह्रास कैसे होते हैं? इसका उत्तर एक शब्दमें यह है कि यह अन्नसे बनता है। इसीका दृष्टान्त छान्दोग्य-उपनिषद्में† इस प्रकार दिया गया है—शिष्य गुरुके उत्तरको ग्रहण न कर सका तब गुरुने उसको आज्ञा दी कि पन्द्रह दिन तक भोजन न कर मेरे पास आना। इस अवकाशके पीछे गुरुने शिष्यसे कहा—तुमको सब वेद कण्ठ हैं अमुक ऋचा तो सुनाओ। शिष्यने कहा इस समय मुझे कोई ऋचा स्मरण नहीं आती। गुरुने कहा—अब भोजन कर लो दूसरे दिन आना। शिष्यने दूसरे दिन भोजनके उपरान्त सम्पूर्ण वेद कंठ सुना दिया। छान्दोग्य-उपनिषद्में स्पष्टरूपसे कहा है—‡ 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (६।५।४)। अब यह निश्चय हो गया कि मनके वृद्धि-ह्रासका प्रधान कारण अन्न है। यहाँ यह भी कह देते हैं कि कारणके गुण कार्यमें अवश्य आ जाते हैं। इससे

---

* कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ गी० ३।६

(जो मूढ कर्मेन्द्रियोंका संयम कर मनसे इन्द्रियोंके भोग्य पदार्थोंका स्मरण करता रहता है वह मिथ्याचार कहा जाता है।)

† छा० उ० ६।७ सम्पूर्ण।

‡ हे सौम्य! मन अन्नमय है।

यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसा ही उसका मन हो जाता है। इसी कारण सत्त्वगुणवर्धक * अन्न खाना चाहिए। इतना ही नहीं, किन्तु शुद्ध स्थानमें, शुद्ध पात्रमें और शुद्ध पुरुष द्वारा (जो अपने समान या अपनेसे उच्च वर्णका हो) पकाया गया अन्न खाना चाहिए। धर्मशास्त्रमें यहांतक कहा है कि एक पंक्तिमें बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए †। ऐसी अवस्थामें पाक बनानेवालेके गुणदोषोंका कितना महत्त्व है, इसको पाठक स्वयं विचार लें।

अन्नके सिवा मनकी वृद्धिमें अर्थात् स्थूल होनेमें अन्य भी कारण योग-वासिष्ठमें ‡ बतलाये हैं—अनात्मपदार्थमें आत्मबुद्धि करनेसे, स्थूल शरीरमें दृढ़ अहंभावसे और स्त्री-पुत्र-कुटुम्बमें आसक्तिसे चित्त स्थूलताको प्राप्त होता है। अहंकारकी वृद्धिसे, ममतारूप मलके संसर्गसे, 'यह, मेरा' इस भावका उदय होनेसे मन स्थूलताको प्राप्त होता है। केवल देखनेमात्रसे रमणीय स्नेहसे, धनके लोभसे और मणि, मुक्ता तथा स्त्रीकी प्राप्तिसे चित्त स्थूलताको प्राप्त होता है। दुराशारूप दूध पीनेसे, भोगरूप वायुके बलसे, संसारकी वस्तुओंमें आस्था रखनेसे और उनके प्रचारसे चित्त स्थूलताको प्राप्त होता है। शारीरिक और मानसिक चिन्ताओंके विकाससे, संसारमें विश्वास रखनेसे और यह ग्रहण

---

* गी० १७।८, ध्यान रखनेकी बात यह है कि अन्न न्यायोपार्जित हो।

† 'एकपङ्क्त्युपविष्टानां दुष्कृतं यद्दुरात्मनः।
सर्वेषां तत्समं तेषां यावत्पङ्क्तिर्न भिद्यते॥' गोभिलः॥

(जब तक पंक्ति-भेद न किया जाय तब तक पापीमें जो पाप रहता है वह एक पंक्तिमें बैठकर भोजन करनेवाले सब लोगों को समान भागमें प्राप्त होता है, अतः सर्वसाधारणके साथ एक पंक्तिमें बैठकर भोजन करना ठीक नहीं है।)

श्रुति भी यह कहती है—'आसहस्रात् पङ्क्तिं पुनन्ति' (तै० आरण्यक)

‡ 'अनात्मन्यात्मभावेन देहभावनया तथा।
पुत्रदारैः कुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम्॥
अहंकारविकारेण ममतामललीलया।
इदंममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम्॥
स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम्।
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम्॥
दुराशाक्षीरपानेन भोगानिलबलेन च।
आस्थादानेन चारेण चित्तादियाति पीनताम्॥
आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृतौ।
हेयादेयविभागेन चेतो गच्छति पीनताम्॥'

करने योग्य है और यह त्यागने योग्य है—ऐसे विभागसे चित्त स्थूलताको प्राप्त होता है। इस प्रकार मनके वृद्धि-ह्रासके कारण कहे गये हैं।

अब यह विचार करना चाहिए कि मन क्या वस्तु है?

शास्त्रकारोंका मत है कि मन जतु (लाख) के समान है। जैसे गले हुए लाखमें जो रंग मिला दिया जाय, वह वैसा ही हो जाता है या जैसे तांबा गलाकर सांचेमें डाल दिया जाय, तो वह सांचेके आकारका हो जाता है, इसी प्रकार मन जिस वस्तुको विषय करता है उसीके रंग और रूपका बन जाता है*।

ऐसी अवस्थामें वे उपाय सर्वथा उपादेय हैं, जिनसे मन सदा अपने अनुकूल बना रहे। जिनका मन वशमें है वे जो चाहें उसे प्राप्त कर सकते हैं। योग-वासिष्ठमें इन्दुके पुत्रोंका इतिहास है कि उन्होंने अपने लिए पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्डोंकी रचना की थी और प्रत्येक ब्रह्माण्डके वे अलग-अलग ब्रह्मा थे। इस ब्रह्माण्डको भी, जिसमें हम हैं, ईश्वरने केवल अपने संकल्पसे रचा है और जब तक उसका सङ्कल्प है तब तक यह ऐसा ही रहेगा।

ऊपरके कथनसे यह सिद्ध हो गया कि मन जिस विषयको ग्रहण करता है, उसीके आकारका बन जाता है; तब हम निस्सङ्कोच कह सकते हैं कि मन भगवान्के सगुण अथवा निर्गुण स्वरूपोंमें से जिसका ध्यान करेगा, उसीके आकारका हो जायगा। इसी प्रकार यह न्याय है कि मरते समय मनुष्य जिस भावका ध्यान करता है, उसी योनिमें उसका जन्म होता है† ।

किन्तु मनको ऐसा बनाना कठिन है। मनका स्वभाव चञ्चल है‡। यही नहीं, किन्तु यह मल, आवरण और विक्षेपसे युक्त है। ये दोष केवल इसी जन्मके

---

* पञ्चदशी ४।२७ इत्यादि।

† अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरं।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥ (गीता० ८।५,६)

(जो पुरुष अन्तकालमें मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है वह मेरे भाव को प्राप्त होता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। हे अर्जुन, अन्त समयमें जिस जिस पदार्थका स्मरण करता हुआ पुरुष शरीरको छोड़ता है, सदा उस पदार्थकी वासनासे वासित वह उसी भाव को प्राप्त होता है।)

‡ (गीता० ६।३५)

नहीं हैं, किन्तु असंख्य जन्मोंके हैं। मनमें ऐसे विकल्प उठते हैं जिनका इस जन्मसे कोई वास्ता नहीं हो सकता। स्वप्नके दृष्टान्तसे यह बात ठीक समझमें आ जायगी। यह विद्वत्सम्मत है कि स्वप्नमें जो विषय देखे जाते हैं, वे अनुभूत होते हैं और जिन विषयोंका कभी अनुभव नहीं हुआ, वे नहीं देखे जाते। यदि वे भी देखें जायँ, तो समझना चाहिए कि वे पूर्वजन्मके अनुभूत विषय हैं, इससे अन्य कल्पना नहीं हो सकती। यदि कोई कहे कि स्वप्नमें असम्भव विषय—'अपना सिर कटना' या 'पर्वतकी चोटी पर समुद्र' आदि—किस प्रकार देखे जाते हैं ? इसका समाधान यही है कि स्वप्नमें अपना सिर कटा हुआ देखने वालेने कभी किसीका सिर कटा देखा है और पर्वतवासीने कहीं समुद्र देखा है, अतः निद्रा आदि दोषसे वह असंभव वस्तुको स्वप्न में देखता है। इससे अन्य समाधान प्रश्न करनेवाला भी नहीं कर सकता है।

इससे यह स्पष्ट है कि मनमें अनेक जन्मोंके संस्कार भरे पड़े हैं। इनको वासना कहते हैं। वासनाका स्वरूप इस तरह समझना चाहिए—पूर्वापर विचार किये विना अकस्मात् अन्तःकरणमें उठी हुई क्रोधादि वृत्तियोंका हेतुरूप जो चित्तगत संस्कार है, उसे वासना कहते हैं। पूर्व-पूर्वके अभ्यास द्वारा चित्तमें संस्कार स्थित होते हैं, अतएव वे वासना कहलाते हैं। जब तक वासना बनी रहती है, तब तक मनका निग्रह नहीं हो सकता।

इन्हीं वासनाओंको मल समझना चाहिए। इस मलको धोनेका उपाय निष्काम वैदिक कर्म करना है। एक दूसरा उपाय यह है कि अशुद्ध वासनाको शुद्ध वासनासे हटा देना चाहिए। पातञ्जल योगदर्शनके १।३३ सूत्रमें शुद्ध वासनाओंका इस प्रकार वर्णन किया है—'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' (सुखीमें मैत्री, दुःखीमें करुणा, पुण्यवान्में मुदिता और पापीमें उपेक्षाकी भावनासे चित्तको प्रसन्न करना चाहिए)।

आवरण और विक्षेपका स्वरूप रज्जु-सर्पके दृष्टान्तसे समझमें आ जायगा। किसी मनुष्यने एक रस्सीका टुकड़ा जमीनमें पड़ा हुआ देखा। उसको किसी कारण उस समय रज्जुका ज्ञान नहीं हुआ, किन्तु उसमें सर्पका भान हुआ—यही आवरण है। तब वह पुरुष कम्प आदिसे युक्त होकर भागा—इसीको विक्षेप कहते हैं। जब उसे किसीके कहनेसे मालूम हुआ कि वह तो रस्सी है, तब उसका विक्षेप दूर हो जाता है और रस्सीको स्वतः देखनेसे आवरण भी चला जाता है।

इसी प्रकार मनुष्य अज्ञानसे अपने वास्तविक निर्विकार कूटस्थ स्वरूपको न जानकर कहता है—'मैं कूटस्थको नहीं देखता हूँ', 'कूटस्थ है ही नहीं' यही आवरण है। फिर वह कहता है कि मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी और दुःखी हूँ, यही विक्षेप है। उपासनासे विक्षेप दूर हो जाता है। इसी कारण भक्तिका इतना महत्त्व है। किन्तु मल और विक्षेपके दूर होनेपर भी मन अपनी चञ्चलता नहीं छोड़ता, क्योंकि जिस समय उपासना या शुद्ध वासनाका प्रयोग कम होता है, मनका फिर राज्य हो जाता है। यही कारण है कि शास्त्रकारोंने चञ्चलताको दूर करनेके लिए इतना महत्त्व दिया है। चञ्चलता दूर हुई कि आवरण भी नष्ट हुआ।

चञ्चलता दूर करनेका सर्वसम्मत उपाय अभ्यास और वैराग्य है*। वैराग्यका स्वरूप यह है कि इस लोक तथा स्वर्गादि अन्य लोकोंके विषयोंमें दोष दृष्टिसे जिहासा रखना†। किसी महानुभावका कथन है कि विषयोंको वमन किये हुए अन्नके समान देखना—वैराग्यका लक्षण है। यह विषय अधिक गहन नहीं है, इस कारण इसपर अधिक नहीं लिखा जाता।

अभ्यासके विषयमें कई प्रकारके मत हैं—वे सभी ठीक हैं। इसमें निर्णय यही है कि जिसको जो मत गुरुकृपासे प्राप्त हो जाय, वही अच्छा है।

सबसे सरल राजमार्ग तो भगवच्चरणारविन्दका ध्यान करते रहना ही श्रेष्ठ अभ्यास है। भगवद्गीतामें कहा है—

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥*' गी० ९।२२

---

* गीता ६।३५; पातञ्जल यो० द० १।१२

† पातञ्जल योग० द० १।१५ तथा—

'दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी॥' पञ्चदशी ६।२८

(सांसारिक विषयोंमें दोष देखना, विषयोंके त्यागकी इच्छा और भोगोंके अधीन न होना ये तीनों क्रमशः वैराग्यके असाधारण हेतु, स्वरूप और कार्य हैं।)

* अनन्य भावसे मेरा चिन्तन कर रहे जो पुण्यात्मा लोग मेरी उपासना करते हैं, मैं सदा मेरा ध्यान करनेवाले उन भक्तोंका योग (अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तुकी रक्षा) करता हूँ।

पातञ्जल योगदर्शनमें भी भगवद्भक्तिको अष्टाङ्गयोगके समान समाधिका साधन बतलाया है। ‡। वेदान्तमतमें यह माना गया है कि 'कृतोपास्ति' मुमुक्षुका पतन नहीं होता है। इस कारण भक्तिके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

अभ्यासका अर्थ योगवाले अष्टाङ्गयोगको बतलाते हैं। इसकी प्रक्रिया वे ही जानें जिनको गुरु मिल गये हों। यद्यपि हम इस विषयमें कुछ नहीं कह सकते हैं तथापि हमने महानुभावोंसे सुना है कि योग-जन्य-समाधिमें केवल योगकालमें मनका निरोध होता है और केवल निरोधसे विशेष लाभ नहीं होता। निरोधकी अवस्थामें भी सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्मका ध्यान करना ही पड़ता है।

वेदान्तके मतमें अभ्यासका अर्थ अध्यात्म-विद्याका प्राप्त कर लेना है अर्थात् दृश्यका मिथ्यापन और द्रष्टाकी स्वयंप्रकाशताका निश्चय करके उसमें स्थित रहना है। ऐसा करनेपर यह मन अपना विषय दृश्य पदार्थ, जिसका अध्यात्म-विद्यासे मिथ्यारूप निश्चय किया है, उसके प्रति नहीं जायगा और जैसे काष्ठके जलनेके उपरान्त अग्नि स्वयं शान्त हो जाती है, वैसे ही मन स्वयं शान्त हो जाता है। श्रुति भी कहती है—

'यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥'* (मै० उ० ६।३४)

(यहां 'योनि' शब्दका अर्थ 'आत्मा' करना चाहिए)

पाठक इस उपर्युक्त विवेचनसे समझ जायँगे कि मनके चञ्चल स्वभावको दूर करना कितना कठिन है। इसी चञ्चल स्वभावको दूर करना आवरणको हटाना है। अर्थात् ज्ञानसे आवरण दूर होता है।

जिनके मनके मल, विक्षेप और आवरण दूर हो गये हैं, उन ब्रह्मज्ञानियोंको हम नमस्कार करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वे हमारे ऊपर अनुग्रह करें।

---

‡ ईश्वरप्रणिधानाद् वा (यो० सू० १।१३)

* जैसे काष्ठरहित अग्नि सूक्ष्मभूतरूप अपने कारणमें लीन हो जाती है, वैसे ही वृत्तिके क्षीण होनेसे चित्त अपने अधिष्ठानभूत आत्मामें लीन हो जाता है।

परमात्मविज्ञान

(लेखक—विद्यामार्तण्ड पं० सीतारामशास्त्रीजी, प्रधानाध्यक्ष ब्रह्मचर्याश्रम, भिवानी)

'रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः ॥'

श्रीमद्भागवत (१०।३।२४)

परमात्मा एक ऐसी वस्तु है, जिसकी जिज्ञासा मनुष्यमात्रको होती है। आस्तिक, नास्तिक, ज्ञानी सभी उसको जानना चाहते हैं। आस्तिक लोग भाव-भक्तिसे उसकी कृपाके इच्छुक होकर उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं, तो नास्तिक प्रतियोगिभावसे और ज्ञानी तत्त्वज्ञानके द्वारा तद्रूपकी प्राप्तिके लिए उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं। कैसा भी उदासीन पुरुष क्यों न हो किसी अतिप्रसिद्ध वस्तुको देखने या जाननेके लिए उत्सुक हो ही जाता है। ठीक ऐसी ही दशा हमारे लक्ष्य परमात्माकी भी है। अतएव सर्वजन द्वारा आकाङ्क्षित इस परमात्मवस्तुपर यथा-साध्य अन्वेषण-विवेचन होना आवश्यक ही है।

हमारा ऊपर दिया हुआ प्रमाणवाक्य घोषणा करता है कि जिस प्रकार घरका दीपक घरकी घट, पट आदि वस्तुओंको प्रकाशित करता है और अपने आपको भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार परमात्मतत्त्व भी अध्यात्मदीप है, प्रत्येक जन तथा प्राणीके अपने-आपमें ही गृहदीपकके समान प्रकाशित हो रहा है। ऐसी दशामें अपने गृहमें जगमगा रहे दीपकको बाह्य संसारमें खोजते या पूछते फिरनेवाले मनुष्यकी जैसी दशा होती है, ठीक वही दशा सकल जिज्ञासु जनोंकी है। इस कारण उपरि लिखित प्रमाणवाक्य उक्त जिज्ञासुओंका उपहास-सा कर रहा है, क्योंकि वह प्राणिमात्रका साक्षात् होनेपर भी अज्ञात वस्तुके समान सकल लोककी जिज्ञासाका विषय हो रहा है। आश्चर्य है।

हमारा प्रमाणवाक्य कहता है, हमारे आपेमें बहुसंख्यक पदार्थोंकी प्रदर्शनी खुली हुई है। उस प्रदर्शनीका प्रकाशन उसी अध्यात्मदीपसे हो रहा है। नेत्रकी क्रियापर ध्यान देते हैं, तो उसीकी प्रेरणासे वह खुलता-मुँदता है, कान, नाक, जीभ आदि उसीसे परिचालित होते हैं। उसीकी आज्ञासे पैर चलनेका और हाथ ग्रहण करनेका कार्य करते हैं। नख-शिखसे लेकर जो कुछ भी शरीरके

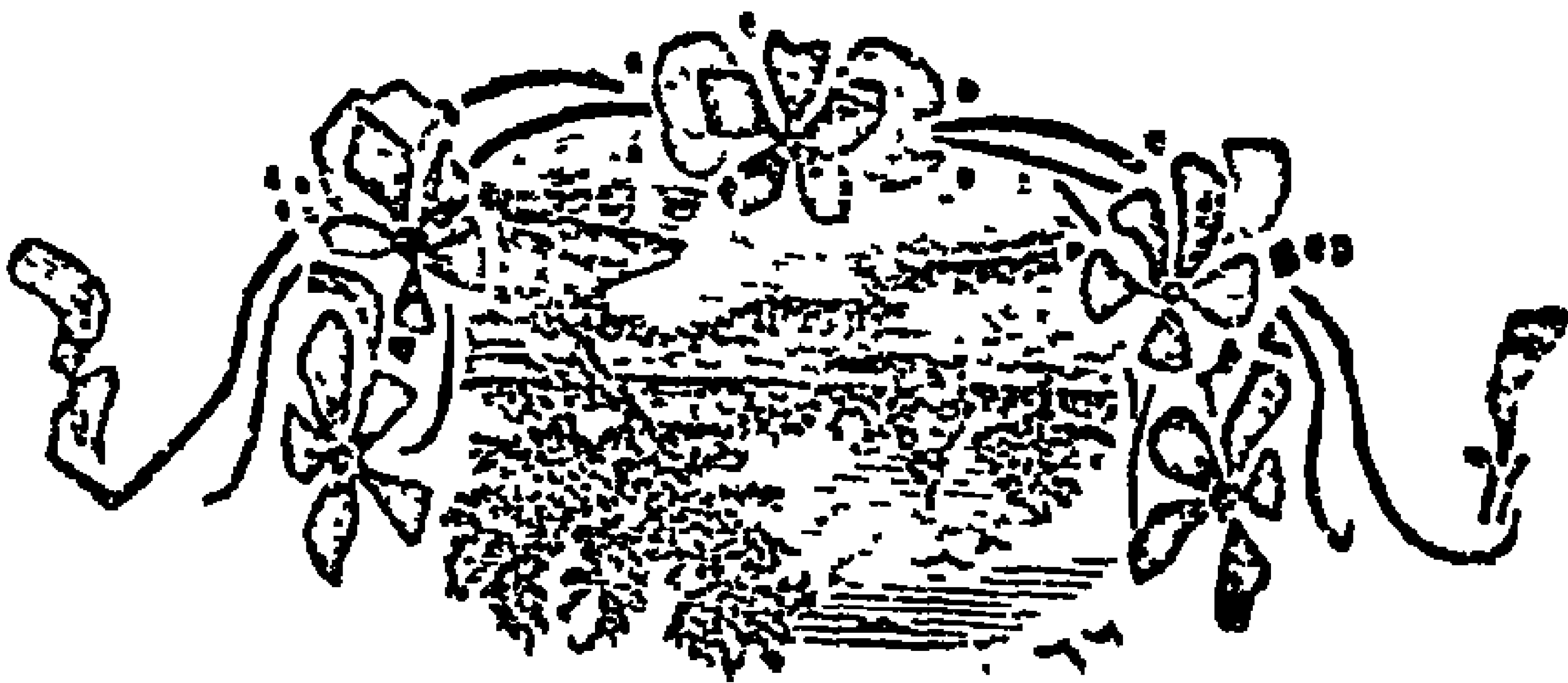
अभ्यन्तरमें है, उसके आदेशके बिना टस-से-मस नहीं हो सकता। स्वयम् अधिष्ठाता बनकर सब कुछ कर रहा है—मैं देखता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं पकड़ता हूँ, मैं उठता हूँ, मैं बैठता हूँ, मैं सोता हूँ, मैं जागता हूँ, मैं नाना प्रकारकी सृष्टि करता हूँ, मेरे हाथ, मेरे पैर, मेरा सिर और मेरे ही नेत्र आदि सब अङ्ग हैं, सकल शरीर मेरा ही है, मैं इस सबका अधिष्ठाता हूँ, मेरा ही इन सबपर अधिकार है, मैं जो चाहता हूँ इनपर शासन करता हूँ, मेरी आज्ञाके बिना इस शरीरका रोम भी नहीं हिल सकता, ऐसा जानता हुआ भी उसको पूछता ही फिरता है, इससे अधिक और क्या आश्चर्य होगा ?

प्रमाणवाक्य कहता है—स्वयं अपनेको अपनेसे न्यारा देखना चाहता है, देश-विदेशमें उसीको जाननेके लिए महात्माओंके सत्संगके लिए दौड़ता है, पर्वतोंकी गुफाओंमें नेत्र बन्द करके समाधिमें देखनेकी चेष्टा करता है, गीता, भागवत आदि नाना सच्छास्त्रोंको घूर-घूरकर देखता है फिर भी उसको प्राप्त न होकर मोहित होता है, संशयग्रस्त होता है। कहां खोजूँ ? कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? कौन सद्गुरु है ? इत्यादि व्यामोह करता है। क्या यह थोड़े अचम्भेकी बात है ?

प्रमाणवाक्य कहता है—तुम जिसको पूछते फिरते हो, वही तो तुम हो। वह आध्यात्मदीप है, स्वयम् अपना प्रकाश आप ही कर रहा है। उसके लिए क्या कष्ट है, वह स्वयम् सर्वत्र प्राप्त, स्वयंलभ्य और स्वयंप्रकाश है।

वह अव्यक्त है, स्थावर और जङ्गम जगत्के समान व्यक्त या स्थूल नहीं है, क्योंकि वह सब कार्यमात्रका कारण है, अर्थात् सब जगत्से प्रथम होनेके कारण ही वह अव्यक्त है। जगत्से पहले रहनेवाली वस्तुको कौन और किस तरह देखे। वह परमाणु भी नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्म—बृहत् है। एवं बृहत् होनेपर भी वह प्रधान नहीं है, क्योंकि ज्योतिःस्वरूप—चेतन है, तथा वैशेषिक आचार्योंके संमत तत्त्वके समान गुणवाला भी नहीं है, क्योंकि वह निर्गुण है—उसमें कोई गुण नहीं है। उसी प्रकार मीमांसकोंके सम्मत तत्त्वके समान ज्ञानपरिणामी भी नहीं है—ज्ञानरूपसे परिणत होनेवाली वस्तु भी नहीं है, क्योंकि वह निर्विकार है—उसमें कोई विकार नहीं होता। ऐसे ही पुष्कराक्ष आदि आचार्योंके सम्मत तत्त्वके समान शक्तिविक्षेपरूपसे परिणत होनेवाला भी नहीं है, क्योंकि वह सत्तामात्र है—'है' ऐसी ही उसकी प्रतीति होती है, उसमें किसी प्रकारके परिणामकी संभावना नहीं है।

ऐसी अवस्थामें उसको सामान्य या जातिरूप भी न समझना चाहिए। क्योंकि सामान्यके अन्तर्गत विशेष धर्म भी होता है। जैसे—वैशेपिकदर्शनमें द्रव्यत्व एक सामान्य है तो उसके अन्तर्गत पृथिवीत्व आदि विशेप धर्म भी होते हैं, किन्तु उसमें पृथिवीत्व आदि धर्मके समान कोई विशेप धर्म नहीं है। इसी प्रकार जो वस्तु कारणरूप होती है, वह क्रियायुक्त होकर ही किसी कार्यको उत्पन्न करती है, इस कारण यदि वह परमात्मा जगत्का कारण है, तो उसमें क्रियाका सद्भाव होना चाहिए, किन्तु वह निरीह है उसमें कारण होनेपर भी कोई क्रिया नहीं है। वह जगत्को इस प्रकारसे उत्पन्न करता है, जिस प्रकार कुसुमलता दर्शनमात्रसे दर्शकको सुख उत्पन्न करती है, किन्तु उस कार्यके लिए उसमें कोई क्रिया नहीं होती। सर्वथा वह सर्वजगत्से विलक्षण है, उसकी पहचान अध्यात्मदीपन धर्मसे ही है। अध्यात्म वस्तुओंका प्रकाशन उसका असाधारण कार्य और लक्षण है। जिसको उसकी जिज्ञासा हो, वह अध्यात्म-चिन्तनसे अपने-आपमें ही उसे पा सकता है, अन्यथा नहीं।





श्रद्धाञ्जलिः

अद्वैत-वेदान्त एवं शब्दशास्त्रके अगाध विद्वान् ब्रह्मनिष्ठ गङ्गातीरनिवासी अच्युत मुनिजी महाराजसे 'अच्युत' के पाठक अपरिचित नहीं हैं। मुनिजीने अपने पुण्यमय जीवनमें अनेक भूले-भटकोंको सन्मार्ग दर्शाया, वेदान्तके गूढ़ तत्त्वका, अत्यन्त सरलतासे, उपदेश देकर अनेकोंका जीवन सफल किया और अनेकोंको भगवदुपासनाकी ओर प्रवृत्त किया। आपका ज्ञानमय हृदय भगवद्भक्तिसे परिप्लावित था भगवान्‌के पुनीत चरितोंके स्मरण एवं श्रवणसे आपका हृदय गद्गद हो जाता और नेत्रोंसे आसुओंकी झड़ी लग जाती थी। इतने दिन बीतनेपर भी आपका वह दिव्य चित्र सदा दृष्टिके सामने ही प्रतीत हो रहा है। आपकी दैनिकचर्या और चरित भी उपदेशमय ही थे, केवल आपके संसर्गमात्रसे ही बहुतसे साधारण पुरुष सन्त बन गये हैं। 'अच्युत' आप ही के नामका स्मारक है।

मुनिजी अब हम लोगोंके चर्म-चक्षुओंके गोचर नहीं हैं। वे अनेक वर्षों तक लगातार संसारको वेदान्त-सुधाका पान एवं भगवद्भक्तिका रसास्वाद कराकर विगत वर्ष पौषकृष्ण २ गुरुवार सं० १९९२ तदनुसार १२ दिसम्बर १९३६ को भागीरथीके विमल सलिलसे सतत परिपूत ब्रह्मविद्याके मननसे परिशोधित नश्वर पाञ्चभौतिक शरीरका, निर्वाणधाम काशीपुरीमें भगवान् श्रीविश्वनाथजी-के समक्ष ज्ञानवापीपर, त्याग कर ८५ वर्षकी अवस्थामें ब्रह्मीभूत हो गये हैं।

इन पंक्तियोंके लेखकको भी कुछ दिन (लगभग १ मास) मुनिजीकी पुण्यसन्निधिमें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन दिनों मुनिजीकी चलती फिरती कुटिया कर्णवासके पास भागीरथीके तीरपर लगी थी। अहा क्या आनन्द

था ! हिमशुभ्र वालुकामय भागीरथीतीरके एक ओर पतित-पावनी कल्मष-हारिणी गङ्गाजीकी विमलधारा बहती थी और दूसरी ओर चित्तपावनी अज्ञान-नाशिनी ज्ञानधारा बहती थी। मुनिजी इस तरह वेदान्ततत्त्वोंका उपदेश करते थे कि बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, विद्वान् और मूर्ख सभीको एक-सा आनन्द मिलता था। गूढ़से गूढ़ विषयको लौकिक दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट करके सर्वसाधारणके हृदयङ्गम करा देनेकी मुनिजीमें एक अलौकिक शक्ति थी। उनके सामने तर्क-वितर्क ठहर ही नहीं सकते थे। शान्ति और प्रसन्नमुखमुद्रासे कठिनसे कठिन प्रश्नोंका सरलसे सरल रीतिसे समाधान सुन लीजिए।

बालकोंका-सा विशुद्ध स्वभाव, एकाग्र दृष्टि, एकान्त प्रेम, उपदेशकुशलता, शास्त्रोंपर अटल निष्ठा, अचल हरिभक्ति, सदा गङ्गाजीके अंकमें निवास इत्यादि मुनिजीके अनेक गुणगण चित्तको आज भी आनन्दित कर रहे हैं। पर अब मुनिजीका वह दिव्य-दर्शन कहाँ ? अब तो केवल श्रद्धाञ्जलि देकर ही चित्तको सान्त्वना देनी होगी—

[१]

शाब्दे शेषसमो नृवन्द्यचरणस्तर्केऽपरो गौतमः
वेदान्तेषु हितेषु शङ्करनिभः सर्वाश्रमाणां गुरुः।
ध्यायन् योऽमरनिम्नगातटभुवि ज्योतिः परं शाश्वतं
तत्रैवाऽऽप लयं प्रपाय्य शतशो वेदान्तविद्यां सुधाम् ॥१॥

शान्तिं तां नरदुर्लभां हरिपरां दृष्टिं च तां स्थेयसीं
दिव्यं तद्वचनामृतं स्मितयुतं तां देशनाचातुरीम्।
भक्त्या पूर्णमुदारमुज्ज्वलतमं स्वान्तं यदीयं शुभं
स्मृत्वाऽद्यापि समेति शर्म मनुजस्तस्मै परस्मै नमः॥

श्री श्रीकृष्णपन्त



[२]

धर्माद्विवेकात् तपसो विरागाच्छमाद्दमात् सोपरतेः श्रुतेश्च ।
परार्थलक्ष्म्या न कदापि मुक्तस्तस्मान्मुनिं वाऽच्युतमानतोऽस्मि ॥१॥

श्रीमन्मुने शुभगुणाच्युत विश्ववन्द्यपादारविन्दयुगलस्य नतिं प्रपन्नाः ।
आलिङ्गिताः सुभगया परमार्थलक्ष्म्या वैराजकं ननु पदं तृणवद्विदन्ति ॥२॥

कस्ते गुणान् गुणगणाश्रय गीतकीर्तेर्विद्वानुपाकलयितुं सहसा यतेत ।
मात्सर्य्यमान्द्यमधुमत्तमना न वा चेच्चेतोधृताऽच्युतपदस्य विभोः सुधाम्नः ॥३॥

सन्दर्शनेन जगतोऽखिलपङ्कनाशः संसेवनाच्च सुभगाऽच्युतमुक्तिभूपा ।
सम्पीय कर्णकुहरैरुपदेशवाचं जीवन्त एव ननु मोक्षपदं व्रजन्ति ॥४॥

स्वामिन् प्रपञ्चपरमाश्रय निर्विकार कूटस्थ कर्मजडजीवगणैर्दुराप ।
यैः पूर्वपुण्यनिचयैः सुविशुद्धसत्त्वैर्ज्ञातोऽहमच्युत इति प्रगुणा बुधास्ते ॥५॥

त्वय्येव विश्वमखिलं विविधं विभाति नैदाघभानुकिरणेष्विव वारिपूरः ।
ज्ञाते त्वयि प्रशममेति विबोधकाले स्वापोत्थसृष्टिमिव सच्चिदनन्तरूप ॥६॥

स्वामिन्नचिन्त्यविभवस्य गुणान् गरीतुं के वा वयं तव जगत्त्रयवन्द्यकीर्तेः ।
किन्तु त्वदीयगुणकीर्तनजातपुण्यैरात्मानमेव किल पावयितुं प्रवृत्ताः ॥७॥

भिक्षुर्विभूतिकलितैरुपसेवितस्त्वं यायावरोऽपि ननु निष्क्रिय इत्यभाणि ।
मायाच्युतोऽपि ननु अच्युत इत्यजस्रमुद्घोष्यसे किल विचित्रचरित्रधाम ॥८॥

अप्येषणात्रयविमुक्तमतेर्यतेस्ते वाञ्छापदं न किमपीह चराचरेऽपि ।
स्याच्चेद्दयामय परानुगतोद्दिधीर्षा स त्वं गृहाण पुरतः समुपस्थितं माम् ॥९॥

त्वां दैवतं तव गुणैर्ग्रथितं यशोभिः पुण्यैर्विकाशसुभगैः कलितं तवैव ।
नूनं प्रकाममुपढौकयतीह पद्यपुष्पाञ्जलिं तव जनो हरिनाथ एषः ॥१०॥

श्रीहरिनाथशास्त्री



[३]

श्रीमज्ज्ञानवतां वरः प्रियकरो हर्युक्तभक्तः परः
जीवन्मुक्तिविवेकमग्न इह यः संबाधितो बालतः ।
शीलं भूषणमेव यस्य वसुधैवैषा कुटुम्बं मतम्
निर्वाणास्पदमेति शश्वदधुना भूत्वा विदेहो भृशम् ॥१॥

अयि चिन्मय सद्गुरो त्वया सहसाऽद्य क नु गम्यते वद ।
वयमत्र जना विनाकृता भवता शून्य इह त्वनाथिताः ॥२॥

च्युतमेकपदे महोत्पलैर्निधनं दुःसहमेव तेऽधुना ।
हृदयं स्फुटतीव दारुणं क्षणिकेऽसारमये क्व नूत्सवः ॥३॥

तव निःस्पृह दीनशङ्कर क नु गच्छेद्वद दीनसेवकः ।
मुदमेति कथं कुमुद्वती शशिना चास्तमितेन दुःखिता ॥४॥

मुकुटाधिकृताङ्घ्रिपङ्कजैः कृपयाऽऽच्छादितएषबालकः ।
विरहानलपीडितस्त्वया प्रियदूरीकृत ईक्ष्यते कथम् ॥५॥

निरतोऽनिशमीश्वरस्तवे जितवाँल्लोभमदादिषड्रिपून् ।
अपवर्गफले दृढा मतिः पदवीमच्युत ! शाश्वतीमितः ॥६॥

गतोऽस्तमित ईश्वरोऽच्युतमुनिः सदानन्ददः
सतां गुणमणिः प्रियस्त्रिगुणतः परः सद्गुरुः ।
सुनिर्मलयशःप्रमोदधृतसुसेवको निःस्पृहः
रमेशवसतिं निरन्तरमरिन्दमो मुक्तिभाक् ॥७॥

सुबुद्धिं देहीद्धां मुनिवर ! न याचे धननिधिं
परार्थे मे कायं भवतु कृपया ते बल्युतम् ।
सदा शुद्धं शीलं भवतु परमं भूषणमपि
सकृज्जाड्यं हत्वा वितर यश उत्कृष्टमपि मे ॥८॥

श्रीजीवनरामचन्द्र भागवत बी. ए.

---

[४]

१

जिसकी छाया-सी रचना यह जिसकी यह अपार माया,
उसने संसृतिमें विस्मृतिका मधुर स्वप्न-सा बरसाया,
'अच्युत' किन्तु तुम्हारी स्मृति भूले नहीं भुलाती है।
एक वर्ष हो गया किन्तु वह फिर फिर फिर फिर आती है!

२

वाणीमें सामर्थ्य नहीं है भाषामें वह ओज कहाँ?
मेरे इन सूखे नयनोंमें सरस भला वह खोज कहाँ?
नहीं ज्ञानकी प्रखर ज्योति जो सत्स्वरूपको पहिचाने,
और कल्पने! सीमित तू भी, दिव्यरूप कैसे जाने?

३

कहाँ व्यास-सी विमल बुद्धि है और विवेक विचार कहाँ?
अर्जुन-सी उत्कट जिज्ञासा, बालक ध्रुव-सा प्यार कहाँ?
दिव्य गोपियोंकी-सी उरमें विमल स्नेहकी धार कहाँ?
दृक्तलसे ओझल होता है अभी यही संसार कहाँ?

४

स्वयंप्राप्त हे मुनिवर! मैं फिर कैसे तव गुणगान करूँ?
और आपके दिव्यरूपका कैसे मैं आह्वान करूँ?
इसी जगतका मैं तो प्राणी तुम हो दिव्यलोकवासी,
जानूँ कैसे आदि-अन्तसे रहित रूप वह अविनाशी?

५

महती कृपा आपने की थी और स्वयं स्फुरणास्वरूप,
आप हुए थे प्रकट जगतमें, क्या न वही था 'अच्युत' रूप?
अपने उस अच्युत स्वरूपमें भक्तोंका कल्याण किया,
जिज्ञासू जिज्ञासा भूले, मुमुक्षुओंने ज्ञान लिया॥

६

कितनोंने स्वरूप पहिचाना, कितनोंने मस्तक नाया,
कितने ही भूले-भटकोंने तुम्हें देख सत्पथ पाया।
कितने आशाहीन पुरुषोंने तुम्हें देख आशा पाई
ज्ञान, कर्म औ भक्तियोगकी त्रिवेणी वही आई॥

७

कल्पद्रुमकी भाँति आपसे जिसने जो चाहा पाया,
दीन और दलितों ने समझा दुखमें यह आश्रय आया,
कितना वृहत् रूप था प्रभुवर! अखिल विश्वकी ज्योति महान,
कैसे कोई भी कर पाता उस स्वरूपका कुछ अनुमान ?

८

स्वयंब्रह्म, 'अच्युत' अविनाशी तुम्हें भला मैं क्या न कहूँ ?
आदि-अन्तसे रहित तुम्हें मैं भक्तोंका भगवान कहूँ !
अर्जुनसे सच्चे जिज्ञासू का मैं तुमको कृष्ण कहूँ !
या भिलनीके प्रेमपाशमें बँधनेवाला राम कहूँ ?

९

राम कहूँ? या कृष्ण कहूँ? या अहं ब्रह्मका ज्ञान कहूँ।
तेजपुंज मैं कहूँ तुम्हें या जगका अमर विधान कहूँ ?
शेष-शारदा पा न सके हैं जिस स्वरूपका कुछ व्यवधान,
वह सब बतला कर भी तुमको कहो भला मैं क्या न कहूँ ?

१०

अणु-अणु व्यापी महाशक्ति औ अन्धकारमें ज्योति महान्,
कण-कण प्रेरित करनेवाले तुम वाणीके विषय कहां ?
भरसक कह लेनेपर मुझको किञ्चित भी सन्तोष नहीं,
हे अनन्त तुम क्षमा करो तो मैं तुमको अज्ञेय कहूँ।

११

'अच्युत' मेरे अन्धकारमय मग को कुछ प्रकाश कर दो,
विमल ज्ञानकी ज्योति जगाकर कुछ अपनी आभा भर दो !
भर दो ऐसी ज्ञानराशि जिससे नित विमल विचार उठें,
अर्जुनके ये शब्द आन मेरी वाणीसे आप उठें।

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत !।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥"

श्री श्रीनिवास एम. ए.

आध्यात्मिक होली

[एक परमहंस महात्माका प्रसाद]

वेदान्तवेद्य, अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्दसुधाजलनिधि, ब्रह्मेन्द्रादिकिरीट-कोटीडितपादपीठ * श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दकी तरङ्गस्थानीय परम अन्तरङ्ग परा प्रकृतिरूपा अनन्त जीवात्मिका शक्तियाँ अपने प्रियतमके सम्मिलनके विना अनादि कालसे अत्यन्त ग्लानि और म्लानिसे युक्त होकर छट-पटा रही हैं। चिदानन्दमयी जीवात्मिका शक्तिका अतात्त्विक अनिर्वाच्य अविद्यामय आवरणात्मक व्यवधानको हटा कर सर्वव्यवधानशून्य तादात्म्यापत्ति-स्वरूप संश्लेपको प्राप्त करना ही सम्पूर्ण पुरुषार्थोंके सारके रहस्यको जाननेवाले महात्माओंकी दृष्टिमें परम पुरुषार्थ है। परन्तु इसका मूल प्रियतमभावरस-भाविता मति ही है। इसकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय प्रियतमसम्मिलनके लिए व्याकुलता या चञ्चलता ही है—

"कृष्णभावरसभाविता मतिः, क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र मूल्यमपि लौल्यमेकलम्,"

परन्तु मायामोहित होनेके कारण वे अपने प्रियतम और उनके साथ अपने सम्बन्धको भूलकर मायामय नाना प्रलोभनोंमें आसक्त हैं। अतएव प्रियतमके संगसे उत्पन्न होनेवाले दिव्य सुखरूप सुधाके समास्वादनसे वञ्चित हैं। बिना किसी कारणके ही करुणा करनेवाले प्राणनाथने अपनी चिदानन्दमयी प्रियतमाओंको स्वसंश्लेषजन्य दिव्य सुखसे वञ्चित जानकर और ये मायामोहसे सम्बन्धज्ञान एवं अपने सर्वस्वके सम्मिलनसे होनेवाले सुखानुभवसे रहित हैं, अत एव सम्मिलनलौल्यरूप सम्मिलनके असाधारण हेतुको प्राप्त नहीं कर सकतीं, परन्तु मैं तो सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् हूँ, फिर इन म्लानिपरम्परानिमग्न विरहिणी प्रियतमाओंकी विरहव्यथाको क्यों न दूर करूँ, यह समझकर पहले तो शास्त्र तथा शास्त्रज्ञरूप सन्देशहरोंसे अपने अनन्तमाधुर्यसारसर्वस्व तथा उसके आलिङ्गनसे उत्पन्न होनेवाले परम आनन्द एवं सम्मिलनवाञ्छाको उत्तेजित करनेवाले अविघटनशील तादात्म्यसम्बन्धका सूचन करके प्रियतमा-ओंको सम्मिलनके लिए प्रोत्साहित किया। सन्देशों द्वारा ही प्रियतमाओंके

* ब्रह्म, इन्द्र आदिके मुकुटकोटिसे संस्तुत है पादपीठ जिनका।

हृदयमें सम्मिलनके विना व्याकुलताका संचार होता है। भगवत्सम्मिलनके लिए उत्कट व्याकुलता ही अनन्त पाप, ताप आदि प्रतिबन्धकोंको दूर करके सम्प्रयोग-रसामृतका यथेष्ट अवगाहन करती है। अतः मानो प्रियतम ही विरहव्यथा-सम्मिलनचञ्चलताको पूर्णरूपमें उद्दीपित करनेके लिए अनेक प्रकारके उद्दीपन विभावोंको व्यक्त करते हैं, इसीसे प्रभुके मनके अनुकूल 'अपरा प्रपञ्चप्रकृति प्रभुके इशारेसे ही अनन्त प्रपञ्चको प्रदर्शित करती हुई मानो प्रभुप्रसन्नताके लिए व्यग्र है। प्रतिक्षण परिणमनशाली उसके प्रत्येक तत्त्व बड़ी उतावलीके साथ मानो प्रभुसम्मिलनके लिए प्रगतिशील हो रहे हैं—मेघमण्डल, नक्षत्र-मण्डल, सूर्य, चन्द्रमा, तदाधार प्रवह वायु, तेजोमण्डल, जलपूरित नदी, नद आदि एवं पृथिवी, पार्थिव, वीरुध आदि अनन्त प्रपञ्च स्वाधिष्ठानभूत अनन्त चैतन्या-नन्दघनके सम्मिलनके ही लिए व्यग्र होकर उसीके भीतर चञ्चल हो रहे हैं।

यद्यपि ये सब अनन्त चैतन्यानन्दसुधा-जलनिधिके भीतर ही हैं और उनके भीतर, वाहर, मध्यमें परमाणु-परमाणुमें उनका प्रियतम व्याप्त है, तथापि 'बरफ-पूतरी सिन्धुविच, रटत पियास-पियास' की स्थिति प्रत्यक्ष ही है।

प्रत्येक ऋतु किसी न किसी भावको ही लेकर प्रकट होती है। प्रत्येक वस्तु भावसे ही भरपूर है। वसन्तके समागममें प्रकृतिके समस्त विकारात्मक भावोंमें कोई नवीन उत्साह-शक्ति भर जाती है। वृक्ष, लता आदि वनस्पतियोंमें ग्लानिके अनन्तर पुनः अरुणदल अङ्कुरित होते हैं मानों तीव्र वियोग-व्यथासे शुष्क होकर पुनः सम्मिलनकी आशासे पल्लवित होते हैं। यही स्थिति रसकी होती है कभी नैराश्य और कभी आशा। वसन्त मदनसखा है। उसकी सहायतासे एवं किंशुक आदि पुष्प, सुकोमल पल्लव, स्तवक आदिके विकाससे प्राकृत नायिकाओंमें भी प्रियतमसम्मिलनका उत्साह वढ़ जाता है। फिर प्रकृति और प्राकृततत्त्व अपने प्रियतमके सम्मिलनके लिए क्यों न उत्सुक हों। नायिका अपने नायकके तीव्रवियोगजन्य तापसे सन्तप्त होकर सम्मिलनसम्भावनासे रागान्वित होती है। वियोगाग्निसे शुष्क एवं पीतताको प्राप्त नायिकाओंमें भी मिलनसम्भावनासे अरुणिमाका सञ्चार होता है, मानो उसीका द्योतक गुलाल-प्रसार होता है। दिग्-दिगन्तमें गुलालके संचारसे मानो रागका ही संचार होता है—उत्सुकताका संचार होता है। मानो ये सभी भाव चिदानन्दमयी परा प्रकृतिरूपा अन्तरङ्ग शक्तियोंको भी चिदानन्दघन प्रियतमके सम्मिलनके लिए उत्सुक कर नवीन

प्रयत्न तथा चञ्चलताका सञ्चार करते हैं। तीव्रवियोगाग्निमें समस्त प्रतिबन्धक शुभाशुभ कर्मोंको जलाकर स्थायी अनुरागका प्रसार किया जाता है। यही होलिकादहनके अनन्तर रोलिकाप्रसार है। व्रजाङ्गनाएँ भी दुःसह प्रियतमविरहरूपी तीव्र तापसे शुभाशुभ कर्मरूप प्रतिबन्धको दूर करके स्थायी रागसे रञ्जितचित्त होकर व्रजेन्द्र-नन्दनके साथ होली खेलकर अपने रङ्गमें प्रियतमको रँगकर प्रियतमके रङ्गमें स्वयं रँग गईं। चिदानन्दमयी जीवरूपा प्रकृति भी यहाँ तक रञ्जित होती है कि भीतर-बाहर प्रियतम स्वरूप ही हो जाती है। प्रियतम ही मैं हूँ या मैं ही प्रियतम हूँ—'असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका', 'कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्'। प्रियतम ही मैं हूँ, ऐसी स्थिति व्रजसीमन्तिनियोंकी भी थी। परमाह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनीकी भी 'मधुरिपुरहमिति भावनशीला' के अनुसार यही स्थिति थी। इधर निर्मल प्रज्ञारूपा नायिका भी अपनी अनन्त वृत्तिरूप अनन्त सखियोंके साथ प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमानन्दघन भगवान्के संमिलनके लिए व्यग्र है। आशा-निराशाके मध्यमेंक ष्टमयी स्थितिका अनुभव चिरकालसे प्रवृत्त ही है। विचार एवं तीव्र वैराग्यरूप अग्निसे बाह्य आशापाशोंको जलाकर बोधरूप रङ्गमें रञ्जित द्रष्ट्यन्तरशून्य तथा दृश्यसंसर्गशून्य होकर प्रियतमके स्थिर संश्लेषका अनुभव करती है स्वरूपबोधक वाक्य या अभिधानरूप पिचकारी द्वारा स्निग्ध-मानसपरिणामरागोपेत बोधरूप रङ्गसे प्रियतमको अपने रङ्गमें रँग देती है और प्रियतमके स्वरूपमें अपने को रँग लेती है अर्थात् प्रियतमके ही आकारमें आकारित हो जाती है।

कमलदललोचनालोचनपरम्परामें अपनेको रँगकर अरुण होलिकोत्सवके गुलालरोलिकाके विस्तारमें सपरिकर नायकशिरोमणि श्रीकृष्णचन्द्र और नायिकाशिरोमणि श्रीराधारानी दोनों एकरूप हो गए। आकाश, वन, उपवन, लता, वृक्ष सर्वत्र ही अरुणिमा छा गई, मानो एक अनुरागरसके साथ सम्पूर्णतया विश्वकी ही तादात्म्यापत्ति हो गई। रसविशेषके विकाशमें वृषभानुसुताकी अन्तरङ्ग प्रिय सखियाँ चतुरचूड़ामणि रसिकशेखरको नवलनागरीके आभरण-वसनसे भूषित करके अपनी स्वामिनीके सांनिध्यमें सर्वथा उनके अधीन या उनके रूपमें ही व्यक्त करती हैं। कभी अपनी स्वामिनीको उनके प्रियतमके रूपमें व्यक्त करती हैं, मानों वृत्तियां प्रत्यक्चिदानन्दको अपनी स्वामिनी प्रज्ञा देवीके रूपमें परिणत करके सर्वथा तदधीन या तद्रूप ही बना

देती हैं—'ध्यायतीव लेलायतीव'। कभी अपनी स्वामिनीको ही उनके स्वामीके स्वरूपमें अर्थात् चिदानन्दस्वरूपमें व्यक्त करके दोनोंको नेहनिकुञ्जमें एक करके स्वयं अदृश्य हो जाती हैं अथवा साक्षात् चिदानन्दमयी परा शक्ति स्वयं ही प्रेमोन्मादमें या तत्त्वदृष्टिसे प्रियतमको स्व-स्वरूपमें ही परिणत कर परिरम्भण करती है। कभी अपनेको ही प्रियतमके रूपमें परिणत करके तादात्म्यापत्तिरूप संश्लेषका अनुभव करती है—'यो वै भगवो देवते त्वमसि'।

परप्रेमास्पद प्राणनाथका परिरम्भण बड़े सौभाग्यसे ही होता है। उसमें बड़ी योग्यताकी अपेक्षा होती है। सम्मिलनसम्भावनासे उत्सुकता होती है। जैसे एक दीन-हीन भिक्षुकीको वैषम्यावधारणके कारण सम्राट्के परिरम्भणकी सम्भावना ही नहीं होती, अतः उसकी उत्सुकता अभ्युदित ही नहीं हो सकती। इसी वास्ते यद्यपि प्रभुने 'सखायौ सयुजौ सुपर्णौ' इत्यादि सन्देशवाक्योंसे परम घनिष्ठ तादात्म्यसम्बन्ध सूचन किया है। जहां जीवशक्तियाँ अपनेको कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक अनर्थोंसे संयुक्त दीन-हीन एवं प्रभुको नित्य, शुद्ध, मुक्त, अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-नायक समझकर विषमतावश प्रभुपरिरम्भण दुर्लभ समझती थीं, वहाँ प्रभुने सूचित किया कि तुम्हारा प्रभु तुमसे दूर नहीं, किन्तु समान ही स्थानपर तुम दोनोंका निवास है—'समानं वृक्षं परिषस्वजाते'। 'सखायौ' समान ही तुम दोनोंका ख्यान अर्थात् स्फुरणरूप स्वरूप है तथा समान ही निर्मल चेतन सहज सुखराशिरूपसे तुम दोनोंकी ख्याति भी है। फिर ऐसे अत्यन्त सजातीय सदा ही संनिहित रहनेवाले प्रियतमको दुर्लभ समझकर लालसाकी कमी क्यों? यद्यपि हो सकता है कि प्रभु असंग है, अतः साजात्य और सन्निधान होते हुए भी प्रिय-संस्पर्श दुर्लभ हो, तथापि 'सयुजौ'—सदा ही सम्बन्ध विद्यमान है। युज्यते अनेन इति युक्, समानः—अविशेषो युक्—तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो ययोस्तौ सयुजौ। समानदेशनिवासी होनेपर भी विजातियोंका सम्मिलन नहीं हो सकता, परन्तु तुम तो दोनों ही सुपर्णरूपसे सजातीय हो। साजात्य होनेपर भी भिन्न देश होनेसे सम्मिलन असम्भावित होता है। परन्तु यहांपर तो साजात्य, सादेश्य दोनों ही हैं। चेतन आनन्दरूप होनेसे तुम्हारा साजात्य एवं समानदेश होनेसे सादेश्य है। ऐसी स्थितिमें विषमताका कोई हेतु नहीं है। इतना ही नहीं, प्रत्युत भेदक वैधर्म्य न होनेसे भेद भी असिद्ध ही है, क्योंकि स्वरूपभेद तथा देशभेद न होनेपर वस्तुका भेद ही कैसे सिद्ध हो सकता है?

स्वरूपभेद या देशभेदसे ही भेद सिद्ध हो सकता है। यह नहीं हो सकता कि समान स्वरूपवाले दो आकाश समान ही देशमें रहें। हाँ, सोपाधिक और निरुपाधिक भेदसे या घटाकाश और मठाकाश भेदसे एक ही देशमें एक रूपमें दोनों रह सकते हैं। जैसे मठान्तर्गत घटके होनेसे मठाकाश और घटाकाशका साजात्य एवं सादेश्य कहा जा सकता है। समान वृक्षपर दो पक्षी रहते हैं, परन्तु उनका सादेश्य निरुपचरित नहीं है, क्योंकि जिस स्थानमें एक पक्षी है, उससे भिन्न ही स्थानमें दूसरा पक्षी है। सर्वथा सादेश्य असम्भव ही है। परन्तु प्रकृतमें जीवरूप पक्षी चाहे परिच्छिन्न ही क्यों न हो, किन्तु परमेश्वररूप पक्षी तो सर्वसम्मतिसे अपरिच्छिन्न—व्यापक—है। उससे शून्य देश ही नहीं है, जहां जीवरूप पक्षीकी स्थिति हो। हाँ, यदि आकाशके समान अन्तःशून्य हो, तो हो भी सकती है। किन्तु निरवकाशात्मक परमात्मामें तो वही गति है, जो कि तादात्म्यसम्बन्धके योग्य हो। कहीं साजात्य और सादेश्य होनेपर भी दुरदृष्टवश वैर होता है, परन्तु यहां तो परम सख्य है।

इस तरह लोकप्रसिद्ध वैषम्यका निवारण करके सम्मिलनसम्भावना स्थिर की गई। कुछ महानुभावोंका कथन है कि जैसे दूरस्थ प्राणियोंको वनस्पति एकत्वेन गृहीत होता है, सामीप्य होनेपर उसकी शाखा, उपशाखा, पल्लव, पत्र, पुष्प आदिका भेद प्रतीत होता है, वैसे ही पहले केवल अद्वैततत्त्वका ही बोध होता है। तत्त्वसान्निध्य होनेपर चित्-अचित् विशेषणोंसे विशिष्ट तत्त्वका ग्रहण होता है। तथा च पहले विद्यमान भी विशेषणभेद दूरस्थत्वादि दोषसे केवल अद्वैतके अनुभवियोंको व्यक्त नहीं होता है। सान्निध्य होनेपर अन्तरङ्ग भावुकोंको विशेषण गृहीत होते हैं। इसीमें 'चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा'—इस माघके श्लोकका भी उपस्थापन करते हैं। लोगोंको पहले श्रीदेवर्षि नारदमें दीप्तिचयमात्रकी बुद्धि हुई। सान्निध्य होनेपर क्रमशः विशिष्ट बोध हुआ। परन्तु प्रकृतमें यह दृष्टान्त अत्यन्त ही असंगत है। कारण, दृष्टान्तोंमें तो प्रथम निर्विशेषता और अद्वितीयता गृहीत होती है पश्चात् सविशेषता और सद्वितीयता गृहीत होती है, यह सर्वसम्मत है। परन्तु दार्ष्टान्तमें तो अद्वितीयता और निर्विशेषता पूर्णातिपूर्ण साधनाभ्यासके बिना गृहीत ही नहीं हो सकती। सविशेषता और सद्वितीयता तो किञ्चित्प्रयत्नके बिना भी अत्यन्त पामरको भी प्रसिद्ध ही है। फिर प्रथम बहिरङ्गोंको अद्वितीयता और निर्विशेषता गृहीत होती है, यह कथन स्वाप्निक विलास ही है। तथा अत्यन्त बहिर्मुख पामरग्राह्य सद्वितीयता और सविशेषताको अन्तरङ्ग प्रयत्नग्राह्य कहना भी बुद्धिका ही खेल है, अतः इस विषयपर कुछ भी कहना व्यर्थ है।

वास्तवमें यहां अबोधपूर्वक अद्वितीयता नहीं है, किन्तु वह बोधका ही दिव्य फल है। जैसे सप्रतिबिम्ब दर्पण स्वविलक्षण शुद्ध अपने निष्प्रतिबिम्ब रूपमें प्रतिबिम्बको विलीन कर, भेदभ्रमको मिटा कर ऐक्यापत्तिरूपका अनुभव करता है। यहाँ अपने ही वास्तव स्वरूपका भूलना विप्रयोग है एवं अपने ही वास्तव स्वरूपको पहचानना दिव्य सम्प्रयोग है—

अपुन पो आपुन ही बिसर्यो। अपुन पो आपुन ही में पायो ॥ (सूर०)

सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि योगी।

सो हरिपद अनुभवै परम सुख अतिशय द्वैतवियोगी ॥ (तुलसी०)

यहां उसी सकल दृश्य भेदका स्वस्वरूपमें विलयन कहा गया है, वह भी निद्रा त्यागकर, सुषुप्तिकी तरह नहीं; क्योंकि वहाँ तो कारणरूपसे प्रपञ्चभ्रम विद्यमान ही रहता है। परन्तु यहाँ आत्यन्तिक स्वरूपसे ही भेद-भ्रमका मिटाना विवक्षित है, यही अतिशय द्वैतवियोग स्व-स्वरूपाभिन्न हरिपद-अनुभव है यही प्रियतमपरिष्वङ्ग है। प्रभुने सन्देशवाक्योंके सिवा साक्षात् भी अपने सखासे अपना सम्बन्ध बतलाया है। वह सम्बन्ध यही तादात्म्यस्वरूप है—

'अहं भवान् न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः।

न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि ॥'

यद्यपि असंगमें मुख्य सम्बन्ध नहीं है, तथापि महाकाश और घटाकाश एवं महासमुद्र और तरंगके समान तादात्म्य सम्बन्ध है अर्थात् जैसे तंरगके भीतर और बाहर जल ही परिपूर्ण है, वैसे ही तुम्हारे भीतर, बाहर और मध्यमें प्रियतम ही परिपूर्ण है।

इस तरह प्रभुके सन्देशसे भी यदि मायामोहित होनेके कारण यथार्थ सम्बन्धका साक्षात्कार न हुआ, तो धर्मानुष्ठानके द्वारा अन्तर्मुखताका सम्पादन करना सूचित किया गया।

इस तरह वसन्तागम, होलिकादहन, पतझड़, नवपल्लवसञ्चार, गुलालप्रसार, सुहृत्संमिलन, दुर्गापूजन आदि ये सभी विश्वव्यापी प्रकृतिविलास चिदानन्दमयी परा प्रकृति जीवशक्तिके प्रियतमसंस्मरण, सम्मिलनलौल्य, प्रयत्नानुष्ठान और सम्मिलनमें सहायक होते हैं। स्थूल दृष्टिमें भी वसन्त प्राचीन-नवीन भावोंकी सन्धि है। एक ओर ग्लानि और म्लानि सहित प्राचीनताकी समाप्ति, दूसरी ओर हर्ष, उत्साह और उल्लासके साथ-साथ नवीनताका सञ्चार हो रहा है। प्राचीन संवत्सरकी समाप्ति होलिकादहनसे ही मानी जाती है।

जैसे प्राचीन सम्राट्का शासनकाल समाप्त होने तथा नवीन शासनकाल आरम्भ होनेसे नवीनता होती है। प्राणी वाद्य, गीत तथा गुलालादिप्रसार द्वारा परस्पर सम्मिलन कर प्रेम-उत्साहसे समन्वित होकर अभ्युदयके लिए प्रयत्नशील होते हैं।

अभ्युदयका मूल शक्तिपूजन है, अतः दुर्गापूजनकी भी सङ्गति ही है। यह प्रकृतिका चक्र सदा ही परिवर्त्तनशील है। यह नहीं कि प्राक्तन भावोंसे अत्यन्त नवीन ही भावोंका आगमन हुआ हो, किन्तु 'भूत्वा भूत्वा स एवायं भूतग्रामः प्रलीयते' के अनुसार यह उसीका या उसके सजातीय तत्त्वका ही गमनागमन है। प्राचीनता ही एक दिन नवीन रूप धारण करती है। जो वृक्ष कभी नीरस पत्र-पल्लव आदिसे विहीन होता है वही फिरसे सुकोमल पल्लवदलोंसे सम्पन्न होता है। उसीके सुमधुररससौगन्ध्योपेत पुष्पस्तवकपरागसे आकर्षित होकर अलिकुलमालाएँ शोभा बढ़ाने लगती हैं। विविध कलभाषी विहंगम फिरसे वहीं निवास करते हैं। यही परिवर्त्तन-निराशामें आशाका सञ्चार करता है। अनुत्साह और खेदका त्यागकर साधकके मनमें फिरसे साधना-भ्यासकी तैयारी होती है। अवनतिकाल ही प्रेमकी परीक्षाका स्थान है। उन्नति-कालमें तो सभीका आकर्षण स्वाभाविक ही है। अवनतिकालमें भी जिसका प्रेम अक्षुण्ण है, वही यथार्थ प्रेमी है। भाँति भाँतिके सरोजोंसे परिपूर्ण सरोवरमें विविध प्रकारके विहंगम तथा भ्रमरवृन्द रहते ही हैं, परन्तु सरोवरकी श्रीविहीन अवनति-दशामें विहङ्गम अम्बरतलकी ओर भ्रमरवृन्द रसालमुकुलसौरभकी ओर खिसक जाते हैं। सभीके प्रेमका पता लग जाता है। फिर तो केवल अनन्य प्रेमी मीन ही रह जाता है। यही सुअवसर उसकी परीक्षाका है। यदि इस स्वर्णसंयोगमें वह चूक जाता, तो कविकुलमें 'जग यशभाजन चातक मीना' ऐसी प्रशंसा उसकी न होती। वह तो अनन्य है, कहाँ जाय? उसका कोई आश्रय ही नहीं है—

आपेदिरेऽम्बरतलं परितः पतङ्गाः,
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ते।
संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीने,
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥

यही स्थिति इस समय वर्त्तमान प्राचीन वृद्ध वैदिक सनातनधर्मके अनुरागियों की है। इसकी दीन-हीन दशा देखकर सभी इससे विरक्त हो रहे हैं। नाना प्रकारके मृगतृष्णिकामय प्रलोभनोंसे बड़े धैर्य्यशालियोंके धैर्य्य डिगने लगे हैं,

सनातनाभिमानियोंको भी उस वृद्धके अंग-भंग करने या उसके परिष्कार करनेकी सूझ हुई है, उसकी रक्षाके ठेकेदार ही उसके भक्षक हो रहे हैं। आखिर शास्त्र-ज्ञानाभिमानियोंको भी इन्हींके मतका समर्थन करना पड़ता है, क्योंकि अर्थतृष्णाके सामने विचारे धर्मकी क्या गणना, फिर तो प्रतिष्ठाविस्तार तथा जनसंग्रहके स्वार्थमें अन्धसाधक समाजके विपरीत शास्त्रोंमें कोई भी निषेध दृष्टिगोचर नहीं होगा। समस्त शास्त्र उच्छृङ्खल पन्थके ही पोषकरूपमें दिखाई देंगे। ऐसी स्थितिमें मीनके समान कोई विरल ही अनन्य वृद्ध वैदिक सनातनकी ही सेवामें अपनेको सौभाग्यशाली समझेगा। 'धत्ते धैर्य्यं तु यो धीमान्' वही अनन्त मायामय प्रलो-भनोंको ठुकरा कर घोर विपत्तिको सहनकर संसारभरकी उपेक्षा कर अकेले भी उस वृद्धकी ही सेवामें अपना सौभाग्य समझेगा। सामान्य प्राणी भी जब कि अपने लगाये हुए विष-वृक्षको बचानेके लिए प्रयत्न करता है। तब सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने प्रतिष्ठापित निःश्रेयसनिदान वैदिकधर्मके संरक्षणकी क्यों उपेक्षा करेंगे।

यह परिवर्तन, यह वसन्तागम उनके हृदयमें भी आशाका संचार करता है। उत्साहपूर्वक प्रयत्नशक्तिको जाग्रत् करता है तथा शक्ति उपोद्बलनके लिए महाशक्ति दुर्गाके आराधनकी अनुमति देता है। यह उपलक्षण है। समस्त पुरुषार्थके लिए निराशा-निराकरण और आशासंचारपूर्वक उत्साहशक्ति प्रयत्न आदिका साहाय्य वसन्तके इङ्गितसे प्राप्त होता है, अतः सुतरां चिदानन्दघनकी चिदानन्दमयी शक्तियोंको भी अपने प्रियतमके संश्लेषरूप परमपुरुषार्थमें साहाय्य प्राप्त होता है।

सपरिकर प्रकृतिका प्रभुसम्मिलनके उत्साहको देखकर उन्हें भी उत्कण्ठा होती है, सम्मिलनकी उत्कण्ठासे ही स्वाभाविक उच्छृङ्खलतारूप विघ्नको स्वधर्मा-नुष्ठान द्वारा दूर करके दुर्गमसंगमनी सर्वाभीष्टपूरयित्री श्रीदुर्गाकी आराधनाकी तैयारी करनी होती है। स्वाभीष्ट पतिमिलनके लिए कुमारिकाओंकी दुर्गा-पूजनकी पद्धति लोकमें भी प्रचलित है, मानो होलिकोत्सवसे उत्साहित होकर प्रियतमसम्मिलनके लिए योग्यतासम्पादनार्थ ही दुर्गापूजनका आगमन है। उत्कट-उत्कण्ठापूर्वक श्रीगौरीके समाश्रयणसे सब विघ्नोंकी निवृत्तिपूर्वक दुर्लभ तत्त्वोंकी प्राप्ति होती है। असुरोंसे उत्तप्त देवताओंने अनेक वार उसीके समाश्रयणसे विजयश्री प्राप्त की थी। अधर्मोद्भव धर्मग्लानिसे उद्विग्न धार्मिकोंने भी उसी भगवती परा शक्तिका समाश्रयण करके धर्ममें जीवनशक्तिके संचारका सम्पादन किया है।

सुखी हो जा ! शान्त हो जा !!

(लेखक—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

भाई ! चुपचाप क्यों बैठा है, उठ खड़ा हो, आलस्यको दूर भगाकर खड़ा हो जा, आलस्य अच्छा नहीं है। सब दुःखोंका मूल आलस्य ही है, आलस्यसे समस्त अनर्थ उत्पन्न होते हैं। आलसी मनुष्य गीतामें तमोगुणी कर्ता कहा गया है। निरुद्यमी मनुष्य मरे हुएके समान है। उसका जीना और न जीना एक-सा है। कुंभकर्णकी भाँति नींदमें दिन गँवाना अच्छा नहीं है। नींद त्याग दे, आलस्य दूर भगा दे, खड़ा हो जा, उद्यम कर। न करनेसे करना अच्छा है। विना कर्म किये देहका निर्वाह भी नहीं हो सकता। देहधारीको कर्म करना ही चाहिए, कर्म करनेके लिए ही तो विश्वनाथने यह शरीर दिया है। जो आलस्यसे कर्म करना छोड़ देते हैं, उनको इस लोकमें क्या परलोकमें क्या कभी भी सुख नहीं मिलता, प्रत्युत दुःख ही मिलता है। आलस्य समस्त अवगुणोंकी खान है, समस्त दुःखोंका भण्डार है। आलस्यको छोड़ दे, मोहनिद्राका त्याग कर दे। यज्ञ कर, तप कर, दान कर, धर्म कर, स्वाध्याय कर, धन कमानेमें कसर न कर। धनसे ही समस्त पुण्य कर्म होते हैं। यदि तू कहे कि थोड़ा-सा पेट भरनेके लिए कमा लिया करूँगा, तो यह तेरा कहना ठीक नहीं है। यहां तू कर्जा चुकानेको आया है, माताका कर्जा तुझे चुकाना है, पिताका ऋण तुझे देना है, आचार्यको धन देना पड़ेगा, ब्राह्मणोंका, राजाका, इष्ट-मित्रोंका कर्जा तुझे कौड़ी-कौड़ी चुकाना होगा। देवताओंका, पितरोंका, ऋषियोंका भी तेरे ऊपर ऋण है, उसे चुकाना तेरा धर्म है। ऋण चुकाये विना अनृण नहीं हो सकेगा, इसलिए धन कमानेमें कसर मत कर, धर्मसे कमा, पुरुषार्थ करके कमा, सिंहका-सा स्वभाव रख, गीदड़के समान दूसरेका जूठा खानेकी इच्छा मत कर। हाथ ऊँचा रख, किसीके सामने नीचा हाथ मत कर। जब कमावेगा ही नहीं तो किसीको देगा कहांसे ? श्रुति कहती है—'भूत्यै न प्रमदितव्यम्' यानी धनके लिए प्रमाद करना नहीं चाहिए, इसलिए धन कमा कर सबका ऋण चुका कर सुखी हो जा ! शान्त हो जा !!

यह श्रुति कहांकी है, क्या कुछ और भी कहती है, यह जानना चाहता है, तो सुन; तैत्तिरीय श्रुतिकी शिक्षावल्लीमें कहा है—स्वाध्यायसे वेदके अध्ययनसे—प्रमाद मत कर यानी नियमसे स्वाध्याय किया कर। आचार्यको गो, सुवर्ण, आदि धन शास्त्र विद्याके निष्क्रयके लिए ला कर दे। प्रजातन्तुका छेदन मत कर यानी अनुरूप भार्याके साथ विवाह करके पुत्र उत्पन्न कर, मोक्षके लिए भी पुत्रके उत्पन्न करनेकी आवश्यकता है, क्योंकि पितृ-ऋण न चुकाना भी मोक्षमें प्रतिबन्धक है। सत्यसे प्रमाद मत कर यानी सर्वदा सत्य भाषण और सत्य व्यवहार कर। धर्मसे प्रमाद मत कर यानी आलस्यसे स्वधर्मका त्याग कभी मत कर। कुशलसे प्रमाद मत कर यानी देहकी आरोग्यता आदिके उपायोंका नियमसे पालन किया कर। धन कमानेसे कभी प्रमाद मत कर। स्वाध्याय और प्रवचनसे कभी प्रमाद मत कर। माताका देवीके समान भजन कर। पिताका देवके समान पूजन कर। माता, पिता घरमें ही प्रत्यक्ष तीर्थ हैं, यह शिष्ट पुरुषोंका भी वचन है। आचार्यका देवके समान पूजन कर। अतिथिका देवके समान पूजन कर। सर्वथा निर्दोष कर्मोंका सेवन किया कर, दोषयुक्त कर्मोंसे दूर रहा कर इत्यादि श्रुतियां उद्यम करनेमें प्रमाण हैं। उद्यमके विना कुछ प्राप्त नहीं होता। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ उद्यमसे ही सिद्ध होते हैं। तमोगुणको रजोगुणसे जीतना चाहिए, रजोगुणको सत्त्वगुणसे जीतना चाहिए, सत्त्वगुणको गुणातीत परब्रह्मके अनुसंधानसे जीतना चाहिए, ऐसा वृद्ध पुरुषोंका मत है; इसलिए क्रिया करके आलस्यको भगा दे। आलस्यके दूर होनेसे यज्ञ, तप, दान और स्वाध्याय स्वयं ही विना प्रयत्नके अथवा थोड़े प्रयत्नसे होने लगेंगे, इसलिए आलसी मत बन, पुरुषार्थी बन, यज्ञ कर, तप कर, दान कर, स्वाध्याय कर, इन सबको ईश्वरार्पण कर, फलकी यानी सांसारिक फलकी इच्छा मत कर। अन्तःकरण शुद्ध करके सुखी हो जा! शान्त हो जा!!

यदि कहे कि स्त्रीके विना यज्ञ नहीं हो सकता, मेरी स्त्री नहीं है, इसलिए यज्ञ नहीं कर सकता, तो पात्रोंको दान ही किया कर, दान करनेसे ही अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा। यदि कहे कि मेरे पास दान करनेके लिए धन नहीं है, तो भले ही दान न दे, पर दूसरेका धन लेनेकी इच्छा कभी मत कर। सत्य, तप और स्वाध्याय तो तू कर ही सकता है, अतः इन तीनोंको ही किया कर। इनके करनेसे तेरा कल्याण हो सकता है। यदि कहे कि सत्य बोलना तो चाहता हूँ,

परन्तु ईश्वरकी मायासे मोहित होकर काम, क्रोध और लोभके वश मिथ्या बोलनेमें तत्पर हो जाता हूँ, तो तप और स्वाध्याय तो नित्य किया ही कर। यदि कहे कि तप करना कठिन है, मुझसे नहीं बन सकता, तो स्वाध्याय ही केवल कर लिया कर। एक स्वाध्यायके करनेसे ही तप और सत्य दोनों सिद्ध हो जायँगे। स्वाध्याय करनेसे काम, क्रोध आदि दुर्बल हो जायँगे, तेरे मनके ऊपर अपना प्रभाव नहीं जमा सकेंगे, इससे सत्यकी सिद्धि हो जायगी और स्वाध्याय तो स्वयं तप है ही। वाणीका तप तो वह प्रत्यक्ष है ही, कायाका और मनका तप भी स्वाध्याय है, इसलिए स्वाध्याय नियमसे प्रेमपूर्वक किया कर। यदि कहे कि मैं विशेष पढ़ा हुआ नहीं हूँ यानी वेद मैंने पढ़ा नहीं है, इसलिए स्वाध्याय नहीं कर सकता, तो 'अहं वृक्षस्य रेरिवा' इत्यादि मंत्रका पाठ कर लिया कर। यदि कहे कि मेरे लिए तो काला अक्षर भैंसके बराबर है, इसलिए इस मंत्रका भी मुझसे पाठ नहीं हो सकता, तो ईश्वरके किसी नामका ही जप नित्य निरन्तर करता रह, इससे भी धीरे-धीरे अथवा शीघ्र भी पुरुषार्थकी सिद्धि हो जाती है। नामका माहात्म्य जैसा शिष्ट पुरुषोंने बताया है, वैसा ही है, नामका जप करनेसे ही बहुतसे पुरुष सिद्ध हो गये हैं, यह बात लोकमें और शास्त्रमें प्रसिद्ध है। सारांश यह है कि अपनी योग्यता और बुद्धिके अनुसार जैसे बने वैसे ईश्वरका भजन कर सुखी हो जा ! शान्त हो जा !!

यदि तू कहे कि कर्म करनेसे तो बन्धन होता है, फिर मैं कर्म करके बन्धनमें क्यों पड़ूँ ? तो यह बात नहीं है, प्रथम तो आत्मा अक्रिय है, आत्माके अज्ञानसे देहमें आत्मत्वका अभिमान होता है यानी मैं देह ही हूँ, ऐसा अध्यास होता है, इसलिए देहके कर्ता, भोक्ता आदि धर्मोंको अज्ञानी मनुष्य अपनेमें मानता है। अपने माननेसे उसको बन्धन होता है। बात यह है कि अज्ञान यानी विपरीत ज्ञान ही बन्धनका कारण है, कर्म बन्धनका कारण नहीं है, यदि यह बात समझमें नहीं आती हो, तो 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस श्रुतिके अनुसार और 'कुरुष्व मदर्पणम्' इस भगवान्‌के वचनानुसार ईश्वरकी प्रीतिके लिए अपना धर्म समझकर कर्म कर। जैसे वृक्षका मूल सींचनेसे समस्त वृक्ष हरा हो जाता है, वैसे ही ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करनेसे देवता, पितर, ऋषि आदि सब तृप्त हो जाते हैं। इनके तृप्त होनेसे साधकका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरणवालेको सदसत्‌का विवेक हो जाता है। विवेक होनेसे संसारसे और संसारके स्त्री, पुत्र आदि साधनोंसे

वैराग्य हो जाता है। वैराग्यके होते ही जैसे रोगीको निरोग होनेसे भूख लगती है, इसी प्रकार साधकको ईश्वर-भजनकी भूख लगती है। ईश्वर कहीं दूर तो है ही नहीं, सबके हृदयकमलमें विराजमान है। भजन करनेसे जैसे दो लकड़ियोंकी रगड़से अग्नि प्रकट हो जाती है, वैसे ही हृदयकमलमेंसे ईश्वर हृदयेश प्रकट हो आता है। हृदयेशके प्रकट होनेसे साधकको ऐसे आनन्दका अनुभव होता है कि फिर वह नित्य निरन्तर उसीका अनुसन्धान करता है, अन्य किसीका अनुसन्धान नहीं करता। भला जो आनन्दके सागरमें मग्न हो, उसे दुःखमें डूबना कभी अच्छा लगेगा? नहीं लगेगा। जब तक इस आनन्दका अनुभव न हो, तब तक ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करता हुआ सुखी हो जा! शान्त हो जा!!

जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता, तब तक जैसे मैले दर्पणमें मुख नहीं दीखता, वैसे ही न तो सविशेष ब्रह्मका ज्ञान हो सकता है और न निर्विशेष ब्रह्मका। जाने बिना दोनोंमें से किसीकी भी भक्ति नहीं हो सकती। किसीने सच कहा है कि मलिन अन्तःकरणवालेको सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्म दोनोंमें से किसीकी भी भक्ति होना कठिन ही नहीं किन्तु असंभव है। जब पूर्वोक्त साधनोंमें मंसाराम (मन) शुद्ध हो जाय, तो प्रेमसे सगुण ब्रह्मकी भक्ति कर यानी सगुण ईश्वर और ईश्वरावतारोंके गुणोंका गान कर। अपने भक्तोंको अपना अगम तत्त्व बतानेके लिए ईश्वर अवतार लेता है, जैसा कि भागवतमें कहा है— 'दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोः' यानी अपने दुर्विज्ञेय तत्त्वको बतलानेके लिए आप शरीर धारण करते हैं। ईश्वरावतारोंके चरित्र पढ़नेसे सगुण और निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान होता है। इसलिए उनके चरित्रोंका प्रेमसे गान किया कर। कारण और कार्यका अभेद होता है, जैसे कि सुवर्ण और कुण्डलका अभेद लोकमें प्रसिद्ध है, इसी प्रकार ब्रह्मसे उत्पन्न हुए जगत्का ब्रह्मसे अभेद है, श्रुति भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहती है। विशेषसे उत्पन्न हुआ जगत् विशेषरूप ही है, सबको विशेषरूप देखना, यही सगुण ब्रह्मकी भक्ति है। गीतामें भगवान् कहते हैं—'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' यानी जो सब भूतोंमें समभावसे देखता है, वह मेरी परा भक्तिको प्राप्त होता है। न किसीसे राग कर, न किसीसे द्वेष कर, सब भूतोंमें सम जनार्दनको देख। जैसे तुझे अनुकूलसे सुख, प्रतिकूलसे दुःख होता है, वैसे ही सबको

होता है। मनसे, वाणीसे, कायासे किसीको पीड़ा मत दे, मनसे सबकी भलाई कर, वाणीसे हित मधुर बोला कर, शरीरसे किसीको कष्ट मत पहुँचा। सर्वेश्वरका भक्त होकर सुखी हो जा ! शान्त हो जा !!

जब तू यहाँ आया था, तब मुट्ठी बाँधे आया था, हाथ पसारे हुए जायगा, न कुछ लाया था, न ले जायगा, तब वृथा ही किसी वस्तुके ऊपर अपना अधिकार क्यों जमाता है, दूसरेकी उत्तम वस्तु देखकर क्यों मन ललचाता है, 'जिसने दिया उसने पाया' इस न्यायके अनुसार जो तुझे मिला है, उसीमें संतुष्ट रहकर आनन्दसे देहयात्रा कर। न विद्या, धनादिका मान कर, न कुलका अभिमान कर, सब एक शिलके बट्टे हैं, सब बराबर ही हैं, सब मधुसूदनके रूप हैं, न कोई शत्रु है और न कोई मित्र है, सब जगत्‌रूप सरायमें परदेशीके समान चार दिनके मेहमान हैं, न किसीसे मित्रता कर और न किसी शत्रुता कर, सबको अपने समान प्यार कर। किसीसे सम्मान पानेकी इच्छा मत कर, सबको सम्मान दे। सबको अपना ही समझ। छोटोंको बाल-गोपाल, यशोदानन्दन, कौशल्यानन्द-वर्धन जान। किसीने सच कहा है कि जो अपने पुत्रसमान सबके पुत्रोंको प्यार करता है, उसको पुत्रके मरनेका शोक नहीं होता। 'देनेको टुकड़ा भला, लेनेको हरिनाम' इस न्यायके अनुसार श्वास-श्वासपर हरि पापहारीका नाम लिया कर, देनेको तेरे पास टुकड़ा हो, तो भूखेको, अधिकारीको दे दिया कर। बिना मूल्यके कोई वस्तु नहीं मिलती; बिना मूल्य दिये किसीकी वस्तु न लिया कर। यदि तुझे विश्वनाथने धन आदि दिया है, तो जी खोल कर उदार बनकर अधिकारी पात्रोंको धनका, वस्त्रका, सुवर्णका और विद्याका दान दिया कर। लोकमें अन्नदान सबसे श्रेष्ठ माना गया है। विद्याका दान उससे भी उत्तम माना गया है। ब्रह्मविद्याका दान सर्वोत्तम दान है। सब ही दान उत्तम हैं, फिर भी जो अपनेसे हो सके, वही दान उत्तम है। यथाशक्ति दान दिया कर। किसीसे लेने अथवा मांगनेका स्वप्नमें भी विचार मत किया कर। यदि कुछ भी न कर सके, तो भी मीठी वाणीसे तो प्रत्येकका सत्कार अवश्य ही किया कर, कहा भी है कि पानीसे क्या पतला, मीठी वाणी बोलनेमें खर्च कुछ नहीं होता और शत्रु तक वश हो जाते हैं। रोता हुआ आया था, सबके साथ प्रीतिका व्यवहार करता हुआ, सबको रोता छोड़कर आप हँसता हुआ चला जा! सुखी हो जा! शान्त हो जा !!

जैसे पुण्यके क्षीण होनेपर इस लोकमें आयु समाप्त हो जाती है, वैसे ह पुण्यक्षीण होनेपर, इच्छा न होते हुए भी, अनुशयी जीव स्वर्गसे गिरा दिया जाता है, ऐसा सुननेसे तुझे इस लोक और परलोकके क्षणस्थायी भोगोंमें वैराग्य हो गया हो, तो 'सर्व संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' (सबको छोड़कर श्रवण करे), 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (सब धर्मोंको छोड़कर मेरे शरणमें जा) इन श्रुति और स्मृतियोंके अनुसार सबको छोड़कर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अकामहत, शान्त सद्गुरुकी शरणमें जाकर महावाक्यका अर्थ श्रवण करके ब्रह्मात्मतत्त्वको जानकर श्रुतिके अनुकूल तर्कोंसे उसका मनन कर और उसीके अनुसन्धानमें नित्य निरन्तर तत्पर रहकर ब्रह्मात्मतत्त्वका साक्षात्कार करके उसीमें बुद्धिकी वृत्ति जोड़ दे, उसीको आत्मा जान और उसीके परायण हो जा। भाव यह है कि प्रथम तो बुद्धिकी वृत्तिको ब्रह्माकार करनेका नित्य निरन्तर अभ्यास कर, पश्चात् बुद्धिकी वृत्तिका बाध करके अद्वितीय आत्मा ही है, अन्य नहीं है। उसीमें स्थित होकर उसीके परायण हो जा। यही परमगति है, अन्य गति नहीं है, अन्य जानने योग्य नहीं है, इसीका अनुसन्धान करता हुआ और जीवन्मुक्तिके सुखका अनुभव करता हुआ विचर। इसको वेदवेत्ता ब्रह्मनिष्ठा कहते हैं। यह ब्रह्मनिष्ठा सकाम कर्मसे पुरुषको प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि अनन्य चित्तताका नाम ब्रह्मनिष्ठा है। कर्मीका चित्त अनन्य नहीं हो सकता, इसलिए व्यवहारी मनुष्य ब्रह्मनिष्ठाका अधिकारी नहीं है। कर्मत्यागी ही ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त करता है और कर सकता है, कर्मी नहीं कर सकता। इसलिए यदि तुझे कैवल्य पदकी तीव्र इच्छा है, तो नित्य निरन्तर ब्रह्मनिष्ठ होकर सुखी हो जा! शान्त हो जा!!

भोला! सुनता है या नहीं? कान देकर सुन ले, सुनता हुआ भी बहिरा मत बन जा। धीर पुरुष जो कुछ सुनते हैं, याद रखते हैं, भूलते नहीं हैं और सुने हुएका अनुकरण करते हैं, यह नहीं कि इस कानसे सुना, इस कानसे निकाल दिया। उपदेशक बहुतसे हैं, उपदेश लेनेवाला कोई विरला माईका लाल ही होता है, दूसरोंको उपदेश मत दे, दूसरोंको उपदेश देनेसे कुछ लाभ नहीं है, प्रत्युत हानि ही है; इसलिए उपदेश देना छोड़ दे। उपदेश लेना सुन्दर मार्ग है, उपदेश लिया कर, उपदेशका अनुकरण किया कर। सुनते हैं कि पूर्वके शुद्ध बुद्धिवाले चतुर पुरुष मूर्खोंसे उपदेश लेकर तारण-तरण बन गये हैं, क्या तूने नहीं सुना कि एक अवधूत कपोत, गणिका, क्रौंचपक्षी आदिसे उपदेश लेकर परम सिद्धिको

प्राप्त हो चुका है। यदि कहे कि यह अवधूत तो अत्रि-अनुसूयानन्दन दत्तात्रेय थे, तो ऐसा ही हो, आम खाने हैं या पेड़ गिनने हैं ! तुझे तो उपदेश लेना है, दत्तात्रेयको ही गुरु बना ले, उन्हींके पैर पकड़ ले। यदि कहे कि वे हैं कहां, जो उनके पैर पकड़े जायँ, तो यह बात नहीं है, इनका अनुकरण करना ही उनके चरण पकड़ना है। बिलैया दण्डवत्का नाम पैर पकड़ना नहीं है। बस, तू तो उन्हींका अनुकरण कर। देहकी ममता और अहंता छोड़ दे। केवल इसे दाना-चारा दिये जा और इससे अपना काम लिये जा। यदि पूछे कि काम क्या लूँ, तो आत्मानुसन्धान ही काम है, आत्मानुसन्धान करता हुआ सुखी हो जा ! शान्त हो जा !! दैवयोगसे बीचमें देहानुसन्धान आ जाय, तो नीचेका छन्द गा लिया कर !

छन्द—हो जा सुखी, हो शान्त जा, शिव शान्तका धर ध्यान रे ! ।
सबमें उसीको देख रे, दे सर्वको सम्मान रे ! ॥
भोला ! कटक है कनक ही, मत भेद रंचक मान रे ! ।
जो विश्वसे विश्वेश है, तज भेद, भज कल्याण रे ! ॥

विनय

मोपर होहु सदय अब माय।
अम्ब तुम बिन को कपूतहिं क्षमा कर अपनाय ॥
अवश हौं अति नीच पै करि आश आयो धाय।
हाथ तुम्हरेहि मातु सब कुछ बात देहु बनाय ॥
हौं क्षमा नहिं योग्य यदपाहिं पै कहौं सत भाय।
कोटकनु अपराध सुतके मातु देत भुलाय ॥
होत पूत कपूत पै नहिं होय माय कुमाय।
तुमहुँ त्यागो मातु तो फिर को जो धीर धराय ॥
मैं सकल दिशि हेरि हारो और कोउ न लखाय।
जननि तुम बिनु जीव पामर प्रभुकृपा नहिं पाय ॥
नेक कृपा कटाक्ष हेरो बात सब बनि जाय।
'दास हरि' को करकमल गहि मातु लेहु बचाय ॥

'दास हरि'

अद्वैततत्त्वकी उपपत्ति

(लेखक—पण्डित श्रीमायारामजी महाराज, वेदान्ततीर्थ, जामनगर)

अनेक प्रकारके दुःखोंसे भरे हुए संसारमें प्राक्तन सत्कर्मोंके प्रभावसे किसीको साधनचतुष्टयसम्पत्तिके अनन्तर यह जिज्ञासा होती है कि मुझे आत्मतत्त्व-विज्ञान हो। इस प्रकारकी अभिलाषा करके अत्यन्त नम्र होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास यथाविधि जाता है।

अधिकारी शिष्यको पाकर वे परम दयालु ब्रह्मनिष्ठ आचार्य विविध उपपत्तियों द्वारा अध्यारोपापवाद-न्यायसे * शिष्यको उस अद्वय ब्रह्मका उपदेश देते हैं, जो कि अनेक श्रुतियोंसे बोधित है। सत्त्वादिगुणत्रयव्यपाश्रय मायासे उपहित ईश्वरके सङ्कल्पानुसार तत्-तत् गुणोंके गुणप्रधानभावसे अपञ्चीकृत शब्दादितन्मात्रा, महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय आदिकी उत्पत्ति हुई। और एक ही ब्रह्म विशेषोपाधिके सम्बन्धसे विराट्रूपमें ईश्वर और हिरण्यगर्भ एवं व्यष्टिरूपमें प्राज्ञ, तैजस और विश्वरूप हो जाता है अर्थात् जो सच्चिदानन्द-रूप ब्रह्म है, वही मायाके सम्बन्धसे अनेकरूप हो जाता है। वेदान्तसिद्धान्तमें माया अनादि अनिर्वचनीय और भावरूप ही मानी गई है और यही वास्तविक पक्ष है। वह माया ब्रह्ममें अध्यस्त है। अविद्याध्यास अनादि है और अविद्याके कार्य आकाशादिका अध्यास सादि है। इसी सादि अध्यासको कार्याध्यास कहते हैं। यह कार्याध्यास अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यासके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें अर्थाध्यास इस प्रकार होता है—चक्षु आदि द्वारा विनिःसृत अन्तःकरणकी वृत्ति मन्दान्धकारसे आवृत देशमें रहनेवाले रज्जु आदि पदार्थोंके आकारमें परिणत न होकर रज्ज्वाद्यवच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाली तमःप्रधान अविद्याको क्षुभित करती है, वृत्ति द्वारा क्षुब्ध हुई वही अविद्या सर्पादिरूप अर्थके आकारमें परिणत हो

---

* वस्तुमें अवस्तुकी प्रतीतिको अध्यारोप कहते हैं। जैसे रज्जुमें या रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्यमें सर्पकी प्रतीति होती है। वैसे ही सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्ममें अविद्या और उसके कार्य आकाश आदिका प्रतीत होना ही अध्यारोप है। इसीलिए श्रुति भी कहती है—'मायाभासेन जीवेशौ करोति'। अधिष्ठानमें प्रतीयमान वस्तुका निषेध अपवाद कहलाता है, जैसे शुक्तिमें या शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यमें रज्जुका निषेध करना।

जाती है, इसीको अर्थात् रज्ज्वाद्यवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ तमःप्रधान अविद्याके परिणामभूत प्रतीयमान सर्पादिको अर्थाध्यास कहते हैं। और अध्यस्त पदार्थका अवगाहन करनेवाला 'अयं सर्पः' (यह सर्प है) इत्याकारक ज्ञानरूप जो परिणाम है, उसको ज्ञानाध्यास कहते हैं। यह ज्ञानाध्यास साक्षीरूप चैतन्यमें रहनेवाली सत्त्वप्रधान अविद्याका परिणाम है।

अधिष्ठानज्ञानके अनन्तर अध्यस्त पदार्थोंकी निवृत्ति हो जाती है। यह निवृत्ति अधिष्ठानसे भिन्न नहीं है, किन्तु अधिष्ठानरूप ही है; कारण कि अभाव अधिकरणात्मक है। जैसे रज्जु आदिके ज्ञानसे उनमें आरोपित सर्पादिकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही सर्पविषयक ज्ञानाध्यासकी भी निवृत्ति हो जाती है।

यद्यपि इस विषयमें यह शङ्का हो सकती है कि सर्पादिके अध्यासका अधिष्ठान रज्ज्वाद्यवच्छिन्न बाह्य चैतन्य है और ज्ञानाध्यासका अधिष्ठान साक्षीरूप चैतन्य है, ऐसी अवस्थामें रज्ज्वादिसे अवच्छिन्न चैतन्यके ज्ञानसे कार्याध्यासकी तो निवृत्ति हो सकती है, परन्तु ज्ञानाध्यासकी उससे निवृत्ति कैसे होगी, क्योंकि सर्पाध्यासके अधिष्ठानभूत रज्ज्वाद्यवच्छिन्न चैतन्यके ज्ञानकालमें ज्ञानाध्यासाधिष्ठानभूत साक्षिरूप चैतन्यका ज्ञान नहीं होता है। यद्यपि अध्यासकी निवृत्तिके लिए उसके अधिष्ठानका ज्ञान होना आवश्यक है; तथापि भली भाँति विचार करनेसे यह शङ्का निर्मूल हो जाती है, कारण कि अन्तःकरणकी वृत्ति चक्षुरादि द्वारा रज्ज्वादि देशमें जाकर रज्ज्वाद्यवच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाले आवरणका नाश करती है। और उक्त अन्तःकरणकी वृत्ति साक्षिचैतन्यसे अवच्छिन्न है। उसके रज्जुप्रदेशमें जानेसे वृत्ति और रज्जु दोनों उपाधियाँ समानदेशस्थ हुईं। उपाधियोंके समानदेशस्थ होनेके कारण रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य और वृत्त्युपहित साक्षिचैतन्य दोनोंका अभेद होनेसे अर्थाध्यासका जो अधिष्ठान है, वही ज्ञानाध्यासका और जो ज्ञानाध्यासका अधिष्ठान है, वही अर्थाध्यासका अधिष्ठान निश्चित हुआ। अतः साक्षीरूप स्वयंप्रकाश चैतन्यके ज्ञानसे उक्त दोनों अध्यासोंकी निवृत्ति होनेमें कोई सन्देह नहीं रहा, अतः उक्त पूर्वपक्ष व्यर्थ है।

इसी कार्याध्यासका लक्षण भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यजीने इस प्रकार किया है—'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' अर्थात् पूर्वदृष्ट पदार्थका जो अन्य स्थलमें स्मरणरूप अवभास होता है, उसे अध्यास कहते हैं। सादि और अनादिसाधारण अध्यासका लक्षण यह है—'परत्र पूर्वदृष्टावभासः' अर्थात् पूर्वोक्त कार्याध्यासके लक्षणमें से

'स्मृतिरूप' शब्दके हटा देनेसे ब्रह्मनिष्ठ अनादि अविद्याध्यासमें भी लक्षण समन्वय हो सकता है। इस विषयमें मधुसूदनसरस्वती प्रभृति यतियोंकी भी सम्मति है।

सामान्यरूपसे दो प्रकारका कार्याध्यास धर्माध्यास, धर्मविशिष्टधर्म्यध्यास, सम्बन्धाध्यास, सम्बन्धविशिष्टसम्बन्ध्यध्यास, अन्यतराध्यास आदि भेदसे अनेक प्रकारका होता है।

अब ध्यानमें यह रखना चाहिए कि जैसे रज्जुमें सर्प, शुक्तिमें रजत, ऊपर भूमिमें मृगजल आदि कल्पित हैं और उन सब कल्पित वस्तुओंका अधिष्ठानके ज्ञानसे बाध होता है अर्थात् अध्यस्त वस्तुका बाध—अपवाद—होनेसे केवल अधिष्ठानमात्र अवशिष्ट रह जाता है, वैसे ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध ब्रह्ममें ही ईश्वर, तन्निर्मित संसार, जीव और जीवकल्पित व्यष्टिसमष्टिरूप कार्यजात कल्पित है। अतः उक्त समस्त प्रपञ्चका अधिष्ठान ठहरा ब्रह्म। इसी प्रकार साक्षीरूप चैतन्य भी कल्पित प्रपञ्चका अधिष्ठान हो सकता है, क्योंकि श्रुतिमें साक्षी चैतन्यका ब्रह्मसे अभेद वर्णित है। जब सर्वसन्तापहारक सद्गुरु अपने परम अनुग्रहसे तथोक्त जिज्ञासु शिष्यको 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके उपदेश द्वारा शुद्ध ब्रह्मका परिज्ञान कराते हैं, तब सभी कल्पित पदार्थोंका अपने-आप बाध हो जाता है और वह आनन्दात्मक परिपूर्ण अद्वितीय ब्रह्मको प्राप्त होता है।

इस विषयमें भेदवादी शङ्का करते हैं कि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्योंसे जीव और ईश्वरका अभेद सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जीव और ईश्वर दोनों परस्पर अत्यन्त विरुद्ध धर्मवाले हैं। विरुद्ध धर्मवाले पदार्थोंका किसी प्रकारसे भी अभेद नहीं हो सकता। विरुद्ध धर्मवाले (शीत और उष्णरूप विरुद्ध धर्मोंसे आक्रान्त) जल और तेजका अभेद सिद्ध करना जैसे उपहासास्पद है, ठीक वैसे ही जीव और ईश्वरका अभेद सिद्ध करना भी उपहासास्पद है, क्योंकि ईश्वर सर्व शक्तिमान् एवं सर्वज्ञ है और जीव अल्पशक्ति एवं असर्वज्ञ है। श्रुति भी 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादिसे ईश्वरको सर्वज्ञ और 'अनीहया शोचति मुह्यमानः' इत्यादिसे जीवको शोकादिसे आक्रान्त कहती है। इसी प्रकार 'द्वा सुपर्णा', 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादि श्रुतियाँ भी स्पष्टरूपसे जीव और ईश्वरके भेदका प्रतिपादन करती हैं।

किंबहुना 'मैं ईश्वर नहीं हूँ, किन्तु जीव हूँ' इस प्रकारके प्रबल प्रत्यक्ष

प्रमाणसे भी जीव और ईश्वरका भेद ही सिद्ध होता है, अतः अद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

परन्तु भेदवादियोंकी इस प्रकारकी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंमें त्यागभागलक्षणा माननेसे 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादिके समान लक्ष्यार्थका अभेद सिद्ध ही होता है और सम्पूर्ण श्रुतियोंका लक्ष्यार्थबोधन द्वारा जीवब्रह्मके अभेदमें ही तात्पर्य है, क्योंकि 'सर्वं मयि प्रकल्पितम्' इत्यादि श्रुति सर्वज्ञ सर्वशक्तिविशिष्ट महावाक्यके लक्ष्यार्थभूत ईश्वररूप साक्षीका ही सब प्रपञ्चके अधिष्ठानरूपसे प्रतिपादन करती है; क्योंकि यह सब प्रपञ्च साक्षीरूप मुझमें ही कल्पित है, यह उक्त श्रुतिका अर्थ है। यदि जीव और ईश्वरका अभेद न माना जाय, तो जीवसाक्षीमें सर्वप्रपञ्चाधिष्ठानत्वकी उपपत्ति कैसे हो सकेगी। यद्यपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतिमें अहंपदवाच्य जीव और ब्रह्मपदवाच्य ईश्वरका, जो कि क्रमशः अल्पज्ञ और सर्वज्ञ हैं, अभेद नहीं बन सकता है, तथापि अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली विविध श्रुतियोंके आधारपर उनके अभेदमें लक्षणा मानना आवश्यक है।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि जो ब्रह्म सम्पूर्ण जगत्का अधिष्ठान है, वही साक्षीरूप प्रत्यगात्मा है।

'मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥'

(अर्थात् साक्षीरूप मुझमें सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही उसकी स्थिति है और मुझमें उसका लय भी होता है एवं सर्वाधिष्ठान ब्रह्म भी मैं ही हूँ) इस प्रकारकी श्रुति भी सम्पूर्ण प्रपञ्चको प्रत्यगात्मामें अध्यस्त दिखाकर प्रत्यगात्माको ब्रह्मसे अभिन्न कहती है।

इसलिए 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्योंसे जीव और ब्रह्मका अभेद ही सिद्ध होता है। अध्यस्त होनेके कारण प्रपञ्च मिथ्या है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो जैसे शुक्तिमें प्रतीयमान रजतकी अधिष्ठानभूत शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यकी सत्तासे पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती है, वैसे ही प्रपञ्चकी अधिष्ठानसत्तासे पृथक् सत्ता नहीं है।

यदि सूक्ष्मरूपसे विचार किया जाय, तो भेदनामका वास्तविक पदार्थ ही सिद्ध

नहीं हो सकता है, जिससे कि भेदवादका अङ्गीकार किया जाय। जो लोग 'नाहं ब्रह्म, किन्तु जीवः' (अर्थात् मैं ईश्वर नहीं हूँ, किन्तु जीव हूँ) इस प्रकारकी प्रत्यक्ष प्रतीतिको भेदकी साधिका मानते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' इस प्रतीतिसे क्या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यमें याने जीवमें ब्रह्मका भेद सिद्ध होता है ? अथवा शुद्ध आत्मामें जीवका भेद सिद्ध होता है। इनमें प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यमें (जीवमें) काल्पनिक भेद तो अद्वैतवादी भी मानते हैं और यदि द्वितीय पक्षका अवलम्बन किया जाय, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि शुद्ध आत्माके अतीन्द्रिय होनेसे वह चक्षु आदि इन्द्रियोंका विषय नहीं हो सकता, अतः जीवप्रतियोगिकब्रह्मानुयोगिक भेदका प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता है अर्थात् किसी भी प्रकारसे ब्रह्माश्रित भेदका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, कारण कि प्रतियोगी अथवा अनुयोगीका जब तक प्रत्यक्ष न हो तब तक तत्प्रतियोगिक तदनुयोगिक भेदका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, यह अकाट्य नियम है। 'घटो न पटः' (जो घट है, वह पट नहीं है) इस स्थलमें घट प्रतियोगी है और पट अनुयोगी है, अतः पटमें (वस्त्रमें) रहनेवाले घटके भेदको घट-प्रतियोगिकपटानुयोगिक कहते हैं। भेदप्रत्यक्षके पूर्वमें घट तथा पटका अवश्य प्रत्यक्ष होना चाहिए, जब उनका प्रत्यक्ष होगा, तभी घटप्रतियोगिकपटानुयोगिक भेदका प्रत्यक्ष होगा, अन्यथा नहीं।

इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रतीतिसे जो शुद्ध ब्रह्ममें जीवात्माका भेद मानते हैं, उस भेदका जीवात्मा प्रतियोगी और शुद्ध आत्मा अनुयोगी होगा। इससे प्रतियोगी और अनुयोगीका (जीव और शुद्ध आत्माका) प्रत्यक्ष न होनेके कारण उक्त भेदका प्रत्यक्ष होना सर्वथा असम्भव है।

यदि भेदवादी शङ्का करें कि जब आत्मा और मनके संयोगसे जीवका प्रत्यक्ष होता है, तब यह कैसे कह सकते हैं कि 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' इसमें जीवात्मारूप प्रतियोगीका प्रत्यक्ष नहीं है। किञ्च, मनको नैयायिक प्रभृति इन्द्रिय मानते हैं, इसलिए मनसे प्रत्यक्ष होनेवाले जीवात्माको अतीन्द्रिय भी नहीं कह सकते ? ऐसी अवस्थामें जीव और ईश्वरका भेद प्रत्यक्षसे सिद्ध हो सकता है, तो यह भेदवादियोंकी शङ्का केवल मायामात्र है, क्योंकि नैयायिक आदिने भेदके प्रत्यक्षमें अनुयोगीके प्रत्यक्ष ज्ञानको ही कारण माना है, इसलिए उक्त दिशासे प्रतियोगीका प्रत्यक्ष होनेपर भी अनुयोगीभूत शुद्ध आत्माका प्रत्यक्ष न होनेके

कारण जीवप्रतियोगिकब्रह्मानुयोगिक भेद 'नाहं ब्रह्म किन्तु जीवः' इस प्रतीतिसे सिद्ध नहीं हो सकेगा।

अपि च यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है कि भेदप्रत्यक्षके प्रति अनुयोगीका प्रत्यक्ष ही कारण है, प्रतियोगीका प्रत्यक्ष कारण नहीं है। यदि प्रतियोगीका प्रत्यक्ष ही भेदप्रत्यक्षके प्रति कारण माना जाय, तो 'पिशाचो न स्तम्भः' (पिशाच स्तम्भ नहीं है) इस प्रकार स्तम्भमें जो पिशाचके भेदका प्रत्यक्ष होता है, वह न होगा, क्योंकि प्रतियोगीभूत पिशाचका प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए जीवरूप प्रतियोगी-का प्रत्यक्ष होनेपर भी शुद्ध आत्मामें उसके भेदका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि लोकमें जिस भेदका अनुभव होता है, उसकी काल्पनिक स्थिति न मानकर भेदवादी यदि सत्यरूपसे उसकी स्थिति मानता हो, तो उससे पूछना चाहिए कि तुम्हारा अभिमत सत्यस्वरूप भेद अभिन्न धर्मीमें रहता है या भिन्न धर्मीमें रहता है? यदि वादी पहले पक्षका (अभिन्न धर्मीमें भेद रहता है, इस पक्षका) अङ्गीकार करे, तो उसको व्याघात दोषका सामना करना पड़ेगा। परस्पर विरुद्ध धर्मोंका एक अधिकरणमें रहना व्याघात कहलाता है, जैसे कि जिस स्थलमें भेद रहता है, उस स्थलमें अभेद नहीं रह सकता और जहां अभेद रहता है, वहाँ भेद नहीं रह सकता, इसलिए अभेद भेदसे अलग रहता है और भेद तथा अभेद ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इस परिस्थितिमें वादी यदि भेदको अभिन्न धर्मीमें मानेगा, तो भिन्नत्व और अभिन्नत्वरूप विरुद्ध धर्मोंका एक अधिकरणमें समुच्चय माननेसे व्याघात दोष आ ही जायगा। और दूसरा यह भी दोष प्राप्त होगा कि भेदरहित वस्तुमें भेदका प्रत्यक्ष होनेसे अभिन्न धर्मीमें भेदज्ञान भ्रमात्मक होगा।

यदि वादी द्वितीय पक्षका अर्थात् भिन्न धर्मीमें भेदका प्रत्यक्ष होता है, इस पक्षका अनुसरण करे, तो इसमें भी प्रश्न करना चाहिए कि यह भेद अपनेसे भिन्न किये हुए धर्मीमें स्वयं रहता है अर्थात् वह भेद स्वयं धर्मीका भेद बनकर धर्मीमें रहता है अथवा किसी दूसरे भेदसे भिन्न किये गये धर्मीमें रहता है? वादी यदि इन पक्षोंमें से प्रथम पक्षका अङ्गीकार करे, तो आत्माश्रय दोष होगा।

अपनी उत्पत्तिमें, अपनी स्थितिमें अथवा अपने ज्ञानमें यदि अपनी अपेक्षा हो, तो आत्माश्रय दोष होता है। प्रकृतमें भिन्न धर्मी जिस भेदसे विशिष्ट है, उसमें उसी भेदकी यदि अवस्थिति मानी जाय, तो अपनी अपेक्षा और आप ही भेदक होता

है, इसलिए आत्माश्रय स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है, अतः यह नहीं मान सकते हैं—जिस भेदको लेकर धर्मी भिन्न होता है, उसी भेदका उसमें प्रत्यक्ष हो सकता है।

इस आत्माश्रयके परिहारके लिए यदि वादी दूसरे किसी भेदको भेदक मानकर उसीसे भिन्न हुए धर्मीमें प्रथम भेदको माने, तो वादीसे पूछना चाहिए कि वह दूसरा भेद भी भेदरहित धर्मीमें रहता है अर्थात् अभिन्न धर्मीमें रहता है, या भिन्न धर्मीमें रहता है? इन दोनोंमें से यदि प्रथम कल्पका वादी आश्रयण करे, तो पहलेके समान व्याघात दोष प्रसक्त होगा। यदि भेदविशिष्ट धर्मीमें भेद रहता है, इस द्वितीय कल्पका आश्रयण करे, तो भी वादीसे पूछना चाहिए कि वह दूसरा भेद भी अपने आपसे भिन्न किये गये धर्मीमें रहता है अर्थात् रहनेवाला भेद स्वयं उस धर्मीका भेदक बनकर उस धर्मीमें रहता है अथवा प्रथम भेदसे भिन्न किये गये धर्मीमें द्वितीय भेद किसी तृतीय भेदसे भिन्न किये गये धर्मीमें रहता है अर्थात् तृतीय भेद जिसका भेदक है, ऐसे धर्मीमें द्वितीय भेद रहता है? यदि वादी दूसरे भेदको स्वधर्मीका भेदक मानकर द्वितीय भेद रहता है, ऐसा माने, तो पहलेके समान आत्माश्रय दोष प्राप्त होगा। यदि प्रथम भेद द्वितीय भेदका भेदक है, यह माने, तो अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होगा। अपनी-अपनी स्थितिमें या अपने-अपने ज्ञानमें दो पदार्थोंकी परस्पर जहाँ अपेक्षा हो, वहां अन्योऽन्याश्रय दोष आता है। प्रकृतमें प्रथम भेदको अपनी स्थितिके लिए दूसरे भेदकी अपेक्षा है और दूसरे भेदको अपनी स्थितिके लिए प्रथम भेदकी अपेक्षा है, अतः अवश्य अन्योऽन्याश्रय हो सकता है। वादी इस अन्योऽन्याश्रय दोषके परिहारके लिए यदि तृतीय पक्षको अर्थात् द्वितीय भेदके धर्मीका भेदक कोई तीसरा भेद है, ऐसा मान ले, तो उस वादीसे पूर्ववत् पूछना चाहिए कि वह तीसरा भेद अभिन्न धर्मीमें रहता है? या भिन्न धर्मीमें रहता है? यदि वादी प्रथम पक्षका आश्रयण करे, तो पहलेके समान व्याघात दोष होगा, यदि द्वितीय पक्षका अनुसरण करे, तो फिर उससे पूछना चाहिए कि वह तीसरा भेद भी अपनेसे भिन्न किए हुए धर्मीमें रहता है अर्थात् वह तीसरा भेद स्वधर्मीका भेदक बनकर उस धर्मीमें रहता है अथवा दूसरे भेदसे भिन्न किये गये धर्मीमें वह तीसरा भेद रहता है या प्रथम भेदसे भिन्न किये गये धर्मीमें वह भेद रहता है अथवा किसी चतुर्थ भेदसे भिन्न किये गये धर्मीमें तृतीय भेद रहता है?

इन विकल्पोंमें से वादी प्रथम कल्पका आश्रयण नहीं कर सकता है, क्योंकि पूर्ववत् आत्माश्रय दोष प्राप्त होगा। यदि दूसरे पक्षका आश्रयण करे, तो अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा। यदि तृतीय पक्षका अनुसरण करे, तो चक्रक दोष प्रसक्त होगा, क्योंकि प्रथम भेद द्वितीय भेदकी अपेक्षा करता है, द्वितीय भेद तृतीय भेदकी अपेक्षा करता है और तृतीयादि को प्रथम की अपेक्षा है और प्रथम भेदको द्वितीयकी अपेक्षा है, इस क्रमसे आनेवाले दोषको चक्रक दोष कहते हैं।

प्रकृतमें प्रथम भेदको अपनी स्थितिमें दूसरे भेदकी अपेक्षा है और दूसरे भेदको अपनी स्थितिमें तृतीय भेदकी अपेक्षा है, तृतीयादि भेदको अपनी स्थितिमें प्रथम भेदकी अपेक्षा है और प्रथम भेदको द्वितीयादि भेदकी अपेक्षा है, इसी प्रकार अपनी-अपनी स्थितिके लिए चतुर्थादि भेदोंकी परम्परामें पुनः प्रथम भेदकी अपेक्षा होनेसे एवं प्रथम भेदको द्वितीयादि भेदोंकी अपेक्षा होनेसे चक्रक दोष प्राप्त होता है। इस चक्रक दोषके परिहारके लिए वादी यदि कहे कि चतुर्थ भेदसे भिन्न किये गये धर्ममें तृतीय भेद रहता है, तो इस पक्षमें भी अनवस्था दोष ही प्रसक्त होगा, क्योंकि यह चौथा भेद भी पूर्वोक्त व्याघात, आत्माश्रय, अन्योऽन्याश्रय और चक्रक आदि दोषोंकी प्राप्तिके भयसे अभिन्न-धर्ममें या स्वविशिष्ट धर्ममें अथवा तृतीयभेदविशिष्ट धर्ममें अथवा प्रथम भेदविशिष्ट धर्ममें नहीं रह सकता, किन्तु किसी एक पञ्चमभेदविशिष्ट धर्ममें रहेगा, इसी प्रकार पञ्चम भेद भी किसी छठे भेदविशिष्ट धर्ममें रहेगा, इसी प्रकार भेदपरम्परा माननेसे अनवस्थानामक दोष आ जायगा, जिसका कभी अन्त होना सम्भव नहीं है।

अतः पूर्वोक्त हेतुओंसे यह सिद्ध हुआ कि भेदपदार्थ कोई वास्तविक पदार्थ ही नहीं है, अतः भगवती श्रुति अभेदसिद्धान्तका ही प्रतिपादन करती है और व्यवहारमें जो भेदकी प्रतीति होती है, वह काल्पनिक ही है—जैसे कि शुक्तिमें रजतकी कल्पना है। अतः अद्वैततत्त्वका बाधक भेद नामका पदार्थ नहीं है, यह निर्विवाद सिद्ध हुआ।

इस अद्वैतभावको पूर्वोक्त गुणसे युक्त जिज्ञासुको जब श्रीसद्गुरुदेव सुनाते हैं, तब वह प्रमाणगत असम्भावनाकी निवृत्तिद्वारा अद्वैतभावको प्राप्त होकर मुक्तिरूप परमानन्दको प्राप्त होता है, भगवती श्रुति भी कहती है—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्'।

उस मुक्तिक्षणमें शिष्यको यह भावना होती है—अहं धन्यः ! अहं धन्यः !! अहो गुरुः ! अहो गुरुः !! अहो बोधः ! अहो बोधः !! और अपने गुरुजीका बड़ा उपकार मानकर कृतकृत्य हो जाता है एवं जीवन्मुक्त बन जाता है, क्योंकि ज्ञान हो जानेके अनन्तर आवरण दोष भी निवृत्त हो जाता है।

अतः जिसको निरतिशय सुखकी अभिलाषा है, उसे निष्काम कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा अपने अन्तःकरणके मल आदिको हटा देना चाहिए और विक्षेपको हटानेके लिए भगवदुपासना करनी चाहिए। जैसा कि कहा है—

निराकारं स्वामिन् जयतु तव रूपं श्रुतिनुत-
महं तु त्वां मन्ये करचरणयुक्तं गुणनिधिम्।
शिवेशः श्रीशो वा भवतु न भिदा यत्र तमहं,
नमामि श्रीनाथं भवभयहरं श्रीवटपतिम्॥*

इस प्रकार हरिहरके अभेदचिन्तनसे अवश्य विक्षेपका परिहार हो जायगा। ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुके उपदेशसे आवरणका विनाश होता है और तद्द्वारा स्वरूपका साक्षात्कार होनेसे जीवन्मुक्तावस्थाकी प्राप्ति होती है।

जीवन्मुक्त अपने प्राक्तन प्रारब्धान्तकी प्रतीक्षा करता, सम्पूर्ण लोगोंकी शुभकामना करता एवं यत्र-तत्र भ्रमण करता हुआ अन्तमें विदेह कैवल्यको प्राप्त होता है।

अद्वैतसिद्धान्त परम अगाध है। उसके विषयमें हमारे ऐसे मन्दप्रज्ञ क्या कह सकते हैं? किन्तु सत्पुरुषोंके उच्छिष्टांशका जो कुछ ग्रहण किया था तदनुकूल लिखा है, अतः इसमें जो त्रुटि हुई हो, वह हमारी है, अद्वैतसिद्धान्तकी नहीं है, क्योंकि अद्वैतसिद्धान्त परममङ्गलमय है। इति शिवम्।



* हे स्वामिन्, श्रुतिद्वारा गाये गये आपके निराकार स्वरूपकी जय हो। मैं तो आपको हस्त, पाद आदिसे युक्त गुणोंका समुद्र मानता हूँ अर्थात् आपके सगुण रूपका उपासक हूँ। वे चाहे शिवजी हों, चाहे विष्णु हों, परन्तु जिसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है ऐसे संसारके भयको हरनेवाले—लक्ष्मीपति श्रीवटपतिको प्रणाम करता हूँ।

अद्वैत-दर्शन

(लेखक—पण्डित श्री अमृतलालशास्त्री वेदान्त-व्याकरणतीर्थ, साहित्यार्णव)

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं पुरस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
(श्वेताश्व० ६।७)

श्रीगुरुचरणद्वन्द्वं वन्देऽहं मथितदुःसहद्वन्द्वम् ।
भ्रान्तिग्रहोपशान्तिं पांसुमयं यस्य भसितमातनुते ॥
(श्रीमच्छङ्कराचार्याः स्वात्मनिरूपणे)

इस संसारमें सभी जीवोंकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका प्रधान उद्देश्य सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति ही है। स्त्री, पुत्र, धन आदिकी प्राप्तिका यत्न भी इसीलिए किया जाता है। सब जीव सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिके लिए यथाशक्ति जी तोड़कर प्रयत्न करते हैं। भर्तृहरिने ठीक ही कहा है—

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितां पतिर्नृपतयो यत्नेन संसेविताः ।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम् ॥

अर्थात् मैंने सुवर्ण, रत्न आदिकी खानकी आशङ्कासे सारी भूमि खोद डाली, पर्वतके धातु अग्निमें फूंक डाले, समुद्र तैर डाला, प्रयत्न पूर्वक राजाओंकी सेवा की और मन्त्रके आराधनमें तत्पर चित्तसे श्मशानमें अनेक रात्रियाँ बिता डालीं परन्तु एक कानी कौड़ी भी हाथ न लगी। हे तृष्णे! अब तो तू मेरा पिण्ड छोड़।

मनुष्य चाहता है कि मैं सर्वदा सुखी रहूँ, और दुःख कभी न पाऊँ। वह इस उद्देश्यके लिए प्रयत्न करनेमें कुछ भी कोर-कसर नहीं उठा रखता। परन्तु अन्तमें हाथ क्या लगता है—प्रियवियोग और अप्रियसंयोगसे होनेवाला हृदय-परिताप, जीवनयात्रामें अनेक हर्ष, शोक और मोहके प्रसङ्ग, शरीर और मनका अस्वास्थ्य इत्यादि दुःख ही।

इस विषयमें योगसूत्रके व्यासभाष्यमें एक अच्छा संवाद है—

भगवान् जैगीषव्य महायोगीको संस्कारोंके साक्षात्कारके बलसे जन्मपरिणाम-क्रमको देखते विवेकजन्य ज्ञान हुआ। तब निर्माणकायधारी भगवान् आवट्यने उनसे पूछा—भव्य होनेके कारण दस महासर्गोंमें आपकी सात्त्विक बुद्धि रज और तमसें आक्रान्त नहीं हुई, अतएव नारकीय और पशुपक्षियोंकी योनियोंके गर्भदुःखका अनुभव कर रहे एवं देवता और मनुष्योंमें पुनः पुनः जन्म ले रहे आपको उनमें सुख और दुःख इन दोनोंमें किसका अधिक अनुभव हुआ। इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् आवट्यसे जैगीषव्य मुनिने कहा—भव्य होनेके कारण दस महासर्गोंमें मेरी सात्त्विक बुद्धिका पराभव नहीं हुआ, अतएव मैंने नरक और तिर्यक् जातियोंके दुःख देखे एवं देव और मनुष्य शरीरोंमें पुनः पुनः जन्म लिया। इनमें मैंने जो कुछ अनुभव किया वह सब दुःखरूप ही मुझे प्रतीत होता है।

मन्दबुद्धि मनुष्य तात्कालिक सुख और दुःख की निवृत्तिसे संतुष्ट हो जाते हैं। आपातरम्य विषयोंमें मुग्ध होकर उन विषयोंकी प्राप्तिके लिए अनेक कष्ट उठाते हैं। सुखमधुकी छोटी-सी कणिकाके वास्ते वे अनेक अनर्थ कर डालते हैं। शास्त्रनिषिद्ध भी आचरण कर बैठते हैं। परिणाममें इस लोक और परलोकमें अनेकानेक दुःख उन्हें भोगने पड़ते हैं।

पूर्वजन्मकी वासनाओंके प्रबल होनेसे विषयेन्द्रियसंयोगजन्य परिणाम-विरस क्षणिक सुखमें प्रायः प्राणियोंकी बड़ी आसक्ति देख पड़ती है।

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् †।' इस काठक श्रुतिके अनुसार इन्द्रियोंकी विषयमें प्रवृत्ति नैसर्गिक है। इसी आसक्तिको

---

* अत्रेदमाख्यानं श्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरासीत्। अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसम्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति। भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि। (यो० सू० १८ विभूतिपाद)

† ब्रह्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख बनाया, अतएव वे विषयोंको देखती हैं अन्तरात्माको नहीं देख सकतीं।

राग कहते हैं और अपने इष्ट पदार्थकी प्राप्तिमें बाधा डालनेवालेके प्रति जो प्रज्वलनात्मक चित्तवृत्ति होती है उसीको द्वेष कहते हैं। इन राग-द्वेषोंसे ही प्रेरित होकर जीव पुण्य-पापजनक अनेक प्रवृत्तियोंमें फँस कर जन्म, जरा, रोग, शोक, परीताप, बन्धन, मरण आदि अनेक दुःखपरम्परामें गिरते हैं।

लौकिक और शास्त्रीय उपायोंसे अस्थिर सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति होने पर भी आत्यन्तिक (नित्य) सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति संसारासक्त जीवको कभी नहीं होती है। विषयी जीवको जो वस्तु सुखरूप प्रतीत होती है, वह भी विवेकीकी दृष्टिसे दुःखरूप ही है। योगसूत्रमें कहा है कि—'परिणामताप-संस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' (योगसूत्र २।१५) सुखभोगकालमें सुखसाधनोंमें राग और दुःखकारणोंमें द्वेष चित्तमें विद्यमान रहता है। इससे पुण्यपापात्मक प्रवृत्ति होनेसे तद्रूप कर्माशय उत्पन्न होता है। यही परिणामदुःखता है। चेतन और अचेतन द्वारा प्राप्त होनेवाले सन्तापके अनुभव-को ताप कहते हैं। सुखानुभवसे सुखसंस्कार और दुःखानुभवसे दुःखसंस्काररूप आशय होते हैं। ये दुःखके हेतु हैं। गुणमय विरोधी चित्तवृत्तियोंका एक कालमें उदय होनेसे कष्टापत्ति होती है, यह गुणवृत्तिविरोधजन्य दुःख है। इसलिए विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें इन्द्रियजन्य विषयभोग सब दुःखरूप ही हैं। इस अनादि दुःखस्रोतको विवेकी पुरुष ही प्रतिकूल देखता है, अतएव उससे उसे उद्वेग होता है। विषयी पुरुषको तो, विषक्रिमिन्यायसे, उससे उद्वेग होता ही नहीं। कारण कि विवेकी पुरुष नेत्र-गोलकके समान अत्यन्त मृदुचित्त है। जैसे ऊनका तन्तु नेत्रमें लगनेसे स्पर्शजन्य दुःख उत्पन्न करता है, शरीरके इतर अवयवोंमें उसका स्पर्श होनेसे दुःख नहीं होता है; वैसे ही यह संसार विवेकी पुरुषको ही उद्वेगजनक होता है ×। अविवेकी विषयी जीव तो वासनावश होकर दुःखके कारणभूत देहादिमें अहन्ता और ममताको धारण कर त्रिविध ताप सहन करता हुआ निरन्तर संसारचक्रमें भ्रमण करता है। इस विवेचनसे संसारकी दुःखरूपता सिद्ध हुई। और दुःखोंके मूलोच्छेदके विना उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः इस भीषण संसारचक्रभ्रमणका मूल क्या है? यह

× 'अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वान्। यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रन्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति, न चान्येषु गात्रावयवेषु। एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम्' (यो० सू० भाष्य २।१५)

प्रश्न मुमुक्षुको अवश्य विचारणीय है। इस प्रश्नके उत्तरमें श्रुति, स्मृति, पुराण और सब अध्यात्मदर्शनशास्त्रकार महर्षियोंका एकमत्य है। उन सबने एक स्वरसे अविद्याको ही सब अनर्थोंका मूल कहा है। यह निम्न लिखित श्रुत्यादि प्रमाण-वचनोंसे स्पष्ट होता है—

'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः॥'

(काठक)

अर्थात् अविद्याके भीतर रहते हुए अपनेको धीर और पण्डित मानते हुए, अनेक प्रकारकी कुटिल गति को प्राप्त करते हुए, अन्धके अनुयायी अन्धकी नाईं मूढ़ मनुष्य संसारचक्रमें परिभ्रमण करते हैं।

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥'

(भगवद्गीता अ० ७, श्लो० १४)

अर्थात् देवी—शुद्धचैतन्यरूप विष्णुदेवकी शक्ति रूप, त्रिगुणात्मक यह मेरी माया दुरत्यया—अति दुस्तर है। जो ज्ञानी भक्तजन मेरी ही शरण में आते हैं, वे ही इस मायको तरते हैं।

'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥'

(श्रीमद्भागवत० स्कं० २ अ० ९ श्लो० ३३)

जिससे वास्तव अर्थ न होनेपर भी अनिर्वचनीय दृश्यकी प्रतीति होती है, और सत्य पदार्थ भी प्रतीत नहीं होता है। वह आत्मस्वरूप मेरी माया है। पदार्थ वास्तवमें न होनेपर भी प्रतीत होता है, इसमें दृष्टान्त—'यथा आभासः' एक चन्द्रमें अनेक चन्द्रका भान। सत्की भी अप्रतीतिमें दृष्टान्त—यथा तमः' जैसा कि राहु ग्रहमण्डलमें स्थित भी नहीं दीख पड़ता है, ग्रहणकालमें ही दीख पड़ता है। यह मायाके कार्य द्वारा मायाका स्वरूपनिर्वचन श्रीभगवान्ने ब्रह्माके प्रति किया है।

अब दर्शनशास्त्रोंमें देखिए। सांख्यशास्त्रसङ्ग्रहरूप ईश्वरकृष्णनिर्मित कारिकामें 'रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः' इस वचनसे

धर्म, अधर्म, अज्ञान, राग, वैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य, इन सात रूपों द्वारा प्रकृति ही बन्धहेतु कही गई है। यहां वैराग्यका फल प्रकृतिलय विवक्षित है, उसमें पुनः संसारकी प्राप्ति होती है, इसलिए वैराग्य भी बन्धहेतु बतलाया गया है।

पातञ्जलयोगसूत्रमें 'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।' 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।' इन सूत्रोंके द्वारा अविद्याको ही सब अनर्थोंका मूल कहा है। अविद्याके स्वरूपका—'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।' इस सूत्रसे निरूपण किया है। कार्यरूप होनेसे अनित्य पृथिव्यादि भूत और भौतिकोंमें नित्यत्व बुद्धि, तथा अशुचि—परम बीभत्स—स्त्री आदिके शरीरमें सुन्दरताकी बुद्धि, दुःखरूप संसारमें सुखबुद्धि एवं देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि अनात्मपदार्थोंमें आत्मबुद्धि यही अविद्या है। विद्याविपरीत मिथ्याज्ञान ही यहां अविद्यापदसे विवक्षित है। ज्ञानाभाव विवक्षित नहीं है।

द्वितीय सूत्रमें अस्मितादि निखिल क्लेशोंका क्षेत्र—प्रसवभूमि—अविद्या है ऐसा निरूपण किया है। उन सबका विवेचन यहां विस्तारके भयसे नहीं किया जाता। योगसूत्रके भाष्यमें ये सब स्पष्ट हैं।

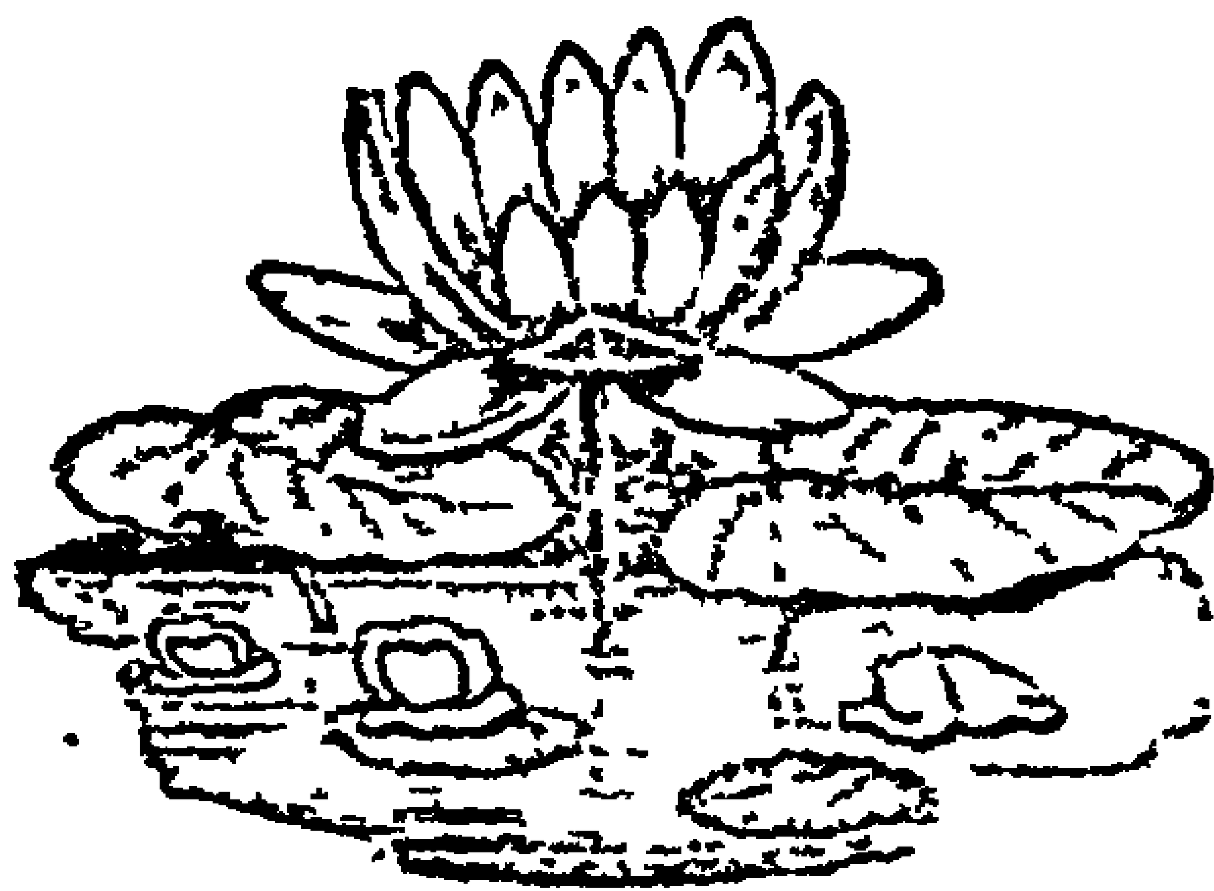
न्यायसूत्रकार महर्षि अक्षपाद भी मिथ्याज्ञानको ही सर्वानर्थका मूल और मिथ्याज्ञानके नाशको मोक्षका कारण बतलाते हैं—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। (न्यायसूत्र १।१।२) इस सूत्रमें उन्होंने प्रतिपादन किया है कि मिथ्याज्ञानसे रागद्वेषादि दोष होते हैं, दोषसे पुण्य-पापात्मक कर्ममें प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्तिसे उत्कृष्टापकृष्ट देह धारणरूप जन्म, और जन्मसे दुःख। इस तरह दुःखका मूल मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर दोष नष्ट होते हैं, रागद्वेषादि दोषका नाश होनेपर प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, प्रवृत्तिके अभावमें जन्म नहीं होता है, जन्माभाव होनेसे दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप अपवर्ग—मोक्ष—सिद्ध होता है।

वैशेषिक दर्शनकार कणादमुनि भी 'धर्मविशेषप्रसूतात्' इत्यादि सूत्रमें 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' इस वचनसे विपरीत ज्ञानको बन्धका कारण सूचित करते हैं।

उत्तरमीमांसामें कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस

शास्त्रारम्भसमर्थक सूत्रमें जिज्ञासापदसे सन्देह और प्रयोजनको सूचित करते हुए बन्धको ज्ञाननिवर्त्य बतलाते हैं। सत्य पदार्थकी कभी ज्ञानसे निवृत्ति नहीं होती है कल्पितकी ही निवृत्ति अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारसे होती है। इससे कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सम्पूर्ण बन्ध अध्यासमूलक ही सिद्ध होता है। वस्तुतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिसे रहित शुद्ध चैतन्यरूप प्रत्यागात्मामें अनात्म देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदिका तादात्म्याध्यास और अचिद्रूप अन्तःकरण आदिमें आत्मधर्मचैतन्याद्यध्यासपूर्वक अहंता, ममता रूप लौकिक व्यवहार अनादिकालसे प्रवृत्त हुआ है। और वह आत्मैकत्वज्ञानसे ही निवृत्त होता है। अध्यासभाष्यके उपसंहारमें पूज्यपाद भाष्यकार श्रीमच्छङ्कराचार्य कहते हैं—'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्याऽनर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते' इत्यादि *। यद्यपि अद्वैतवेदान्तसिद्धान्तमें माया आवरणविक्षेपरूपशक्तिद्वयविशिष्ट अनिर्वचनीय भावरूप ब्रह्माश्रित सर्वप्रपञ्चोपादान मानी गई है। वह अग्रहणरूप है और अन्यथाग्रहणात्मक अध्यास उसका कार्य है। तथापि माया या अविद्याकी अनर्थहेतुता अध्यास द्वारा ही है। इस हेतुसे 'तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते' इस वाक्यसे भाष्यकारने कार्यकारणके अभेदोपचारसे अध्यासको ही अविद्यारूप कहा है। इस प्रकार सर्वशास्त्रोंमें अविद्या ही सब अनर्थोंकी मूलभूत बतलायी गई है।

(क्रमशः)



---

* इस प्रकार अनादि अनन्त नैसर्गिक मिथ्याज्ञानस्वरूप और आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि उत्पन्न करनेवाला यह अध्यास सब लोगोंके प्रत्यक्ष है। इस अनर्थके हेतु अध्यासका समूल नाश करनेके लिए एवं ब्रह्म और आत्माके एकत्वका ज्ञान उत्पन्न करके लिए सब वेदान्तोंका आरम्भ किया जाता है इत्यादि।'

महर्षि वाल्मीकिजी द्वारा वर्णित श्रीरामजीके सोलह स्थान

(लेखक—साहित्यरञ्जन पण्डित श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

रामचरितमानसकार श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके हृदयमें महर्षि वाल्मीकिजीकी बड़ी प्रतिष्ठा है। वन्दनामें सीधे-सीधे उनका नाम न लेकर, कहते हैं—

वन्दौ मुनिपदकञ्जु, रामायण जेहि निरमयेउ।
सखर सुकोमल मञ्जु, दोषरहित दूषण-सहित॥

अयोध्याकाण्डमें कुल १३ छन्द हैं। उनमें से बारहमें श्रीगोस्वामीजीने अपना उपनाम 'तुलसी' दिया है, केवल श्रीवाल्मीकिजीके आश्रममें, प्रभु-मिलन-प्रसंगमें, छन्द कहते समय कवि बननेमें सङ्कोच किया और अपना उपनाम नहीं दिया। यथा—

श्रुति-सेतु-पालक राम तुम जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ दयानिधानकी॥
जो सहससीस अहीस महिधर लखन सचराचरधनी।
सुरकाज लगि नरराज तन चले दलन खलनिसिचर-अनी॥

इसीसे आप समझ सकते हैं कि उक्त महात्माजीका महर्षिजीके प्रति कितना आदर था। रामायणका रहस्योद्घाटन भी श्रीगोस्वामीजीने भगवान् वाल्मीकिके श्रीमुखसे ही कराया है। आज मुझे इसी विषयमें आपकी सेवामें कुछ निवेदन करना है।

श्रीरामचरितमानस लिखते समय श्रीगोस्वामीजीने बीस स्थानोंमें अपनी चिकीर्षाका उल्लेख किया है, जिनमें से तीन तो प्रसङ्ग विशेषके सम्बन्धमें है।

यथा—(१) कहिहौं सोइ संवाद बखानी।
(२) सो सब हेतु कहब मैं गाई।
(३) अब सोइ कहौं प्रसङ्ग सब सुमिरि उमावृषकेतु।

और एक नानापुराण-निगमागमसम्मत रामकथा कहनेके विषयमें है, फिर भी सोलह चीकीर्षा रामायणविषयक रह जाती हैं। जैसे—

(१) बरनउँ रामचरित भवमोचन ।
(२) तेहि बल मैं रघुपति गुनगाथा । कहि हौं नाइ रामपद माथा ।
(३) करिहौं रघुपति-कथा सोहाई ।
(४) करहु कृपा हरिजस कहउँ ।
(५) बरनउँ रामचरित चित चाऊ ।
(६) सुमिरि सो नाम रामगुनगाथा । करहुँ नाइ रघुनाथहिं माथा ।
(७) बरनउँ रघुबर-बिसद-जस ।
(८) भाषाबद्ध करब मैं सोई ।
(९) तस कहिहौं हिय हरिके प्रेरे ।
(१०) करौं कथा भव-सरिता तरनी ।
(११) बरनौ बिसद रामगुन-गाथा ।
(१२) करौं कथा हरिपद धरि सीसा ।
(१३) कहौं कथा सोइ सुखद सोहाई ।
(१४) करइ मनोहर मति अनुहारी ।
(१५) कह कवि कथा सोहाइ ।
(१६) कहौं जुगल मुनिवर्य्यकर मिलन सुभग संवाद ।

यद्यपि इन महात्माने ऐसे ढङ्गसे कहा कि यह वीप्सा खटकती नहीं है, फिर भी बरनउँ, कहउँ, करौं की सोलह बार आवृत्ति करना निरर्थक नहीं है । बहुत दिनोंसे यह बात मनमें घूम रही थी, पर कोई समाधान नहीं मिलता था । एक दिन 'वाल्मीकि-प्रभुमिलन' प्रसङ्गका विचार करते समय अकस्मात् इसका समाधान हो गया । अतः श्रीगुरुकृपासे जो बात मनमें आई, उसे आप लोगोंके भी श्रवणगोचर किये देता हूँ ।

एक रामायण (श्रीरामजीका स्थान श्रीरामचरितमानस) को भाषाबद्ध तो श्रीगोस्वामीजीने किया, पर उसीके अन्तर्गत 'वाल्मीकप्रभुमिलनप्रसङ्ग' में सोलह रामजीके स्थान श्रीमहर्षिजीके मुखसे कहलाकर षोडशकलपुरुषविषयिणी उन वाल्मीकिजी की कविताकी पूर्णता दिखलाई । अतः उनकी की हुई सोलहों बारकी चिकीर्षा सार्थक है ।

(१) अब शेष षोडश रामजीके स्थान, जो वाल्मीकि महर्षिजीके मुखसे

कहलाये गये हैं, उनका विवरण किया जाता है। भगवान् रामचन्द्रके पूछने-पर कि मैं कहाँ ठहरूँ? महर्षिजीने कहा—

'पूछेहु मोहिं कि रहउँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होउ तहँ देहुँ कहि, तुम्हहि बतावउँ ठाउँ॥'

तुम पूछते हो कि कहाँ रहूँ? पर मुझे तो पूछते सङ्कोच होता है, जहाँ तुम नहीं हो, उस स्थानको तुम मुझे बता दो, तो उसी स्थानको मैं तुम्हें रहनेके लिए बतला दूँ। भावार्थ यह निकला कि 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना'। विश्व ब्रह्माण्डमें श्रीरामजी सभी स्थानोंमें रहते हैं। अतः अखिल ब्रह्माण्ड ही श्रीरामचन्द्रजीका स्थान है।

इस स्थानका वर्णन महर्षि श्रीवाल्मीकिजीने बड़ी कुशलतासे किया है—

राम स्वरूप तुम्हार, वचन-अगोचर बुद्धिपर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति जहँ निगम कहँ॥
जग पेखन तुम देखन हारे। विधि हरि शम्भु नचावन हारे॥
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुमहिं को जाननि हारा॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई॥

× × × ×

चिदानन्दमय देह तुम्हारी। विगतविकार जान अधिकारी॥

अन्यत्र भी कई स्थानोंमें श्रीरामायणमें इस स्थानका वर्णन आता है—

पद बिनु चले सुनै बिनु काना।
कर बिनु कर्म करहि विधि नाना॥

× × × ×

विषय करण सुर जीव समेता।
सकल एक ते एक सचेता॥
तिन्ह कर परम प्रकाशक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥

श्रीमद्भागवत ११वें स्कन्धके—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

किन्तु इसके ज्ञाता भी कोई विरले ही होते हैं।

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनामन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥
भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदेऽसतामसंभवायाखिलसत्त्वमूर्तये।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे व्यवस्थितामनुमृग्यदाशुषे ॥

[भा० २।४।१२, १३]

संसारसे जिनकी वासना हट गई, ब्रह्मलोक तकके ऐश्वर्य जिनकी दृष्टि काकविष्ठाके सदृश हो गये हैं, ऐसे परमहंस परिव्राजक महात्माओंकी उस स्थानमें पहुँच हो सकती है। वे जिनपर कृपा करें, ऐसे दूसरे अधिकारी भी उनकी कृपासे पहुँच सकते हैं।

(२) अब श्रीरामजीका दूसरा स्थान सुनिये—

वाल्मीकि हँसि कहा बहोरी। बानी मधुर अमिय जनु बोरी॥
सुनहु राम अब कहहुँ निकेता। जहाँ बसहु सिय-लखन समेता॥
जिन्हके श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुमकहँ गृह रूरे॥

जिनके हृदय समुद्रके समान हैं, और तुम्हारी कथा नाना प्रकारकी सुन्दर नदियाँ हैं। दिन-रात भरा करती हैं और वे पूरे नहीं होते। उन्हींका हृदय तुम्हारे लिए सुन्दर घर है। ऐसे भक्तोंकी कथा पूर्वार्ध बालकाण्डमें है। श्रीराम-चरितके मुख्य श्रोता भारद्वाज और उमा, ऐसे ही भक्त हैं। भरद्वाज, जैसे—

बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयन-सलिल रोमावलि ठाढ़ी।

उमा, जैसे—नाथ तवानन-ससि श्रवत कथा-सुधा रघुवीर।
श्रवन पठन मन पान करि नहि अघात मतिधीर॥

(३) अब श्रीरामजीका तीसरा स्थान सुनिये—

लोचन चातक जिन करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप-बिंदु-जल होहिं सुखारी॥
तिन्हके हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु-सिय-सह रघुनायक॥

जिन्होंने अपनी आंखोंको चातक (पपीहा) बना रक्खा है, वे दर्शनरूपी मेघकी अभिलाषा किया करते हैं। नदी, समुद्र और भारी तालावके जलका भी निरादर करते हैं। रूप-बिन्दु-जलसे सुखी होते हैं, उनका हृदय सुखदायक घर है, उसीमें बसो (अर्थात् वे ही श्रीरामजीके स्थान हैं)। ऐसे ही भक्तोंकी कथा

उत्तरार्द्ध बालकाण्डमें है। स्वायम्भुव मनु, शतरूपा, विश्वामित्र, लक्ष्मण आदि ऐसे ही भक्त हैं। स्वायंभुव मनु और शतरूपा जैसे—

उर अभिलाख निरन्तर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥
विधि-हरि-हर तप देखि अपारा। मनु-समीप आये बहु बारा॥
मांगहु बर बहु भाँति लोभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥

यहां विधि, हरि और हर नदी, सागर और सरस्थानीय हैं, इनका भी निरादर स्वायम्भुव मनु और शतरूपाने किया। विश्वामित्र, जैसे—

कौशिकरूप पयोनिधि पावन। प्रेमवारि अवगाह सुहावन॥
रामरूप राकेस निहारी। बढ़त बीची पुलकावलि भारी॥

लक्ष्मण, जैसे—

रामहिं लखन विलोकत कैसे। शशिहिं चकोर-किशोरक जैसे॥

जानकीजी, जैसे—

सीय सुखहि बरनिय केहि भाती। जनु चातकी पाई जल स्वाती॥

(४) चौथा श्रीरामजीका स्थान, जैसे—

जस तुम्हार मानस विमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुक्ताफल गुनन चुनहि, राम बसहु हिय तासु॥

तुम्हारा यश तो निर्मल मानसरोवर है, उसमें से जिनकी जिह्वारूपी हंसिनी गुणगण चुना करती है, हे राम! उनके हृदयमें बसो। ऐसे भक्तोंकी कथा अयोध्याकाण्डके पूर्वार्द्धमें है। अयोध्यावासी, निषाद, ग्रामवासी आदि ऐसे ही भक्त हैं। अवधवासी जैसे—

राम रूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होई देखि सुनि राऊ॥

लोगोंसे रामजीके रूप, गुण आदि सुनकर राजा प्रमुदित होते हैं। अयोध्यामें सरकारके रूप, गुण, शील और स्वभावकी चरचा फैल रही है—

सबके उर अभिलाष अस, कहहिं मनाइ महेस।
आपु अछत तजु राजपद, रामहिं देउ नरेस॥

निषाद, जैसे—

चरन-कमल-रजकहँ सब कहई। मानुष करन मूरि कछु अहई॥

ग्रामवासी—

ते पितु मातु धन्य जिन जाए। धन्य सो नगर जहाँ ते आए॥
धन्य सो देस सैल बन गाऊँ। जहँ जहँ जाहिं धन्य सो ठाऊँ॥
सुख पायेउ बिरंचि रचि तेही। ये जिनके सब भाँति सनेही॥

(५) पाचवाँ श्रीरामजीका स्थान, जैसे—

प्रभु-प्रसाद सुचि सहज सुवासा। सादर जासु लहई नित नासा॥
तुमहिं निवेदित भोजन करहीं। तव प्रसाद पट भूषन धरहीं॥
सीस नवहि सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि विनय विसेषी।
कर नित करहिं रामपद-पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा॥
चरन राम-तीरथ चलि जाही। राम वसहु तिनके मन माही॥

ऐसे भक्तोंका हृदय आपका स्थान है। उत्तरार्ध अयोध्याकाण्डमें ऐसे भक्त भरतजीकी कथा है। भरतजीका प्रसादपर अनुराग, जैसे—

आज्ञा सम न सुसाहिव सेवा। सोइ प्रसाद जन पावइ देवा।

'तुमहि निवेदित भोजन करहीं। तव प्रसाद पट भूषन धरहीं॥' का उदाहरण जैसे—जात पयादे खात फल पिता दीन्ह तजि राज।
जात मनावन रघुपतिहि भरत सरिसको आज॥

अन्न नहीं खाते, क्योंकि उसे सरकारको निवेदन नहीं कर सकते। सरकारका 'मुनिव्रत-वेष-अहार' हैं।

'सीस नवहि सुर गुर द्विजदेखी। प्रीति सहित करि विनय विशेषी॥' का उदाहरण जैसे—कतहु निमज्जनि कतहु प्रनामा। अथवा
करि प्रनाम पूछहिं जेहि तेही। केहि वन लखन राम वैदेही।

अब भरतजी की 'कर नित करहि रामपद-पूजा' कहते हैं, जैसे—

नित पूजत प्रभु-पावरी प्रीति न हृदय समाति।
मागि मागि आयसु करत राजकाज चहु भाति॥

तत्पश्चात् 'चरण राम-तीरथ चलि जाही', का उदाहरण देखिए—
'चले रामवन अटन पयादे।

(६) छठा श्रीरामजीका स्थान—

मन्त्रराज नित जपहिं तुम्हारा। सेवहिं तुमहि सहित परिवारा।
तर्पन होम करहिं विधि नाना। विप्र जेवाइ देहिं वहु दाना॥
सबकर मागहिं एक फल रामचरनरति होउ।
तिन्हके मन-मन्दिर बसउ सिय रघुनन्दन दोउ॥

जो नित्य तुम्हारे मन्त्रराजका जप करते हैं, परिवार सहित तुम्हारी सेवा करते हैं, नाना प्रकारके तर्पण-होम करते हैं, ब्राह्मण भोजन कराके दान देते हैं और सबका यही फल मागते हैं कि श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम हो, ऐसे लोगोंके

हृदयमें वसो, अर्थात् ऐसोंका हृदय आपका स्थान है। अरण्यकाण्डके पूर्वार्धमें ऐसे भक्त अत्रि आदि ऋषियोंकी कथा है। ये इसी प्रकारके भक्त थे। जैसे—

लक्षण—मन्त्रराज नित जपहिं तुम्हारा।

उदाहरण—निसदिन देव जपतहहु जेही।

लक्षण—पूजहिं तुमहि सहित परिवारा। उदाहरण जैसे—

ऋषि जी कहते हैं—भजे सशक्ति सानुज। सचीपति प्रियानुज।

लक्षण—सबकर मागहि एक फल रामचरनरति होउ। उदाहरण जैसे—जोग जाग जप तप जत कीन्हा। प्रभुकहँ देइ भगति वर लीन्हा। अथवा, पदाब्जभक्ति देहि मे।

(७) सातवाँ श्रीरामजीका स्थान—

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोह न राग न द्रोहा॥
जिनके कपट दंभ नहि माया। तिनके हृदय बसहु रघुराया॥

ऐसे भक्तोंका हृदय आपका स्थान है। अरण्यके उत्तरार्धमें ऐसे भक्त नारदजी हैं, जैसे—

काम नहीं, जैसे—काम-कला कछु मुनिहिं न व्यापी।

क्रोध नहीं, जैसे—भयऊ न नारद मन कुछ रोषा।

मद और मान नहीं, जैसे—ऐसे प्रभुहि बिलोकौ जाई।
पुनि न बनिहि अस अवसर भाई॥

मोह नहीं, जैसे—मोर स्राप करि अङ्गीकारा। सहत राम नाना दुखभारा॥

लोभ-क्षोभ नहीं, जैसे—राम सकल नामन ते अधिका।
होहु नाथ अघ-खग-गन-बधिका॥

राग-द्रोह नहीं, जैसे—अपर नाम उडुगन सरिस बसहु भगत उर-ब्योम।

कपट, दंभ, माया, नहीं, जैसे—तब बिबाह मैं चाहौं कीन्हा।
प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥

(८) आठवां श्रीरामजीका स्थान, जैसे—

सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी।

कहहिं सत्य प्रिय बात बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥

तुमहिं छाँड़ि गति दूसर नाहीं। राम बसहु तिनके मन माहीं॥

ऐसे भक्तोंका मन रामजीका स्थान है। किष्किन्धाके पूर्वार्धमें ऐसे भक्त सुग्रीवजी की कथा है। सुग्रीवजी सबके प्रिय हैं, जैसे—दीन्हो राज मोहिं बरियाई।

हितकारी ऐसे कि अपने प्रबल शत्रु वालिके वधकी प्रतिज्ञा सुनकर रघुनाथजीसे कहने लगे—

वालि परमहित जासु प्रसादा। मिलेउ राम तुम समन विषादा।
अब प्रभु कृपा करहु इहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती॥

सुग्रीवजीके लिए 'दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी' समान हैं, जैसे—

सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥

अब सुग्रीवजीमें 'कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी' देखिए—

नाथ विषय सम मद कछु नाहीं। मुनिमन छोभ करै छन माहीं॥

'जागत सोवत सरन तुम्हारी' का उदाहरण सुग्रीववचन—

भानु पीठ सेइय उर आगी। स्वामिहिं सर्बभाव छल त्यागी॥
देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम विहाई॥

'तुमहिं छाँड़ि गति दूसर नाहीं' का उदाहरण—कह कपीस अति भय अकुलाना।

तुम हनुमन्त संग लै तारा। करि विनती समुझाउ कुमारा॥

(९) नवां श्रीरामजीका स्थान, जैसे—

जननी सम जानहिं परनारी। धन पराव विषते विष भारी॥
जे हरषहिं परसंपति देखी। दुखी होहिं परविपति विसेषी॥
जिनहिं राम तुम प्राणपियारे। तिनके मन सुभ सदन तुम्हारे॥

ऐसे भक्तोंका मन रामजीका स्थान है। किष्किन्धाकाण्डके उत्तरार्धमें ऐसे ही सुभट वानर भक्तोंका वर्णन है।

'जननी सम जानहिं परनारी। धन पराव विषते विष भारी'का उदाहरण—

मंदिर एक रुचिर तहँ, बैठि नारि तपपुंज।
दूर ते ताहि सबहिं सिर नावा। पूछे निज वृत्तान्त सुनावा॥
तब तेहि कहा करौ जलपाना। खाहु सरस सुन्दर फल नाना॥

प्यासे मर रहे थे पर माल-मालिकसे बिना पूछे जलपान नहीं किया।

'जे हरखहिं पर संपति देखी'का उदाहरण जैसे—

धन्य जटायू सम कोउ नाहीं।
रामकाज कारन तनु त्यागी। हरिपुर गयउ परम बड़भागी॥

और 'दुखी होहिं परविपति विशेखी' का उदाहरण जैसे—

अस कहि लवन-सिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई।

एवं 'जिनहि राम तुम प्रानपियारे' का उदाहरण—
रामकाज लवलीन मन, विसरा तनकर छोह।

(१०) दसवां श्रीरामजीका स्थान—

स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्हके सब तुम तात।
मन-मंदिर तिनके बसहु, सीय सहित दोउ भ्रात॥

ऐसे भक्तका मन श्रीरामजीका स्थान है। सुन्दरकाण्डके पूर्वार्धमें ऐसे ही भक्त भगवान् मारुतीका चरित्र है।

स्वामी, जैसे—रामदूत मैं मातु जानकी।
सखा, जैसे—ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर-सागर कहँ बेरे॥
पितु-मातु, जैसे—मातु मोहिं दीजे कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा॥
गुरु, जैसे—अस मैं अधम सखा सुनु, मोहू पर रघुवीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन, भरे विलोचन नीर॥
सब, जैसे—करहि कृपा प्रभु अस सुनि काना। निरभर प्रेम मगन हनुमांना॥
सेवक सुत पति मातु भरोसे। फिरे असोच घनै प्रभु पोसे॥

(११) ग्यारहवाँ श्रीरामजीका स्थान—

अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। विप्र धेनु हित संकट सहहीं॥
नीति-निपुन जिनकर जगलीका। घर तुम्हार तिनकर मन नीका॥

ऐसे भक्तका मन श्रीरामजीका स्थान है। सुन्दरकाण्डके उत्तरार्धमें ऐसे भक्त विभीपणजीकी कथा है।

'अवगुन तजि सबके गुन गहहीं', इसका उदाहरण—
अंतहु भाय भलो भाईको कियो अनभलो मनाइके।
भई कुबरेकी लात विधाता राखी बात बनाइके (गीता०)

और 'विप्रधेनु हित संकट सहहीं' का उदाहरण—
विप्ररूप धरि वचन सुनाए। सुनत विभीषन उठि तहँ आए॥

ब्राह्मणको शरण देना रावणके राज्यमें घोर अपराध था जैसे—
जेहि जेहि नगर धेनु द्विज पावइ। नगर गांव पुर आग लगावइ॥

'नीतिनिपुण जिनकर जगलीका' सो रावण विभीपणजी की नीति-निपुणतासे ही विशेष चिढ़ा हुआ है। जैसे—
सठ मिलि जाइ तिनहिं कहु नीती।

सरकार श्रीमुखसे प्रशंसा करते हैं—
मैं जानउ तुम्हारि सब रीती। अतिसय निपुण न भाव अनीती॥

(१२) बारहवाँ श्रीरामजीका स्थान—

गुन तुम्हार समझहि निज दोषा। जेहि सब भांति तुम्हार भरोसा॥
रामभगति प्रिय लागहि जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥

ऐसे भक्तका उर श्रीरामजीका स्थान है। लङ्काके पूर्वार्धमें ऐसे भक्त समुद्रजीका उल्लेख है।

'गुन तुम्हार समुझहि निज दोषा।' का उदाहरण—
प्रभु भल कीन्ह मोहिं सिख दीन्ही।

'जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥' का उदाहरण—
करहु बेगि जो तुमहिं सोहाई।

'रामभगत प्रिय लागहि जेही।' का उदाहरण—
जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहिं श्रमहारी॥

(१३) तेरहवाँ श्रीरामजीका स्थान—

जाति पाँति धन धर्म बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुमहिं रहै उर लाई। तेहिके हृदय रहहु रघुराई॥

ऐसे भक्तका मन श्रीरामजीका स्थान है। लङ्काकाण्डके उत्तरार्धमें ऐसे भक्त वानर सैनिकोंका वर्णन है, वे ही ऐसे भक्त हैं। जैसे—

सुनु सुरपति कपि भालु हमारे। परे भूमि निसिचरन जे मारे॥
मम हित लागि तजे इन प्राना। सकल जियाव सुरेस सुजाना॥

(१४) चौदहवाँ श्रीरामजीका स्थान—

सरग नरक अपबर्ग समाना। जहँ तहँ दीख धरे धनुबाना॥
कर्म बचन मन राउर चेरा। राम करहु तिनके उर डेरा॥

ऐसे भक्तोंका हृदय श्रीरामजीका स्थान है। उत्तरकाण्डके पूर्वार्धमें ऐसे भक्त सनकादिका वर्णन है। 'सरग नरक अपबर्ग समाना'का उदाहरण जैसे—

समदर्शी मुनि बिगत बिभेदा। करम बचन मन राउर चेरा॥
आसा असन ब्यसन यह तिनहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनही॥

(१५) पन्द्रहवाँ श्रीरामजीका स्थान—

जाहि न चाहिय कबहु कछु, तुमसन सहज सनेह।
बसहु निरंतर तासु उर, सो राउर निज गेह॥

ऐसे भक्तका हृदय श्रीरामजीका स्थान है। उत्तरकाण्डके उत्तरार्धमें ऐसे भक्त भुसुण्डिजीका चरित है। जैसे—

प्रभु कह देन सकल सुख सही। भक्ति आपनी देन न कही।
भजनहीन सुख कवने काजा। अस विचारि बोलेउ खगराजा॥

यहां भक्तोंका वर्णन समाप्त हुआ। इन चौदहों स्थानोंमें प्रभुका सेवन करने वालोंको भगवद्भक्ति मिलती है। जैसे—

अस विचारि जो कर सतसंगा। रामभगति तेहि सुलभ विहंगा॥

(१६) सोलहवां श्रीरामजीका स्थान—

कह मुनि सुनहु भानुकुलनायक। आश्रम कहहुँ समय सुखदायक।
चित्रकूट गिरि करहु निवासू। जहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥

इस प्रसङ्गके लिए चित्रकूट उपलक्षण है, क्योंकि—

तहहिं अवध जहँ रामनिवासू। तहहिं दिवस जहँ भानुप्रकासू।

अतः लीला-विग्रहका निवास भी यही स्थान है। इस स्थानका सेवन करने-वालोंको परा भक्तिकी प्राप्ति होती है। जैसे—

कवनेउ जन्म अवध बस जोई। रामपरायन सो परि होई॥

इस भाँति महर्षि वाल्मीकिजीने सोलह स्थान रघुनाथजीको सुनाए। प्रत्येक काण्डके पूर्वार्ध और उत्तरार्धमें भगवत्चरितके साथ भागवतचरित भी है। वस्तुतः भागवतके हृदय और चरितमें भी सिवा भगवद्गुणानुवादके और कुछ नहीं होता सो सातों काण्डोंमें सब मिलाकर चौदह प्रकारके भक्तोंके चरित हैं। अतः चौदहों प्रकारके भक्तोंके हृदयमें बसनेकी प्रार्थनाके व्याजसे चौदह प्रकारके भक्त गिनाये गये। एवं रीत्या चौदहों प्रकारके भक्तोंके लक्षणज्ञानसे श्रीरामचरितमानसके पात्रोंके स्वभावको समझनेमें फलतः अर्थ करनेसे बड़ी सहायता मिल सकती है।

श्रीगोस्वामीजीकी वीप्साके विषयमें और महर्षि वाल्मीकिजीके उत्तर के उपयुक्त होनेके विषयमें मेरी आशङ्काएँ थीं, वे श्रीगुरुकृपासे 'वाल्मीकि-प्रभुमिलन' प्रसङ्गके मननसे जाती रहीं। आशा है कि श्रीरामानुरागी पाठकोंके लिए भी यह लेख कुछ सहायक होगा।

लेख बढ़ जानेके भयसे हृद्गत भाव अतिसंक्षेपसे कहे गये हैं, सम्भव है कि समझनेमें कुछ कठिनता पड़े, अतः पाठकोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ।



अद्वैतचिन्ता

(लेखक—एक ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी)

यह अनुभवसिद्ध है और सब लोगोंकी बुद्धिमें आ भी सकता है कि अद्वैत-भावना लोकोत्तर आनन्दकी उत्पत्तिकी साधिका है। जब कोई यह निश्चय कर ले कि 'सब मेरे ही रूप हैं, या 'सब वासुदेवरूप हैं' या 'एक मैं ही हूँ' तो ऐसी अवस्थामें राग, द्वेष आदि दोषोंका दूर होना उचित ही है, क्योंकि जब दूसरा समझा जाता है, तभी उसके साथ राग आदि भी होते हैं। यदि दूसरा समझा ही न जाय और सबमें आत्मभावना परिपाक तक पहुँचा दी जाय, तो राग, द्वेप किससे होंगे? वल्कि राग, द्वेप आदि करनेवाले भी ऐसी व्यक्तिके साथ राग, द्वेप आदि छोड़ देते हैं अथवा उनकी राग-द्वेपानुकूल शक्ति कुण्ठित हो जाती है। इसी आशय से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' यह श्रुति माताकी शिक्षा है। अतएव 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' यह भगवान्का वस्तुभूत उद्गार है। इसलिए अद्वैतभावनाके पुरुषार्थ होनेमें किसीको विवाद नहीं है।

यदि विवाद है तो केवल इसी अंशमें कि वह भ्रममूलक है अथवा प्रमामूलक है।

यदि अद्वैत वास्तव हो तो द्वितीय पक्ष ही मानना होगा, नहीं तो पहला। यद्यपि भावनाका इतना अलौकिक महत्त्व है कि वह भ्रममूलक होती हुई भी शान्ति दे सकती है, क्योंकि मानसशक्तियोंका, जिनका कि विविध विषयोंके अनुभवमें व्यय हो रहा है, एक ही विषयमें उपयोग कर देनेसे किसी असाधारण फल तक पहुँचना दुःसाध्य होता हुआ भी असम्भव नहीं है। यह मनोविज्ञानका तत्त्व है। ऐसी अवस्थामें अद्वैतके वास्तविक न होनेपर भी उसकी भावना उक्त अभीष्ट तक पहुँचा सकती है; तथापि अद्वैतके साधक प्रमाणोंके विद्यमान रहते अद्वैतबोधको भ्रम कहना अनुचित है। प्रामाण्यके स्वतस्त्व अथवा परतस्त्वमें दार्शनिकोंकी विप्रति-पत्ति होनेपर भी उसकी उत्सर्गतामें किसीको विवाद नहीं है। अधिक क्या कहें! जो बौद्ध अप्रामाण्यको स्वतः मानते हैं, उन्हें भी व्यवहारका अनुरोध करते हुए प्रामाण्यको औत्सर्गिक मानना पड़ता ही है, क्योंकि देखा जाता है कि जिन ज्ञानोंका यथार्थत्वव्यवहार जनतामें होता है, वे भ्रमास्पद ज्ञानोंकी अपेक्षा बहुत महत्त्व रखते हैं। प्रायः ज्ञानोंका यथार्थ होना ही प्रामाण्यका औत्सर्गिकत्व समझना चाहिए।

जब यही परिस्थिति है तब गृहीत सिद्धान्तोंमें बाधक प्रमाणोंके दूर कर देनेसे ही दार्शनिक विद्वान् यदि अपने-अपने अभीष्ट सिद्धान्तको सिद्ध करें, तो कुछ

अनुचित नहीं है; क्योंकि किसी-न-किसी तरहसे सिद्धान्तका ज्ञान तो हो ही चुका है और उस ज्ञानका यथार्थ होना भी उत्सर्गतः प्राप्त ही है, केवल बाधकके दूर कर देनेसे वह प्रामाण्य यथावत् बना ही रहता है।

अद्वैतज्ञानमें यदि बाधक ढूँढा जाय, तो आपाततः सब-के-सब प्रमाण सामने उपस्थित होंगे, क्योंकि प्रत्यक्षादिसे द्वैत ही प्रतीत होता है। परन्तु अद्वैतवादके प्रकाण्ड विद्वान् विनीतभावसे तथा निष्पक्षपात होकर इन प्रमाणोंके विरोधका परिहार करते हुए सहृदय जनताको अपनाये बिना नहीं रहते। उनका यह कहना है कि उक्त रीतिसे प्रामाण्यके औत्सर्गिक सिद्ध होनेपर झटपट द्वैतप्रमाणोंको या अद्वैतप्रमाणोंको सर्वथा अप्रमाण कह देना बहुत अनुचित है। सबकी बात माननी होगी। मगर किस ढंगसे वह मानी जाय, इसके लिए कोई रमणीय मार्ग ढूँढ़ निकालना चाहिए। जिसमें सब प्रमाण प्रेमसे अपने-अपने स्वास्थ्योपयोगी सार्वदिक भ्रमणको निभा सकें।

अब यह विचार करना चाहिए कि वह मार्ग कौन है? यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षादिसिद्ध द्वैत ही ठीक है, तो 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियाँ पीड़ित होंगी। यह कहना भी ठीक नहीं होता कि इन श्रुतियोंको द्वैतमें ही हिल-मिल जाना चाहिए, क्योंकि स्फुट अद्वैत ही उनका अर्थ प्रतीत हो रहा है और वह भी तीन पदोंमें। ऐसी अवस्थामें खींचातानी करनेकी अपेक्षा तो उन्हें सर्वथा अप्रमाण कहना ही उचित होगा। मगर वैदिकसमाजान्तःपाती ऐसा कहनेका साहस नहीं कर सकता। यदि केवल इन अद्वैत श्रुतियोंका ही अनुरोध कर प्रत्यक्षादिकोंकी अवहेलना की जाय, तो यह भी बहुत अनुचित है। दोनोंका अप्रामाण्य या समभावसे प्रामाण्य उपपादन करना तो बहुत ही कठिन है, इसलिए एकके प्रामाण्यको कुछ अग्रसर दर्जा देकर और दूसरेके प्रामाण्यको कुछ न्यून दर्जा, जिससे कि उसे पीड़ा भी प्रतीत न हो, देकर ही व्यवस्था करनी होगी। अग्रसर दर्जा है—पारमार्थिक प्रामाण्यका अर्थात् तीनों कालोंमें बाधित न होनेवाली वस्तुको विषय करनेवालेका। और न्यून दर्जा है—व्यावहारिक प्रामाण्यका अर्थात् व्यवहार कालमें रहनेवाली अथवा बाधित न होनेवाली वस्तुको विषय करनेवालेका। मगर यह न्यून दर्जा श्रुतिको नहीं दिया जा सकता, क्योंकि अद्वैत व्यवहारका विषय नहीं है और द्वैत तो व्यवहारका विषय है, अतः प्रत्यक्षादिको ही व्यावहारिक प्रामाण्यमें चरितार्थ करना चाहिए। परिशेषात् श्रुतिका पारमार्थिक प्रामाण्य ही मानना चाहिए। प्रत्यक्षादिका व्यावहारिक प्रामाण्य तो और लोग भी मानते ही हैं। हाँ, विशेष इतना ही है कि वे व्यावहारिकको ही पारमार्थिक कहते हैं, मगर यह ठीक नहीं है, क्योंकि पारमार्थिक वस्तु वह हो सकती है, जिसका कभी नाश न हो। घटादिका तो नाश प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः उनको पारमार्थिक कहना अनु-

चित है। यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि नष्ट न होनेवाली ही वस्तु परमार्थ है, ऐसी अवस्थामें आकाशादि नित्य पदार्थ भी परमार्थ मानने पड़ेंगे, क्योंकि 'अतोऽन्यदार्तम्' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मातिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थ स्पष्ट रीतिसे नश्वर कहे गये हैं। इसलिए जो नित्य ब्रह्म है, वही परमार्थ है और बाकी सब अपरमार्थ हैं। यहाँ यह शङ्का होती है कि ऐसा कहनेसे अनित्यत्व और अपारमार्थिकत्व एक ही हुए। यद्यपि द्वैती लोग इसमें भी सिद्धसाधन नहीं दे सकते, क्योंकि ब्रह्मसे अतिरिक्त सब अनित्य हैं, ऐसा कोई नहीं मानता; तथापि 'प्रपञ्च तीनों कालोंमें नहीं है' इस वेदान्तसिद्धान्तकी रक्षा न होगी। इस शङ्काका उत्तर यह है कि अनित्यत्व और अपारमार्थिकत्वके एक जगह रहनेपर भी वे एकस्वरूप नहीं हैं। हाँ, जो अनित्य होता है, वह अपारमार्थिक अवश्य होता है। इसलिए व्यवहारकालमें द्वैतको मानने और परमार्थतः तीनों कालोंमें उसका अभाव माननेमें कोई विरोध नहीं है। इसलिए अद्वैतज्ञान प्रमा ही है। उसके प्रमा होनेसे तन्मूलक भावनाका केवल शान्तिरूप दृष्ट फल ही नहीं है, किन्तु अज्ञानका, जो कि सब भ्रमोंका मूल है, उच्छेद करती हुई वह मुक्ति भी दे सकती है। इति शम्।

होली

रंगी हौं तो रंग तिहारे और रंग जनि डारो ॥
खेलहिं खेलत जन्म सिरान्यौ यातें अब निरवारो।
हौं तो सब विधि भई तिहारी खेलहिंमें जनि टारो ॥
स्यामहिं रंग रँग्यो सब तन मन जो न होय पतियारो।
आवहु हृदय चीर नेक देखहु रमि रह्यौ रंग तिहारो ॥
कारे पै रंग और न चढ़ि है भिजवो न यह तन सारो।
काहेको बरबस लोग हँसावहु 'दास हरी' निस्तारो ॥

'दास हरि'



श्रीरामचरितमानसमें होली

(लेखक—साहित्यरञ्जन पण्डित श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजीने कहा है कि—

'कीरति सरित छवो रितु रूरी। समय सुहावन पावन भूरी' ॥

यह कीर्ति सरित छहों ऋतुओंमें सुन्दर है, समय सोहावन है; सो इस समय फाल्गुन चल रहा है, माघ बीत गया। ये ही दो महीने मिलकर शिशिर कहलाते हैं। अब यह देखना है कि इन महात्माने शिशिर किसे माना है, तो चौपाई मिली।

'शिशिर सुखद प्रभु जनम उछाहू'।

अतः प्रभु-जन्म हुआ माघ, और उछाह हुआ फाल्गुन। अब थोड़ा-सा उछाह-वर्णन सुनिये और राम-कथामें होलीका आनन्द लीजिए।

गोस्वामीजी कहते हैं—

'त्रिविध ताप होली जलै खेलिय अस फाग'। (विनय-पत्रिका)

सो त्रिविध तापकी होली तो सरकारके जन्म लेते ही जल गई, जैसे—

हरखित जहँ-तहँ धाईं दासी। आनँद मगन सकल पुरवासी ॥
दसरथ-पुत्र-जन्म सुनि काना। मानहु ब्रह्मानन्द समाना ॥
परमानंद पूरि मन राजा। कहहु बोलाइ बजावहु बाजा ॥

नगरमें आनन्द मच गया, तैयारियाँ होने लगीं; देवताओंने भी हाथ बढाया।

ध्वज पताक तोरन पुर छावा। कहि न जाइ जेहिं भाँति बनावा ॥
सुमन-वृष्टि अकास ते होई। ब्रह्मानंद मगन सब लोई ॥
वृंद वृंद मिलि चलीं लुगाईं। सहज सिंगार किये उठि धाईं ॥

अब लोगोंका हाल सुनिये—

लै लै ढोल प्रजा प्रमुदित चले, भाँति भाँति भरि भार।
करहिं गान करि आन रायकी, नाचहिं राज दुआर ॥
गज रथ बाजि बाहिनी बाहन, सबन सँवारे साज।
जनु रतिपति रितुपति कोसलपुर, विहरत सहित समाज ॥

घंटा घंटि पखाउज आउझ झाझ बेनु डफ तार।
नूपुर धुनि मंजीर मनोहर कलकंकन झनकार।
नृत्य करहिं नट-नटी नारि-नर अपने-अपने रंग।
मनहु मदनरति विविध वेषधरि नटत सुवेष सुढंग ॥
उघरहिं छंद प्रबंध गीतपद राग तान बँधान।
सुनि किन्नर-गंधर्व सराहत विथके हैं विबुध विमान ॥

कुंकुम-अगर-अरगजा छिरकहिं भरहिं गुलाल-अबीर ।
नभ प्रसून झरि पुरी कोलाहल भई मनभावनि भीर ।। (गीतावली)

सो सूखे और गीले दोनों प्रकारके रंगोंकी ऐसी भरमार हुई कि गलियोंमें कीच मच गई । जैसे—

मृगमद चंदन कुंकुम कीचा । मची सकल वीथिन्ह विच वीचा ।।

जिस भाँति होलीकी उमंगमें बहुत-सी अनुचित बातें भी उचित मान ली जाती हैं, उसी भाँति छोटी-मोटी चोरी भी हास-परिहासमें ही परिगणित होती है । लड़के उछाहमें भरे हुए स्वाँग बनाये फिरते हैं । यहाँ बड़े बूढ़ोंकी चोरी देखिये—

औरो एक कहहुँ निज चोरी । सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ।।
कागभुसुंडि-संग हम दोऊ । मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ ।।
परमानंद प्रेमरस फूले । वीथिन फिरउँ मगन मन भूले ।।

अब होली ही हो रही है तो थोड़ी गाली भी सुनिये । बिना गालीकी होली मातम मालूम होती है । जब क्रोधकी गाली तीन सौ साठ दिन सभ्य समाज में भी बराबर चला ही करती है, तो प्रेमकी गाली केवल एक दिनके लिए यदि हर्षोद्दीपक न हो तो क्षम्य तो अवश्य ही है । श्रीगोस्वामीजीने भी कहा है—

अमिअगारि गार्यौ गरल, गारि कीन्ह करतार ।
प्रेम बैरकी जननि जुग, जानहि बुध न गँवार ।। (दोहावली)

इस महोत्सवमें सभी सम्मिलित हुए, प्रजाओंकी तो भीड़ उमड़ पड़ी, देवताओंने फूलोंकी झड़ी बाँध दी, शङ्कर भगवान् स्वयम् भुसुण्डिजीके साथ मनुष्यका स्वाँग बनाये फिरते थे । ऐसे आनन्दके समय यदि अभिसारिका भी अपने प्रियतमसे होलीकी कसक मिटाने चले, तो इसमें आश्चर्य्य क्या है । तो रात्रिदेवी अभिसारिका होकर अपने प्रियतमसे मिलने चली । समय मध्याह्नका था, ऐसे समय रात्रिदेवीने कभी चौखटसे बाहर पाँव नहीं निकाले थे । वे जानती भी न थीं कि मध्याह्न किस बलाका नाम है, पर दुर्गम बाधाओंका भी सामना कर बैठना अभिसारिकाओंके हिस्सेकी बात है । रात्रि देवी भी अभिसारिकोचित साहस करके निकल पड़ीं, पर देखती क्या हैं कि सूर्य्यदेव बड़े ठाट-बाटसे रथ रोके खड़े हैं । रात्रिने कभी सूर्य्य-नारायणको देखा न था, अपरिचित बड़े बूढ़ेको देखकर संकुचित हो गई । सङ्कोचसे वे सन्ध्यारूपिणी हो गईं । जैसे—

अवधपुरी सोहै एहि भाँती । प्रभुहि मिलन आई जनु राती ।।
देखि भानु जनु मन सकुचानी । तदपि बनी सन्ध्या अनुमानी ।।

अब सन्ध्याका रूपक देते हैं । सन्ध्याके समय अँधेरा भी आ जाता है, और सूर्य्यके कारण लाली भी रहती है । उस अँधेरी और लालिमाका अद्भुत दृश्य होता

है। अति पटु चित्रकार ही उसे चित्रपटपर अंकित कर सकता है। यहाँ जलते हुए धूपके धुएँकी अंधेरी है, और उड़ती हुई अबीरकी लालिमा है। सो मानो रात्रिदेवी स्तब्ध होकर सन्ध्याके रूपमें खड़ी रह गई।

अगर धूप जनु बहु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहु अरुनारी॥

पूर्णिमा होनेसे अभी सूर्य्यदेव अन्धकारसे पूरी तरह विलीन नहीं हुए थे, उधर पूर्वसे निशानाथ भी अपने ताराओंकी सेना साथ लिये आते हुए दिखाई पड़े। अब बेचारी अभिसारिका कहाँ जाय ? पीछे लालभभूका हुए रजनीकान्त और सामने रागरञ्जित वदन बूढ़े दिनमणि—

मन्दिर मनि समूह जनु तारा। नृपगृह-कलस सो इंदु उदारा॥

चिड़ियोंको भी धोखा हो गया कि सचमुच सन्ध्या ही हो गई। अतः वे भी चहचहाने लगीं—

भवन वेद धुनि अति मृदुबानी। जनु खग मुखर समय जनु सानी॥

बूढ़े सूर्य्यदेवने भी निशा सुन्दरी और उसके शृङ्गारका बड़ा वर्णन सुन रक्खा था, कभी देखनेकी नौबत नहीं आई थी।

बिथुरे नभ मुक्ताफल तारा। निसि सुन्दरी केर सिंगारा॥

आज निशा सुन्दरीको देख पाया, सो ऐसे मुग्ध हुए कि अपनेको ही भूल गये।

कौतुक देखि पतंग भुलाना। मास दिवस तेहिं जात न जाना॥

एक महीने देखते ही रह गये, और रात्रि देवी सन्ध्या बनी ही रह गई। यदि किसी भाँति ये बूढ़े बाबा हटें, तो रात्रि देवी भी सन्ध्यारूपी घूँघट खोलकर अपने प्रियतम से मिले, पर ये हटते ही नहीं। जैसे—

मासदिवस कर दिवस भा मरम न जानै कोय।
रथ समेत रवि थाकेउ निसा कवन बिधि होय॥

होलीकी धुनमें मस्त लोगोंको क्या पता कि आकाश में क्या हो रहा है। उन्हें भूलोकका ही पता नहीं, या यों कहिये कि अपना ही पता नहीं। जैसे—

जेहिं सुखसुधासिंधु-सीकरते सिव बिरंचि प्रभुताई।
सो सुख अवध उमगि रह्यौ दस दिसि कवन जतन कहौं गाई॥

यहाँ एक महीनेका दिन हो गया, उन्हें आनन्दातिशयमें क्षण प्रतीत हो रहा है।

ब्योम पवन पावक जल थल दस दिसहु सुमंगल मूल।
सुर दुंदुभी बजावहिं गावहिं हरखहिं बरखहिं फूल॥ (गीतावली)

इसी भाँति छहों ऋतुओंका वर्णन श्रीरामचरितमें है। यदि परमेश्वरकी इच्छा हुई तो प्रत्येक ऋतुका वर्णन अच्युतमें प्रकाशित करनेका उद्योग किया जायगा।

महर्षि व्यासजीके तात्पर्यका निर्णय *

(लेखक—पण्डित श्रीकृष्णपन्त साहित्याचार्य)

परम कृपालु भगवान् श्रीहरिने सम्पूर्ण लोकोंके अनुग्रहके लिए व्यासरूपसे अवतार लेकर परस्पर विरुद्ध-से ज्ञात होनेवाले वेदान्तवाक्योंके तात्पर्यको जाननेमें असमर्थ मन्दबुद्धियोंको सम्पूर्ण उपनिषदोंके यथार्थ तात्पर्यके निर्णय द्वारा परम पुरुषार्थका साधनभूत तत्त्वज्ञान हो, इसलिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से लेकर 'अनावृत्तिः शब्दात्' तक ब्रह्मसूत्रोंकी रचना की †। व्यासजी द्वारा निर्मित उक्त सूत्रोंका आशय अति स्फुट नहीं है, अतएव भगवत्पाद शङ्कराचार्य, भट्टभास्कर, श्रीकण्ठाचार्य, यादवप्रकाश, रामानुज, मध्व, चित्प्रकाश और वल्लभाचार्यने अपने-अपने सिद्धान्तके अनुरूप उनकी व्याख्या की। उनमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके मतमें जीव और ब्रह्मका अभेद स्वाभाविक एवं पारमार्थिक है तथा भेद औपाधिक और काल्पनिक है। भट्टभास्करके मतमें जीव और ब्रह्मका भेद स्वाभाविक और पारमार्थिक है, एवं भेद औपाधिक होनेपर भी पारमार्थिक है। यादवप्रकाशके मतमें जीव और ब्रह्मका भेद और अभेद स्वाभाविक ही है। श्रीकण्ठ और रामानुजके मतमें जीव और ब्रह्मका भेद स्वाभाविक और विशिष्टाद्वैत ‡ है। इन दोनोंके मतमें इतना अन्तर है

---

* 'व्यासतात्पर्यनिर्णय' के आधारपर।

† स च नारायणस्यांऽशो भगवान् बादरायणः।
दृष्ट्वा मन्दमतीन् मर्त्यान् कृपया परयाऽन्वितः॥
वेदान्तार्थस्तु सर्वेषां नाना भाति न चैकधा।
अतस्तेन कथं ब्रह्म जानात्यल्पमतिः पुमान्॥
इति संचिन्त्य मतिमान् पुनः कारुणिकोत्तमः।
सूत्रयामास वेदान्तवाक्यार्थं शङ्कराज्ञया॥
(शैव पु० एकादश रुद्रसंहिता)

‡ द्वयोर्भावः द्विता, द्वितैव द्वैतम्; भेद इत्यर्थः। न द्वैतमद्वैतम्—अभेदः। विशिष्टस्य अद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्—अर्थात् अपनेसे भिन्न चेतन (जीव) और अचेतन (जगत्) से विशिष्ट ब्रह्म एक ही तत्त्व है, ऐसा प्रतिपादन होनेसे रामानुजमत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

कि श्रीकण्ठ शिवको परम तत्त्व मानते हैं और रामानुज विष्णुको परम तत्त्व मानते हैं। मध्वाचार्यके मतमें तो जीव और ब्रह्मका भेद ही स्वाभाविक है।

वेदान्तके तात्पर्यका निर्णय करना वैदिक धर्मावलम्बी द्विजमात्रके लिए परम आवश्यक है। शक्ति रहते वेदान्तनिर्णय न करनेसे पाप लगता है *। उपर्युक्त मतभेद होनेपर जिज्ञासुको यह सन्देह होना अनिवार्य है कि पूर्वोक्त भाष्यकारोंके मतोंमें से कौन-सा मत सूत्रकार भगवान् श्रीवेदव्यासजीका अभिमत है। उक्त सन्देहकी निवृत्तिके लिए निर्णय किया जाता है कि केवल अद्वैतमें ही व्यासजीका तात्पर्य है।

किसीको आशङ्का हो सकती है कि अनेक पौराणिक वचनोंसे यह सिद्ध है कि भाष्यकार भगवान् श्रीशङ्कराचार्य ज्ञानराशि भगवान् श्रीशङ्करके अवतार थे † और उनका भाष्य श्रीसूतसंहितामूलक है ‡ अतएव भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीके अभिमत केवल अद्वैतमें ही व्यासजीका तात्पर्य है, यह बात दिनके समान अत्यन्त स्फुट प्रतीत हो रही है; फिर उसके निर्णयके लिए किसी प्रकारके प्रयत्नकी क्या आवश्यकता है?

यद्यपि यह आशङ्का किसी अंशमें ठीक है, तथापि इस विषयका निर्णय करना काकदन्तगणना या जलताड़नके समान निष्फल नहीं है, क्योंकि

---

* स्थापयध्वमिमं मार्गं प्रयत्नेनापि हे द्विजाः।
स्थापिते वैदिके मार्गे सकलं सुस्थिरं भवेत्॥
यो हि स्थापयितुं शक्तो न कुर्यान्मोहितो नरः।
तस्य हन्ता न पापीयानिति वेदान्तनिर्णयः॥
यः स्थापयितुमुद्युक्तः श्रद्धयैवाक्षमोऽपि सन्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः साक्षाज्ज्ञानमवाप्नुयात्॥
यस्तु विद्याभिमानेन वेदमार्गप्रवर्तकम्।
छलजालादिभिर्जीयात् स महापातकी भवेत्॥ (स्कन्दपुराण)

† द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने।
चतुर्भिः सह शिष्यैस्तु शङ्करोऽवतरिष्यति॥

‡ तामष्टादशधा दृष्ट्वा शङ्करः सूतसंहिताम्।
चक्रे शारीरकं भाष्यं सर्वश्रुतिमनोहरम्॥

अनेक पौराणिक वचनोंसे यह भी प्रतीत होता है कि आचार्य रामानुज शेषावतार थे* और 'भगवान् बोधायननिर्मित विस्तृत ब्रह्मसूत्रवृत्तिका ही पूर्व आचार्योंने संक्षेप किया था उन्हींके मतका अवलम्बन करके हम सूत्रके अक्षरोंका व्याख्यान करेंगे— 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि उनके भाष्यसन्दर्भसे उनके भाष्यको बोधायनवृत्तिमूलक जानने से श्रीरामानुजका अभिमत अर्थ ही व्यासतात्पर्यका विषय है, यह अर्थ भी किसीको प्रामाणिक प्रतीत हो सकता है, उसी प्रकार मध्वाचार्य भी वायुके अवतार कहे गये हैं † और उनका भाष्य उनके मतमें प्रसिद्ध ब्रह्मतर्कमूल-रामायणमूलक माना गया है, इसलिए मध्वाचार्यजीका सिद्धान्त ही व्यासजीका तात्पर्य है, यह भी किसीको प्रामाणिक प्रतीत हो सकता है एवं इसी भाँति भट्टभास्कर, यादवप्रकाश, श्रीकण्ठ, चित्सुख, चिद्विवरण, वल्लभ आदि भी, तत्-तत् मतोंमें प्रसिद्ध वचनोंसे, तत्-तत् देवताओंके अवतार माने गये हैं और उनके भाष्य भी तत्-तत् मतोंमें प्रसिद्ध तत्-तत् प्रमाणमूलक माने गये हैं, इसलिए उनका अभिमत ही व्यासजीका तात्पर्य है, यह बात भी प्रामाणिक प्रतीत हो सकती है। ऐसी अवस्थामें परस्परविरुद्ध अर्थके प्रतिपादक अनेक भाष्योंका अवलोकन करनेवाले मन्दबुद्धियोंको व्यासतात्पर्यके विषयमें सन्देह होना अनिवार्य है।

अब यहांपर विचार करना चाहिए कि व्यासतात्पर्यका निर्णय करनेमें सूतसंहिता, बोधायनवृत्ति और तन्मूलक भाष्य सभी प्रमाण हैं या अप्रमाण हैं अथवा कोई एक ही प्रमाण है? यदि सभी प्रमाण माने जायँ, तो मूल तत्त्व भिन्न-भिन्न हो जायगा। परन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे विरोध होगा। यदि सभीको अप्रमाण मानें, तो पूर्वोक्त भाष्यों द्वारा प्रतिपादनीय भेद या अभेद आदिमें से किसी एकमें अवश्य तात्पर्य रखनेवाले श्रुतिवचन और सूत्रोंमें भी परस्पर विरुद्धार्थबोधकत्वरूपसे अप्रमाणता आनेके कारण वेदान्तशास्त्रका उच्छेद हो जायगा। इसलिए तीसरा विकल्प ही अर्थात् कोई एक ही प्रमाण है, यह अवशिष्ट रहता है। परन्तु उनमें यही मत

---

* अनन्तः प्रथमं रूपं लक्ष्मणस्तु ततः परम्।
बलभद्रस्तृतीयश्च कलौ कश्चिद् भविष्यति॥

† प्रथमो हनूमान्नाम द्वितीयो भीमसेनकः।
पूर्णप्रज्ञस्तृतीयस्तु भगवत्कार्यसाधकः॥

प्रमाण है, इस प्रकार कोई निर्णय नहीं कर सकता। यदि कोई कहे कि भगवान् शङ्कराचार्य, भट्टभास्कर, यादवप्रकाश, श्रीकण्ठ, रामानुज, मध्व, चिद्विवरण, वल्लभ आदिके भाष्य-ग्रन्थोंका अवलोकन करके पूर्वमीमांसोक्त न्यायसे उपबृंहित तत्-तत् भाष्योंमें उक्त तात्पर्यनिर्णायक उपक्रमोपसंहार आदि हेतुओंसे युक्त श्रुति और सूत्रके स्वारस्यके बलाबलके अनुसार इसी अर्थमें व्यासजीका तात्पर्य है यह निर्णय किया जा सकता है, अतः जिसका भाष्य उक्त रीतिसे निर्णीत होगा, उसीका भाष्य प्रमाण माना जायगा। तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्वोक्त तात्पर्यनिर्णायक हेतुओंसे युक्त श्रुति-सूत्र-स्वारस्यके बलाबलके अनुसार ही सम्पूर्ण भाष्यकारोंने अपने-अपने अभिमत अर्थको व्यासजीका तात्पर्यविषयी-भूत कहा है। ऐसी परिस्थितिमें विशेषरूपसे बलाबलका निर्णय करना सम्भव नहीं है।

हम लोग ही श्रुति और युक्तिके स्वारस्यके बलाबलके अनुसार यही अर्थ व्यासतात्पर्यविषय है, यह निश्चय कर सकते हैं; यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इस अवस्थामें यह विचार करना आवश्यक होता है कि क्या केवल युक्तिसे यही अर्थ व्यासजीके तात्पर्यका विषय है, यह निर्णय करते हैं। अथवा केवल श्रुतिके बलसे या श्रुतिसहकृत युक्तिके बलसे? इनमें प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें भी यह विकल्प उठता है कि क्या आप उपक्रमोपसंहार आदिरूप युक्तिके बलसे व्यासतात्पर्यका निर्णय करते हैं या अनुमानविशेषरूप केवल युक्तिसे परतत्त्वका निश्चय करके उसीके द्वारा यह अर्थ व्यासतात्पर्यका विषय है, यह निश्चय करते हैं? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि उपक्रमोपसंहार आदिरूप युक्ति श्रुतिकी सहकारिणी है, अतएव तीसरे विकल्पसे अभिन्न होनेके कारण केवल युक्तिमात्रसे यह पक्ष ही नहीं उठ सकता। दूसरा पक्ष भी नहीं ठहर सकता; क्योंकि 'नैषा तर्केण मतिरापनेया', 'तर्काप्रतिष्ठानात्'।

'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥'

इत्यादि श्रुति-सूत्र-वृद्ध-वचनोंसे केवल वेदान्तों द्वारा प्रतीत होनेवाले परम तत्त्वके निर्णयमें केवल युक्तिका खण्डन किया गया है, अतएव केवल युक्तिसे ही

यही अर्थ व्यासजीका तात्पर्यविषय है, यह कहना शशशृङ्गके समान अश्रद्धेय है। प्रथमोक्त तीन विकल्पोंमें दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि' तत्त्वमसि, 'अयमात्मा ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यादि अनेक अभेद श्रुतियों और 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि भेदश्रुतियोंके समानरूपसे विद्यमान रहते केवल श्रुतिसे यही पक्ष व्यासतात्पर्यविषयीभूत है, यह निर्णय नहीं हो सकता। अतएव पहले ही कहा जा चुका है कि

'वेदान्तार्थस्तु सर्वेषां नाना भाति न चैकधा।
अतस्तेन कथं ब्रह्म जानात्यल्पमतिः पुमान्॥'

एवं तीसरा पक्ष भी ठीक है नहीं है, क्योंकि उपक्रमोपसंहार आदि युक्तिसहकृत श्रुतिबलसे ही तत्-तत् भाष्योंमें सभी भाष्यकारोंने अपने-अपने अभिमत अर्थको ही व्यासजीका तात्पर्यविषय कहा है, अतएव उनका पर्यालोचन करके हमारी अपेक्षा सर्वथा प्राचीन ग्रन्थकारोंने भी युक्तिसहकृत श्रुतिबलसे प्रतिवादियोंको चुप करके सुचारुरूपसे यही अर्थ व्यासतात्पर्यका विषय है, यह निर्णय नहीं किया है, तो भला अपने-अपने मतको जाननेवाले अल्पज्ञ हम लोग युक्तिसहकृत श्रुतिबलसे यही अर्थ व्यासजीके तात्पर्यका विषय है, ऐसा निर्णय कैसे कर सकते हैं?

यदि कोई कहे कि ऐसी परिस्थितिमें व्यासजीके तात्पर्यविषयीभूत अर्थके निर्णयमें दत्तचित्त किसी पुरुषश्रेष्ठ राजाकी सभामें जाकर एक दिनसे लेकर एक मास तक द्वैत और अद्वैत का विचार होनेपर उक्त पक्षोंमें मध्यस्थ जिसे प्रमाणरूपसे घोषित कर दे, उस मतका स्वीकार किया जाय, इस प्रकार शर्त बांधकर उस सभामें स्थित विद्वान् मध्यस्थकी सन्निधिके सहारे श्रुतियुक्तिके स्वारस्यके बलाबलके अनुसार यही अर्थ व्यासजीका अभिमत है, यह निर्णय किया जा सकता है? यह भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि पहले तो ऐसा कोई गुणी राजा ही नहीं है। यदि वह किसी प्रकार मिल भी गया, तो मध्यस्थका मिलना तो टेढ़ी खीर है। उसकी सन्निधिमें परतत्त्वका निर्णय करेंगे, यह एक प्रकारका मखौल ही ठहरा, क्योंकि मध्यस्थ वही हो सकता है, जो वादी और प्रतिवादी दोनोंमें से किसी पक्षमें भी यह मेरा पक्ष है, ऐसा अभिमान न रखता हो और उसके पक्षोंके बलाबलके निर्णयमें कुशल हो।

पहले यह विचार करना चाहिए कि उक्त मध्यस्थका लक्षण किनमें घटता है? वेदबाह्य बौद्ध आदि सम्प्रदायमें प्रविष्ट व्यक्तियोंमें वह घटता है? या सांख्य आदि शास्त्रोंमें निष्णात लोगोंमें? या वेदान्तियोंमें? पहला पक्ष तो किसी प्रकार युक्त नहीं है, क्योंकि बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि वेदबाह्य वेदको प्रमाण नहीं मानते, अतएव उपनिषद्का अध्ययन न करनेके कारण उपनिषत्में उक्त उपक्रमोपसंहार आदि षड्विध तात्पर्य-निर्णायक हेतुके स्वारस्यसे बलाबलके निर्णय करनेकी उनमें शक्ति ही नहीं है, इसलिए वे मध्यस्थ हो ही नहीं सकते। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि कपिल, कणाद, गौतम आदिके मतोंमें दीक्षित प्रौढ़ातिप्रौढ़ विद्वान् भी इस समय कहीं दीखाई ही नहीं देते; अतएव उन्हें मध्यस्थ बनानेकी कल्पना करना आकाशमें चित्र बनानेकी भाँति उपाहासास्पद ही है। यदि कोई मिल भी गया, तो जीवोंकी अनेकता, प्रपञ्चकी सत्यता एवं पर और क्षेत्रज्ञका भेद माननेवाला मैं हूँ, इस अभिमानसे अपने मतमें पक्षपाती होनेसे उसका मध्यस्थ होना भी अत्यन्त असंगत है। तीसरा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि वेदान्त-शास्त्रप्रवर्तक अनेक भाष्यकारोंके मतानुयायियोंमें यद्यपि भगवान् शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्व और श्रीकण्ठ इन चार ही मतोंके अनुयायियोंका विशेषतः आधिक्य है, तथापि उनमें परस्पर विरुद्ध भेद, अभेद आदिमेंसे किसी एकका अवलम्बन करनेसे भेदवादी और अभेदवादी इन दोनोंका श्रद्धेय पूर्वोक्त लक्षणलक्षित मध्यस्थ मिल ही नहीं सकता। परम्पराप्राप्त गुरु द्वारा उपदिष्ट अपने मतकी हानि होनेसे उनका दुराग्रह नहीं हटाया जा सकता। वे लोग वादी और प्रतिवादीके ज्ञानके तारतम्यका भले ही निर्णय कर लें, परन्तु तत्त्वनिर्णय तक पहुँचना उनकी शक्तिके बाहर है।

अतएव वादीके दौर्बल्यके बिना मतदौर्बल्य नहीं हो सकता है, यह लोकोक्ति चरितार्थ होती है। इससे निश्चय हुआ कि केवल युक्तिसे या केवल श्रुतिसे या युक्तिसहकृत श्रुतिसे मध्यस्थ विद्वान्की सन्निधिमें तत्-तत् वादियों द्वारा स्वीकृत कूट साक्षीके वाक्योंके सदृश सूतसंहिता, बोधायनवृत्ति आदिके आधारपर निर्मित भगवान् शङ्कराचार्य, रामानुज आदि भाष्यग्रन्थोंके पर्यालोचनसे यही अर्थ व्यासजीका अभिमत है, यह निर्णय कोई नहीं कर सकता।

यह अर्थ व्यासजीका अभिमत है, यह जाननेका केवल एक ही उपाय है

वह यह है कि जैसे स्तोत्रभाष्यमें हरि और हरमें से कौन देव सत्त्वगुणी हैं ऐसा सन्देह होनेपर—

'स्यान्नागरद्राविडवेसरं च क्रमेण वै सत्त्वरजस्तमांसि।
महीसुरोर्वीपतिवैश्यकाश्च हरिश्च धाता हर आदिदेवः ॥'

इत्यादि मध्यस्थ शिल्पशास्त्रके वचनके बलसे विष्णु ही सत्त्वगुणी है यह वेदान्ताचार्यने निर्णय किया है और जैसे चतुर्वेदतात्पर्यसंग्रहमें शिव और नारायणमें से कौन नमस्कारमुद्राका अंगी है, ऐसा संशय होनेपर—

'वज्रिण्या मुद्रया शक्रं पद्मिन्या दर्शयेद्विधिम्।
शङ्खिन्या केशवं रुद्रं शिरस्यञ्जलिमुद्रया ॥'

इस मध्यस्थ भरतशास्त्रके वचनके अनुसार

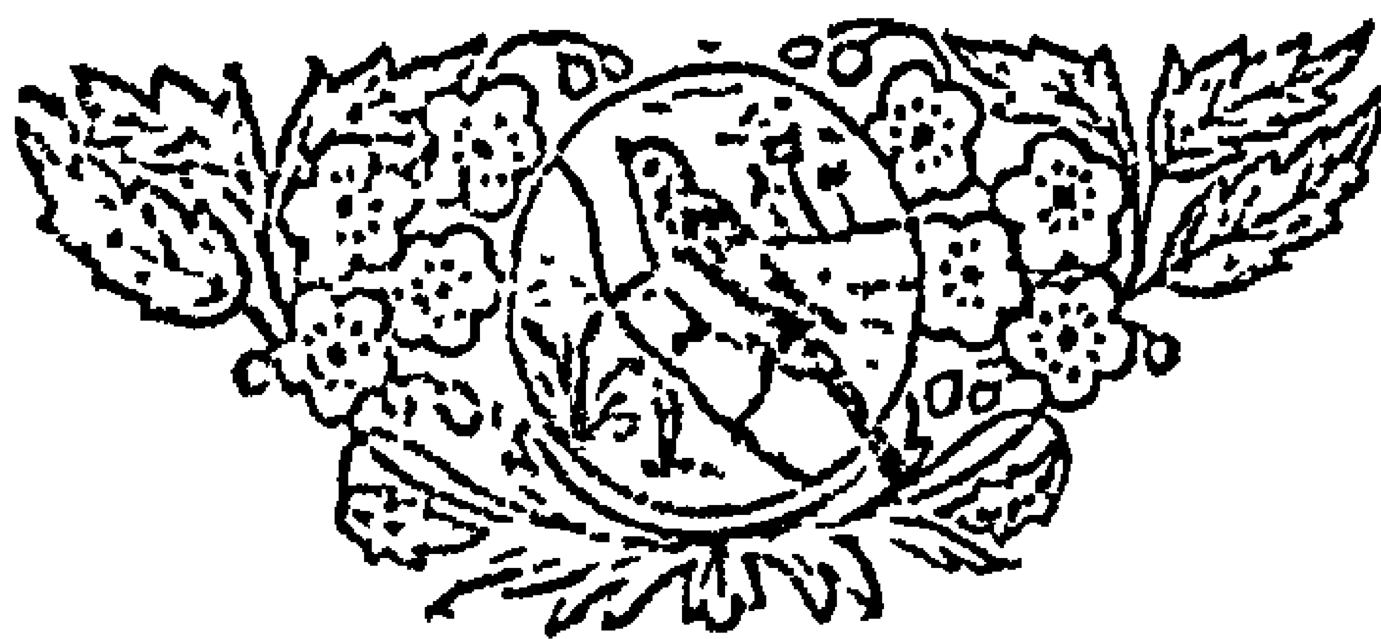
'या शङ्खिनी भवति शङ्कर वज्रिणी या
मुद्रा च या कमलिनी भरतोपदिष्टा।
ताभिर्भवन्त्यभिनया विबुधान्तराणां
मौलिस्पृशा करपुटाञ्जलिमुद्रया ते ॥'

इससे शिवके लिए ही नमस्कारमुद्राका अङ्गीकार सुदर्शनाचार्यने निर्धारित किया है। वैसे ही यहांपर भी पूर्वोक्त भगवत्पाद शङ्कराचार्य, रामानुज आदि अनेक भाष्यकारोंके अभिमत अर्थोंमें से किस अर्थमें व्यासजीका तात्पर्य है, इस प्रकार सन्देह होनेपर एवं उसके साथ ही साथ निर्णयकी आकाङ्क्षा होनेपर हम लोगोंके भेदाभेदविवादमें तटस्थ कपिल, कणाद, गौतम, पतञ्जलि, जैमिनि आदि आस्तिक दार्शनिकोंके सूत्र, भाष्य वार्तिक और वृत्तिग्रन्थोंमें और पाशुपत, पाञ्चरात्र, बौद्ध, आर्हत चार्वाक आदि नास्तिक दार्शनिकोंके ग्रंथोंमें जब तक दूसरेके मतका खण्डन न किया जाय, तब तक अपने मतकी स्थापना नहीं हो सकती, इस न्यायके अनुसार अपने मतके स्थापन और परमतके खण्डन प्रस्तावमें कपिल, कणाद आदिने केवल अद्वैतमें ही व्यासजीका तात्पर्य है, यह निश्चय कर अनुवादपूर्वक महर्षि व्यासके मतका खण्डन किया है, अतएव यह निश्चित होता है कि अद्वैतमें ही श्रीव्यासजीका तात्पर्य है, कारण कि जब दो पक्षोंमें परस्पर वैमत्य होता है, तब साक्षीसे ही सत्य-असत्यकी

व्यवस्था होती है, * ऐसा नियम है—इसलिए अद्वैतका प्रतिपादन करनेवाली श्रीसूतसंहिताके आधारपर निर्मित भगवान् शङ्कराचार्यका भाष्य ही प्रमाण है, यह सिद्ध हुआ।

यदि कहें कि जीवोंकी अनेकता, प्रपञ्चकी सत्यता एवं पर और क्षेत्रज्ञका भेद माननेवाले कपिल, कणाद, गौतम आदि मध्यस्थ नहीं हो सकते है यह आप पूर्वमें कह आये हैं फिर यहांपर उनको मध्यस्थ कैसे मानते हैं? ऐसा माननेसे आपके वचनका व्याघात होता है? आपकी यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि कपिल, कणाद आदिकी भेद और अभेद अर्थकी श्रुतियोंके विचार करनेके अवसरपर मध्यस्थता न होनेपर भी व्यासजीके मतके अनुवाद और उसके खण्डन-पूर्वक अपने मतके स्थापनके लिए व्यासजीके सिद्धान्तका उनको ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है और उनके सिद्धान्तमें उन्हें अपने पक्षका कोई अभिमान भी नहीं है इसलिए व्यासतात्पर्यविषयीभूत अर्थके विचारमें वे मध्यस्थ हो सकते हैं। अतएव अपने वचनके व्याघातकी शङ्काका यहांपर अवसर ही नहीं है।

(अपूर्ण)



* विप्रतिपत्तौ साक्षिनिमित्ता सत्यव्यवस्था। गौ० ध०

सम्पादकीय दो शब्द



दयामय भगवान् श्रीविश्वनाथजीके असीम अनुग्रहसे अच्युततादात्म्यापन्न अच्युतके स्मारकरूपमें उदित हमारा 'अच्युत' अपने जीवनके ३ वर्ष सानन्द व्यतीतकर चौथे वर्षमें पदार्पण कर चुका है। अवस्थानुसार शारीरिक अवयवोंका उपचय और अपचय विधाताकी सृष्टिमें सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होता है, फिर अच्युत ही उससे क्यों वञ्चित रहता। इसे भी विधाताके अटल विधानका प्रसाद मिला। अतएव आज यह परिवर्तित रूपमें आपलोगोंके सम्मुख उपस्थित है।

अच्युतका उदय भगवान् भाष्यकारके एकान्त भक्त ब्रह्मीभूत श्रीअच्युत मुनिजीके स्मारकरूपमें हुआ था और आरम्भ भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीकी सर्वोत्कृष्ट कृति ब्रह्मसूत्रशङ्करभाष्यसे हुआ था। उसका लक्ष्य पहले भी उनके सिद्धान्तका अनुसरण करना था, आज भी वही है और भविष्यमें भी वही रहेगा। भगवान् शङ्कराचार्यके सिद्धान्तोंके विरोधी लेखोंके लिए 'अच्युत' में स्थान नहीं है। आचार्य मधुसूदनसरस्वती-सम्मत, साम्प्रदायिक-गन्धशून्य भक्तिविषयक लेखोंके लिए इसमें पर्याप्त स्थान है। अवसर-अवसरपर श्रीशङ्कराचार्यजीपर किये गये अनर्गल आक्षेपोंका यथोचित उत्तर देनेके लिए भी 'अच्युत' सदा कटिवद्ध है।

जिन सज्जनोंने हमारी प्रार्थनापर अपनी ओजस्विनी लेखनीसे प्रसूत गम्भीराशय लेख भेजनेकी महती कृपा की है, उनके हम अत्यन्त आभारी हैं और उन महानुभावोंसे प्रार्थना करते हैं कि सदा इसी भाँति 'अच्युत'पर कृपादृष्टि बनाये रक्खें और 'अच्युत'की लक्ष्यसिद्धिमें हमारी सहायता करनेकी कृपा करें।

समता देवी

(लेखक—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

हे देवी समते ! वेदका ऐसा आदेश है कि छोड़ दो ममता, निर्मूल कर दो अहन्ता, भय, शोक मिट जायँगे, समस्त दैवी गुण अपने आप आ जायँगे, मोक्षके किवाड़ खुल जायँगे, परन्तु मेरी समझमें तो ऐसा आया है कि हे पापक्षालिनी ! अपवर्गदायिनी समते ! आपके उपासकके ऊपर आपका अनुग्रह होते ही ममता और अहन्ता बिना अन्य किसी उपायके दूर हो जाती हैं और जैसे सूर्यके सन्मुख अँधेरा ठहर नहीं सकता, वैसे ही आपके सामने अविद्या खड़ी नहीं रह सकती, कपूर हो जाती है। जब अविद्या ही नहीं ठहर सकती, तब अविद्याके परिवार राग, द्वेष आदि तो कहाँसे ठहरेंगे ? बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता है, बीजके बिना उत्पन्न नहीं हो सकता, इस न्यायसे समस्त अनर्थोंका बीज अविद्या ही है। अविद्यारूप बीजके जल जानेसे अविद्याके अङ्कुर काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि उत्पन्न नहीं हो सकते।

हे शुभगुणजननी समते ! जिस भाग्यवान् अधिकारीने आपकी शरण ले ली, उसको फिर विषमता अपना मुँह नहीं दिखाती। विषमता ही जन्म, मरण आदि अनर्थोंकी हेतु है। यदि विषमता ही नहीं रहेगी, तो राग-द्वेष कहाँसे रहेंगे ? यदि रागद्वेष नहीं, तो शुभाशुभ कर्म कहाँ ? शुभाशुभ कर्म नहीं, तो ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म कहाँ ? जन्म नहीं, तो जरा, मरण आदि दुःख कहाँ ? दुःख नहीं, तो सुख ही सुख है। सुखकी खोजमें दुनियाँ बावली हो रही है, दौड़-धूप कर रही है, इसकी-उसकी खुशामद कर रही है। खुशामद ही नहीं, सेवा भी कर रही है। वह कहती है कि सेवा करनेसे मेवा मिलते हैं, परन्तु यह नहीं जानती कि किसकी सेवा करनेसे मेवा मिलते हैं ? सूखे वृक्षकी सेवा करनेसे मेवा नहीं मिलते। मेवा तो फलोंसे लदे हुए हरे वृक्षकी सेवा करनेसे मिलते हैं। संसारी बेचारे आप ही सूखे वृक्षके समान ऊपरसे ठोस दीखते हुए भी भीतरसे खोखले हैं, उनकी सेवासे मेवा नहीं मिल सकते।

हे मातेश्वरी समते ! यदि मनुष्य संसारियोंकी सेवा छोड़कर आपकी सेवा

करने लगे, तो तुरत ही मालामाल हो जायँ। ऋद्धि-सिद्धि सब हाथ जोड़े खड़ी रहें, परन्तु विषयासक्त विवेकहीन पुरुषोंको आपका माहात्म्य मालूम नहीं है, इसीलिए परस्पर द्रोह करनेसे सुखी होनेके बदले दुःखी हैं।

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' इस वचनके अनुसार ब्रह्म सम है। समका भाव समता है, इस व्युत्पत्तिसे समभाव यानी ब्रह्मभावका नाम समता है। अङ्ग और अङ्गीका अभेद होता है, यह सिद्धान्त है, इसलिए जो ब्रह्म है, वही समता है। समताकी उपासना ब्रह्मकी ही उपासना है। जो समताकी उपासना करता है, वह ब्रह्मको ही प्राप्त होता है। योगवासिष्ठमें महर्षि वसिष्ठजीने समताकी उपासना बतलाई है। समताकी उपासना करनेसे ही रामचन्द्रजीने रावण आदि अनेक दैत्योंका संहार किया है, फिर भी उनको दैत्योंके मारनेकी हत्या नहीं लगी है, निर्लेप ही रहे हैं। कृष्ण भगवान्‌ने भी इस समताके बलसे ही अपूर्व लीलाएँ की हैं और करते हुए भी अकर्ता ही रहे हैं। ब्रह्मा समताकी सामर्थ्यसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति करते हुए भी कुछ नहीं करते। रुद्र भगवान् भी इस समताकी शक्तिसे ही अनेक ब्रह्माण्डोंका संहार करते हुए भी असंहर्ता ही रहते हैं। देवराज इन्द्रने इस समताके प्रभावसे ही अरुन्मुख यतियोंको शालावृकोंको दे दिया था, फिर भी उसे यतिहत्या नहीं लगी थी। समस्त देवता नृसिंह भगवान्‌के अद्भुत भयंकर स्वरूपको देखकर डर गये थे, नृसिंहके समीप नहीं जा सकते थे, परन्तु इस समताके प्रतापसे पांच वर्षके भी प्रह्लाद निःशङ्क होकर नरहरिके निकट चले गये थे और भगवान्‌ने उनको अपनी गोदमें बैठा लिया था। समताको भूल जानेसे जय और विजय भगवान्‌के द्वारपालोंको भी अपने पदसे च्युत होकर तीन जन्म तक विषम योनिको भोगना पड़ा था। सूर्पणखा रावणकी भगिनीने समतासे विमुख होनेके कारण ही अपनी नाक कटवाई थी। अन्य अनेक कथाएँ इतिहासोंमें हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि समता समस्त सुखोंकी मूल है और विषमता दुःख देनेवाली है।

भगवद्भक्तोंका निश्चय है कि सीता महारानीकी कृपाके विना महाराज श्रीरामचन्द्रकी प्राप्ति नहीं हो सकती। राधारानीकी उपासनाके विना श्याम-सुन्दरका दर्शन नहीं हो सकता। गिरिनन्दिनी उमा देवीकी भक्ति किये विना चन्द्रचूड़ामणि शिवशङ्कर गङ्गाधरके चरणोंमें प्रीति नहीं हो सकती। इसी प्रकार हे ज्ञानवैराग्यजननी समते! आपकी सेवा किये विना सम, एकरस,

सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन, एक, अद्वितीय, सर्वाधार, सर्वाधिष्ठान, निष्कल, निरञ्जन ब्रह्मका साक्षात्कार होना असंभव है, ऐसा मेरा दृढ़—अटल—निश्चय है।

मेरे मतसे तो रामकी सीता, कृष्णकी राधा, शङ्करकी भवानी आप ही हैं। जब देवताओंको ऐसा अभिमान हुआ कि दैत्योंके ऊपर विजय हमने अपने बलसे ही प्राप्त की है, तब सम्पूर्ण विषमबुद्धिको हरनेवाले और समबुद्धिको देनेवाले ब्रह्मने यक्षका रूप धारण करके देवताओंके संमुख आकर देवताओंका अभिमान दूर किया था यानी जिन देवताओंको हम समस्त ब्रह्माण्डको जला सकते हैं, समस्त ब्रह्माण्ड उड़ा सकते हैं, ऐसा अभिमान था; उनसे एक तिनका भी न जलाया गया और न उड़ाया ही गया। देवराज इन्द्रको तो यक्षरूप महादेवने दर्शन तक भी न दिये। महादेवजीको छिपे हुए देखकर इन्द्र उनका ध्यान करता आकाशमें ही खड़ा रह गया। महादेवजीके चरणकमलोंमें इन्द्रकी भक्ति देखकर उमादेवीने इन्द्रके ऊपर दया करके साक्षात् अपना दर्शन दिया और इन्द्रको सगुण और निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपका दिग्दर्शन कराया। हे समता देवी! मैं तो ऐसा ही निश्चय करता हूँ कि वे उमादेवी आप ही थीं। आपके अनुग्रहके बिना न तो कोई सविशेष ब्रह्मको जान सकता है और न निर्विशेषको पहिचान सकता है। जो कोई भी ब्रह्मदर्शन कर चुका है, करता है अथवा करेगा, वह आपके ही अनुग्रहसे ही कर चुका है, करता है, और करेगा। हे देवी! आप मेरा कभी त्याग न करें और न मैं आपका त्याग करूँ, ऐसी मेरी नम्र प्रार्थना है।

यदि कोई कहे कि सम ब्रह्म जगत्का उपादान कारण है यानी सम ब्रह्मसे जगत् उत्पन्न हुआ है। कारणसे कार्य भिन्न नहीं होता, इसलिए जगत् समतारूप है, समतासे भिन्न नहीं हो सकता। समतारूप जगत्में विषमता नहीं आ सकती, तब तो न आप मेरा कभी त्याग करें और न मैं आपका त्याग करूँ, यह प्रार्थना नहीं बन सकती, तो यह बात सत्य है। फिर भी मनुष्यने कच्चा दूध पिया है, कच्चा दूध पीनेसे कच्चा हो ही जाता है; इसलिए प्रार्थना बन सकती है। जिन भाग्यवान् महापुरुषोंको सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा समता ही भासती हो, विषमता किंचित् भी न भासती हो, वे भले ही प्रार्थना न करें, मुझे इसमें आग्रह नहीं है। आत्माका आत्मा साक्षी होता है, मुझे तो विषमता भासती ही है, इसलिए प्रार्थना करता हूँ।

यदि कोई कहे कि सम ब्रह्मसे मायाके बिना विषम जगत्की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, तो ऐसा कहनेवालेके मुँहमें मक्खन-मिश्री, ठीक ही है, विषम जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती, फिर भी मायासे हुआ हो, या अन्य किसीसे हुआ हो, विषम जगत् तो हो ही गया है, प्रत्यक्ष दिखाई तो दे ही रहा है, हाथ कंगनको आरसी क्या ? यानी प्रत्यक्षको प्रमाणकी क्या आवश्यकता है, इस न्यायके अनुसार विषम जगत् ही सबके अनुभवसे सिद्ध है। सिवा शून्य-वादीके इसका प्रतिषेध कौन करेगा ? वही भले करे। भाई ! ब्रह्म है अथवा नहीं है, सम है या विषम है, सम ब्रह्मसे सम जगत् उत्पन्न हुआ है अथवा सम ब्रह्मसे विषम जगत् हुआ है या सम ब्रह्मसे मायासे जगत् उत्पन्न हुआ है या अन्य किसीसे उत्पन्न हुआ है, जगत् बाहर है अथवा मनके भीतर है, ये सब उलझनें समता देवीकी उपासना किये बिना सुलझ नहीं सकतीं, इसलिए मेरी तो समता देवी ही उपास्य और इष्ट है। परिचयसे प्रीति होती है, समता देवीने मुझे परिचय दे दिया है।

क्या समता देवी कोई विशेष देवता है ? उसका स्वरूप क्या है ? उसमें प्रमाण क्या है ? उसकी उपासना कैसे की जाती है ? क्या किसीने उसकी उपासना पूर्वमें की है या नहीं ? उसके उपासकका स्वरूप क्या है ? नाम क्या है ?

समता देवी कोई विशेष देवी या देवता नहीं है। सम ब्रह्म ही समता देवी है। सविशेष, निर्विशेष सब समता देवी ही है। समता ही उसका स्वरूप है। जब सब वही है, तब तो विशेषता भी वही हुई ? ठीक है, विशेषता भी वही है। तत्त्वज्ञ पुरुषोंकी दृष्टिसे तो वह समता ही है; अज्ञानियोंकी दृष्टिसे वह विषमता कहलाती है। परमार्थसे तो वह समता ही है; जो उसको नहीं जानते; उनको विषमता भासती है। जैसे मुक्त पुरुषोंकी और अमुक्त पुरुषोंकी दृष्टिसे एक निर्विशेष ब्रह्म और एक सविशेष ब्रह्म है, इस प्रकार एक ही निर्विशेष ब्रह्मकी वेदवेत्ता व्यवस्था करते हैं, वैसे ही इसकी भी व्यवस्था है। 'एकत्वमनुपश्यतः' यानी एकत्व देखनेवालेको मोह कहाँ और शोक कहाँ ? 'समं सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' सबमें सम ब्रह्मको देखनेवाला मुझको प्राप्त होता है, इत्यादि श्रुति, स्मृति इसमें प्रमाण हैं। समताको समता ही देखना, यही उसकी उपासना है। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मको जो जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है), 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (ब्रह्मको जाननेवाला परमात्मरूप ब्रह्मको

प्राप्त होता है) 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' (पण्डित लोग कुत्ते और श्वपाकमें समदर्शी होते हैं)।

'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥'

(सब भूतोंमें सम स्थित और नाश होनेवालोंमें नाशरहित परमेश्वरको जो देखता है, वही देखता है) जो सर्वत्र सम परमेश्वरको देखता है, वह आत्मासे आत्माका नाश नहीं करता। जो सब भूतोंमें वैररहित होता है यानी किसीसे वैर नहीं करता, हे पाण्डव ! वह परमेश्वरको प्राप्त होता है। 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' (उन विघ्नोंको दूर करनेके लिए एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिए) इत्यादि अनेक प्रमाण हैं। सारांश यह है कि सम ब्रह्म ही समता है और सम ब्रह्मको सर्वत्र देखना समता देवीकी उपासना है।

चण्डी देवीका विशाल मन्दिर है। बड़ी भारी भीड़ उसके भीतर हो रही है। अनुमान होता है कि किसी नरपशुकी चण्डी देवीको बलि दी जायगी। एक हृष्ट-पुष्ट मनुष्य भीड़के भीतर है, बाहरसे देखनेमें नहीं आता, चलो छतके ऊपर चढ़कर देखें। हां ! यहाँसे देख सकते हैं। साफ दिखायी देता है, मोटे ताजे पुरुषको लोग स्नान करा रहे हैं, अच्छी तरहसे मल-मल कर स्नान करा रहे हैं। अहा ! अब उसे सफेद चिट्ट कोरे वस्त्र पहिनाए गए हैं। रक्त चन्दन माथे पर और कई अङ्गों पर लगाया गया है। चन्दनके ऊपर रोलीसे रंगे हुए लाल चावल चिपकाये गये हैं। चावलोंके नीचे सिन्दूरका टीका लगाया गया है। वस्त्र इतर-फुलेलसे सुगन्धित किए गए हैं, मिठाईका भरा हुआ थाल पुरुषके सामने रखकर एक पुरुष कहता है—'भाई ! थोड़ी देर बाद तू देवीका ग्रास हो जायगा, जितना चाहे इस थालमेंसे खा ले, यह तेरा अन्तिमका भोजन है, खूब पेटभर खा ले। भूखा न रहना। भूखे पशुको चण्डी ग्रहण नहीं करती, प्रसन्न नहीं होती, माँगा हुआ बरदान नहीं देती। न मालूम मोटे पुरुषने सुना या नहीं, सुना ही नहीं होगा, तभी तो हाथ बढ़ाकर एक-एक लड्डूका एक-एक ग्रास कर रहा है, आधा थाल खाली करके हाथ खींच लिया है, लोगोंके करानेसे आचमन ले लिया है, फिर आपने आसन पर जा बैठा है। लोगोंने उसे उठाया है, तो उठ खड़ा हो गया है। उनके कहे अनुसार देवीके सन्मुख जा खड़ा हुआ है। देवीका पण्डा हाथमें खड्ग लेकर

'ॐ श्रौं ह्रीं क्लीं' इत्यादि मन्त्र बोलकर नरपशुका सिर खड्गसे काटकर देवीको तृप्त कराना चाहता है, सिरपर लपलपाती हुई खड्ग दिखायी दे रहा है, धीर पुरुषको कुछ खबर नहीं है, तलवार मेरे ऊपर चलायी जायगी या किसी अन्यका सिर उससे काटा जायगा, चुपचाप अचल खड़ा हुआ है। इतने ही में जैसे अहिरावणकी देवीमेंसे अंजनीकुमार निकल आये थे, इसी प्रकार देवीकी मूर्तिमें से चण्डी निकल आयी है, समस्त पुजारियोंके, पण्डेके और यजमानके सिरोंको काटकर उन सिरोंको गेंद बनाकर केलि कर रही है, हृष्ट-पुष्ट पुरुष अब भी वैसा ही खड़ा है, मानों उसे कुछ खबर ही नहीं है। यह समता देवीका उपासक राजा जड़ भरत है। तीसरे जन्ममें वही ब्राह्मण होकर मुक्त हुआ था, [जिसके नामसे यह हमारा देश भारतके नामसे आज कल भी प्रसिद्ध है ?]

यद्यपि इस दृष्टान्तसे ही समता देवीकी उपासनाका फल प्रत्यक्ष है, फिर भी उसका दिग्दर्शन मुमुक्षुओंको समझना सुकर हो जाय, इसलिए समझाते हैं। समता देवीकी उपासना करनेसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेक हो जाता है और 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत !' इस भगवान्‌के वचनके अनुसार एक ही क्षेत्रज्ञ सर्वत्र भासने लगता है। एक ही क्षेत्रज्ञ भासनेसे मुमुक्षु सबमें एक ही अपने आत्मा जनार्दनको देखता है। उसीका नित्य निरन्तर अपने आत्मारूपसे अनुसंधान करता है यानी अपने सहित इस जगत्‌को ब्रह्म ही देखता है, यानी 'पण्डिताः समदर्शिनः' इस न्यायके अनुसार वह समदर्शी हो जाता है। समदर्शी होनेसे उसे 'ब्राह्मणोऽस्मि' इत्यादि देहाभिमान नहीं होता। देहाभिमान न होनेसे उसको मोह भी नहीं होता। मोह न होनेसे उसकी वासनाएँ निर्मूल हो जाती हैं। वासनाओंके निर्मूल हो जानेसे उसका देह, इन्द्रियादिसे संयोग नहीं होता। देहादिसे संयोग न होनेसे वह निर्द्वन्द हो जाता है, यानी उसको शीतोष्ण, निन्दास्तुति, मानापमान, सुखदुःख आदि द्वन्द्व स्पर्श नहीं करते, क्योंकि इन सबके स्पर्श करनेका कारण वासना है, वासनाके दग्ध हो जानेसे द्वन्द्व उसे स्पर्श नहीं करते। यद्यपि ये द्वन्द्व आत्माको कभी स्पर्श नहीं करते, अन्तःकरण तक ही पहुँचते हैं; परन्तु समताकी उपासना करनेसे इस उपासकका अन्तःकरण भी वासना-रहित होनेसे सम ब्रह्ममें स्थित होकर ब्रह्मरूप ही हो जाता है। इसलिए इसके अन्तःकरणको भी द्वन्द्व नहीं छू सकते, क्योंकि इसका अन्तःकरण नहीं रहता, किन्तु 'योऽन्तः सुखोन्तरारामस्तथान्तरज्योतिरेव यः' इस न्यायके अनुसार उसका अन्तःकरण

अन्तः में यानी आत्मामें ही सुख मानता है, आत्मामें ही रमण करता है और आत्मामें ही मन लगाता है, अन्तः यानी आत्मा ही हो जाता है। ऐसा पुरुष जीतेजी जीवन्मुक्तिका सुख भोगता है यानी अनुभव करता है और अन्तमें विदेह-कैवल्यको प्राप्त होता है। इसमें श्रुति, स्मृति, युक्ति और वृद्ध पुरुषोंका अनुभव प्रमाण है, इसलिए इसमें मुमुक्षुओंको संशय नहीं करना चाहिए और श्रद्धापूर्वक समता देवीकी मेरे समान ही उपासना करनी चाहिए। निश्चय आपका कल्याण होगा ! होगा !! होगा !!!

पाठक ! यह उपरोक्त किसीका कथन ठीक ही है। यह तो हमको आपको सबको ही अनुभव है ही कि जब कभी थोड़ी देरके लिए भी किसी इष्ट वस्तुके प्राप्त होनेसे अन्य किसी कारणसे मन सम हो जाता है यानी एकाग्र हो जाता है, तो हम सबको आनन्दका अनुमन होता है। आनन्दरूप परमात्मा है, ऐसा श्रुति कहती है। मनके सम होनेसे उसमें आनन्दरूप आत्माका प्रतिविम्ब पड़ता है। जब थोड़ी देर सम होनेसे ही आनन्द होता है, तो यदि अधिक समय तक मन सम रहेगा, तो आनन्दका भी अधिक समय तक अवश्य ही अनुभव होगा। सब प्राणी सुखकी खोजमें हैं, सुख मनके सम होनेमें हैं, तब समताकी उपासना करके सुखका अनुभव करना हम सबको उचित है। इसलिए नित्य निरन्तर सर्वथा समताकी उपासना करके सम ब्रह्मका साक्षात्कार कीजिये, सब चराचरमें विश्वनाथ काशीनाथ, कैलासनाथका दर्शन करते हुए आनन्दसे जीवन बिताइए। सच कहा है—

कुं—समता निशिदिन ध्याइये, होय विषमता दूर।
दर्शन देवे ब्रह्म सम, अग-जगमें भरपूर॥
अग-जगमें भरपूर, एक शिव सम सुखराशी।
सबका अपना आप, शुद्ध चिद्घन अविनाशी॥
भोला ! ममता त्याग, त्याग दे देह अहंता।
होय विषमता दूर, सिद्ध हो देवी समता॥



अद्वैत-दर्शन

(गताङ्कसे आगे)

(लेखक—पण्डित शास्त्री श्रीअमृतलाल शर्मा, वेदान्त-व्याकरण-तीर्थ, साहित्यार्णव)

अविद्याकी सिद्धि अनुभवसे भी होती है। 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि' (मैं अज्ञ हूँ, अपनेको और अन्य (अज्ञात) पदार्थको नहीं जानता हूँ) ऐसा अनुभव सब मनुष्योंको होता है। इसमें आत्माश्रित और आत्मविषयक अज्ञान स्पष्ट प्रतीत होता है। अतएव श्री सर्वज्ञात्ममुनिने संक्षेपशारीरकमें—

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥"

(अ० १ श्लो० ३१९)

इस श्लोक द्वारा स्वगत, सजातीय और विजातीय—इन सब भेदोंसे रहित चैतन्य ही अज्ञानका आश्रय और विषय है, ऐसा प्रतिपादन किया है। पूर्वसिद्ध अज्ञानका पश्चाद्भावी तत्कार्यरूप अहङ्कार अथवा तद्विशिष्ट चिदात्मा (जीव) आश्रय अथवा विषय होने योग्य नहीं है। शुद्धब्रह्मविषयक अज्ञानसे उपाधि द्वारा जीवत्व प्राप्त हुआ है और सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चका उपादान मायाख्य अज्ञानका आश्रय अधिष्ठानरूप ब्रह्म ही है।

अनुमानसे भी अविद्याकी सिद्धि हो सकती है। 'विवादास्पदप्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकं भवितुमर्हति, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत्' यह अनुमान अज्ञानका साधक है। इसका तात्पर्य यह है कि—जहां पहले अप्रकाशित अर्थका प्रकाश होता है, वहां उस प्रकाशके प्रागभावसे व्यतिरिक्त, प्रकाशविषयका आवरणरूप, प्रकाशसे निवर्त्य और प्रकाशके प्रदेशमें ही रहनेवाला कोई भावरूप पदार्थ होता है। जैसा प्रदीपादि प्रकाशके पूर्व अन्धकार अवश्य रहता है, वैसा ही चक्षुरादि प्रमाणजन्य ज्ञानके पूर्वकालमें उक्त चारों विशेषणोंसे विशिष्ट भावरूप अज्ञान घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यदेशमें अवश्य अङ्गीकार्य है। इस अनुमानका विशेष विवेचन वेदान्तशास्त्रके आकर ग्रन्थोंमें स्पष्ट है।

यह अज्ञान तत्त्वज्ञानसे बाधित होता है, इसलिए तीनों कालोंमें बाधित न होनेवाला सद्रूप नहीं है एवं सब व्यवहारोंका निर्वाहक अध्यास भी इसीसे होता है। इसीलिए आकाशपुष्पके समान इसे अत्यन्त असत् भी नहीं कह सकते हैं। अतः इसको सदसद्विलक्षण—अनिर्वचनीय—कहते हैं।

इसके स्वरूपका ऋग्वेदमें वैसा ही प्रतिपादन किया है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥
(ऋग्० मं० १०, अ० ११, सू० १२९)

इस मन्त्रमें सृष्टिके पूर्वकालकी अवस्थाका—प्रलयावस्थाका—वर्णन है। जगत्के महाप्रलयमें उपादानकारण अव्याकृत भावरूप पदार्थ असत् भी नहीं था और सत् भी नहीं था। यद्यपि वर्तमान सृष्टिस्थितिकालमें भी माया सदसद्विलक्षण ही है, तथापि स्थितिकालमें भूत-भौतिक-कार्यवर्ग भ्रान्तिसे सत्यवत् प्रतीत होता है। प्रलयमें उनका अभाव होनेसे बीजावस्थाका निरूपण स्पष्टरूपसे हो सकता है; इस हेतुसे भूतकालके निर्देशसे प्रलयकालमें ही उसके स्वरूपका प्रतिपादन किया है। 'नासीद् रजः' इत्यादि पदोंसे कार्यवर्गका अभाव कहा गया है। 'रजः' शब्द द्वारा पृथ्वी और उसके नीचेके पाताल आदि लोक विवक्षित हैं। व्योमशब्दसे अन्तरिक्षका और परशब्दसे द्युलोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त सात लोकोंका निर्देश किया गया है। आगे 'किमावरीवः' इस पदसे पुराणप्रसिद्ध लोकावरणरूप पृथिवी आदि पाँच भूतोंका अभाव कहा गया है। किसको आवृत करे? अर्थात् आवरणीय ब्रह्माण्डका अभाव होनेसे उसका भूतों द्वारा आवरण भी न था। कुह = किस देशमें आवरण करे। कस्य शर्मन् = किस भोक्ताके सुखके लिए आवरण किया जाय। अर्थात् भोक्ता जीव भी प्रकृतिमें उपाधियोंके लय द्वारा निलीन थे। अवान्तर प्रलयमें 'आपो वा इदमग्रे' इत्यादि श्रुतिसिद्ध जलका सद्भाव रहता है, इस प्रलयमें तो वह भी न था, इसका 'अम्भः किमासीत्' इत्यादि शब्दोंसे प्रतिपादन किया गया है।

समस्त प्राणियोंके दैनन्दिन प्रलयरूप सुषुप्त्यवस्थामें भी इसी प्रकारके केवल अज्ञानमात्रका अवशेष रह जाता है। और उसका साक्षी प्रत्यगात्मा तो स्वतःसिद्ध स्वयंप्रकाश है ही। सो कर जागे हुए पुरुषको 'सुखमहमस्वाप्सं

न किञ्चिदवेदिषम्' ऐसा स्मरण होता है; इसमें अज्ञानका और आनन्दरूप आत्माका परामर्श होता है।

इस अग्रहणरूप अज्ञानसे अन्यथाग्रहणरूप अध्यास उत्पन्न होता है। वह दो प्रकारका है—धर्म्यध्यास और धर्माध्यास। 'अहं मनुष्यः' इत्यादि देहतादात्म्याध्यासको धर्म्यध्यास कहते हैं और 'कृशोऽहम्, स्थूलोऽहम्, मूकोऽहम्, वधिरोऽहम्, कर्ता, भोक्ता, इच्छावान्, द्वेषवान्' इत्यादि देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणके धर्मोंका तत्तद्धर्मरहित चिदात्मामें आरोप धर्माध्यास कहलाता है। इस अध्यासरूप अविद्याङ्कुरसे ही संसाररूप विषवृक्ष फैलता है। जिसमें गर्भ, जन्म, जरा, व्याधि, मोह, शोक, सन्ताप, काम, क्रोध, लोभ, मद, मान मत्सर, भय, उद्वेग आदि अनेक कटु फल उत्पन्न होते हैं। और बीजाङ्कुर-न्यायसे अनादि लोक-व्यवहार इसीमें चलता है। इसीका भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमात्माने

'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा।
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ॥'

इस प्रकार श्रीमुखसे असङ्गशस्त्र द्वारा उच्छेद करनेका उपदेश दिया है और तदनन्तर परमात्मपदका अन्वेषण करनेका और इससे पुनरावृत्तिरहित परम-पदप्राप्तिका उपदेश दिया है।

इस संसारवृक्षके सर्वथा दुःखरूप होनेपर भी अज्ञानावृत जीव अनेक जन्म-जन्मान्तरकी निरूढ वासनाओंके वश होकर विषकृमिन्यायसे प्रायः इसीमें निरत रहता है। काठकोपनिषत्में यथार्थ ही कहा है—

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥'

ब्रह्मदेवने इन्द्रियां वहिर्मुख बनाई हैं, यही उन्होंने बड़ा अनिष्ट किया है। इससे जीव बाह्यमें ही दृष्टि रखता है अन्तरात्मामें नहीं रखता। कोई विरल धीर बुद्धिमान् पुरुष मोक्षकी इच्छा करता हुआ इन्द्रिय और मनको अन्तर्मुख कर प्रत्यागात्माका दर्शन करता है। स्वरूपाज्ञानसे संसार किस तरह दुःखजनक होता है, इसमें वेदान्तशास्त्रप्रसिद्ध रज्जुसर्पका दृष्टान्त यथार्थ है। जैसे मन्दान्ध-कारमें रज्जुके (रस्सीके) यथार्थ स्वरूपके अज्ञानसे सर्पभ्रान्ति और उससे

भय, कम्प आदि होते हैं। वैसे ही विशुद्ध चिदानन्दस्वरूप अपने आत्माके यथार्थस्वरूपके अज्ञानसे कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि मिथ्याबुद्धि द्वारा सब अनर्थ उत्पन्न होते हैं। दृष्टान्तमें जैसे रज्जुका यथार्थरूप जाननेसे सर्पभ्रान्ति और तज्जन्य भय, कम्प आदि सब कष्ट निवृत्त हो जाते हैं, वैसे ही सब दृश्य प्रपञ्चका अधिष्ठानस्वरूप प्रत्यगभिन्न ब्रह्मतत्त्वके साक्षात्कारसे पूर्वोक्त द्विविध अध्यास और तज्जन्य सब अनर्थकी निःशेष-निर्वृत्तिपूर्वक परमानन्दावाप्ति होती है। आत्मा परब्रह्म-स्वरूप है। इसलिए परब्रह्मकी खोज कहीं अन्यत्र करना नहीं है। आत्मासे व्यतिरिक्त सब ज्ञेय वस्तु जड़, परिच्छिन्न, परोक्ष और दुःखरूप हैं, क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा बृहदारण्यक उपनिषद्में श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिने स्पष्ट कहा है—'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (जैसा नमकका ढेला भीतर और बाहर समानरूपसे सम्पूर्ण लवणरसपूर्ण है, वैसे ही यह आत्मा अन्तर्बाह्यभेदशून्य सपूर्ण प्रज्ञानरूप ही है)। ज्ञानव्यतिरिक्त ज्ञेय मिथ्या—कल्पित—ही हो सकता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्यः अहोऽज्ञजनताज्ञता॥'

आत्मस्वरूप आपको (परमात्माको) पर=दूसरा मानकर और देहादि जो वस्तुतः पर=आत्मभिन्न हैं, उनको आत्मा मानकर फिर आत्माकी बाहर खोज की जाती है; अहो! अज्ञानी जनकी अज्ञता बेहद है।

इसी कारण श्रुतियोंमें—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्—इस प्रकार स्वस्वरूप आत्मदर्शनका ही उपदेश है। और दर्शनोपायभूत श्रवण, मनन आदि साधनोंका उपदेश है।

यह सिद्धान्त युक्ति-युक्त है। ज्ञानके सिवा और किसी उपायसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। जैसे अन्धकारकी निवृत्ति प्रदीपादिके प्रकाशसे ही होती है, अन्य किसी उपायसे नहीं होती।

अध्यात्मविषयक सब वेदोंके मन्त्र और उपनिषद्वचनोंमें यही सिद्धान्त स्पष्ट प्रतीत होता है।

'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।'

(ऋग्वेद मं० ८ पुरुषसूक्त)

(उसको जानकर ही ज्ञानी पुरुष मृत्युरूप संसारका अतिक्रमण करता है ।)

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।' (ईशावास्य मं० ७)

'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।' (कठोपनिषद् १।१५)

शब्द, स्पर्श आदि सर्वगुणरहित अनादि अनन्त उस परमतत्त्वके यथार्थ स्वरूपके निश्चयसे मृत्युके मुखसे छूट जाता है ।

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः । (श्वेताश्वतर २।१५)

तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते । (कैवल्य १।१७)

तरति शोकमात्मवित् । (छान्दोग्य ७।२।३)

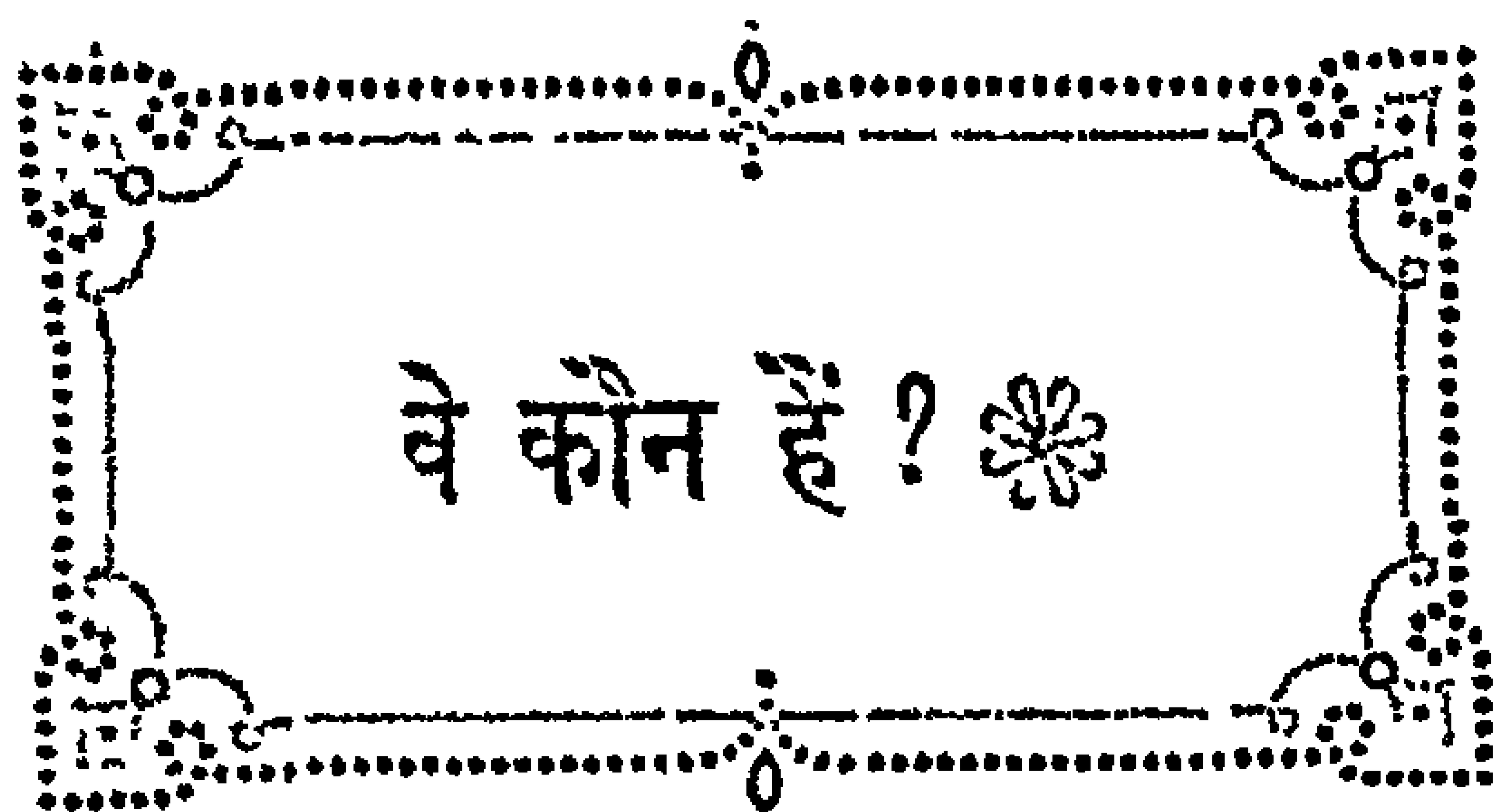
स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । (मुण्डक ३।२।९)

उपरिनिर्दिष्ट ऋग्, यजुः, साम और अथर्व—चारों वेदोंमें परमात्मैक्य-ज्ञानसे ही मोक्षरूप परमपुरुषार्थकी प्राप्तिका प्रतिपादन स्पष्ट है ।

जैसे धर्माधर्मका निर्णय केवल अपौरुषेय वेदरूप शब्दप्रमाणैकवेद्य है । उसमें प्रत्यक्षानुमानका संचार नहीं है । वैसे ही यह अति गम्भीर परमतत्त्वका निर्णय वेदान्तैकवेद्य है । इसमें केवल वेदानुकूल तर्क ही उपयुक्त है, स्वतन्त्र तर्क निषिद्ध है । 'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' इस काठकोपनिषद्वचनमें यह स्पष्ट है । हे अति प्रिय नचिकेताः ! यह परमतत्त्वविषयक बुद्धि तर्कसे अनादृत नहीं करनी चाहिए, अथवा तर्कसे प्राप्त करने योग्य नहीं है । यह तो वेदान्तवित् आचार्यके उपदेशसे ही प्राप्य और उत्कृष्ट ज्ञानजनक होती है ।

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥

(जो पदार्थ अचिन्त्य हैं, उनको तर्कके साथ नहीं जोड़ना चाहिए, जो वस्तु प्रकृतिसे पर है, वही अचिन्त्य है) इत्यादि वचनों द्वारा परमतत्त्व शुष्कतर्कगम्य नहीं है, यह सिद्ध होता है । (क्रमशः)



वे कौन हैं ? *

हमारे चारों ओर भीतर एवं बाहर जो नित्य निरवच्छिन्नरूपसे अधिष्ठित हैं। जिनके केवल कटाक्ष-विक्षेपसे (आँखोंके इशारेसे) इन्द्र, चन्द्रमा, वायु, वरुण आदि अपने अपने कर्तव्य-पालनमें तत्पर रहते हैं, जिनकी सत्ताके प्रभावसे हम लोग जीवित हैं, वे कौन हैं ? जो चरणरहित होनेपर भी सब जगह जाते हैं, श्रोत्रहीन होनेपर भी मनकी तक बात सुन लेते हैं, नेत्रशून्य होनेपर भी समस्त वस्तुओंका प्रत्यक्ष करते हैं, जो हमें सदा देख रहे हैं किन्तु हम देखनेकी इच्छा रहनेपर भी जिन्हें देख नहीं सकते, वे कौन हैं ? जो गुप्तरूपसे सबके वृत्तान्तको लेते रहते हैं, जो सबके परोक्षमें, किसीके कुछ न चाहनेपर, कितना प्रचुर दान कर रहे हैं, जो भूखेको अन्न, प्यासेको जल, रोगीको औषध और भयभीतको अभय देनेके लिए अपनी शान्तिमय गोद फैलाकर बैठे हैं, वे कौन हैं ? ये रत्नजटित मुकुट धारण करनेवाले अहङ्कार, दम्भ, अभिमान आदि अपने गणोंके साथ जिनका दर्शन करनेके लिए जाकर, दर्शन प्राप्त किये बिना ही अपमानित होकर अपना-सा मुँह लेकर लौट रहे हैं, ये काम, क्रोध, लोभ आदि वधिक जिनके समागमके भयसे डरकर देश छोड़कर भाग रहे हैं, ये दुराशा, विषय-तृष्णा, भ्रान्ति, वेदना, दुर्बुद्धि, आसक्ति आदि वेश्याएँ जिनके आदेशसे राजधानीसे निकाली जा रही हैं, सौम्यमूर्ति वे कौन हैं ? बुद्धि जिनका आलिङ्गन करनेके लिए एवं ज्ञान जिनका स्वरूप-निर्णय करने लिए जाकर कोरे वापिस हुए, भाव जिनको धारण करनेके लिए एवं कल्पना जिनका परिमाण जाननेके लिए जाकर पार नहीं पा सके, मन जिन्हें देखनेके लिए जाकर एवं आत्मा जिनके समीप जाकर फिर लौटे नहीं, वे कौन हैं ? लोग देश-देशमें खोज कर, कर्मकाण्डमें प्रयत्न कर एवं बड़े-बड़े

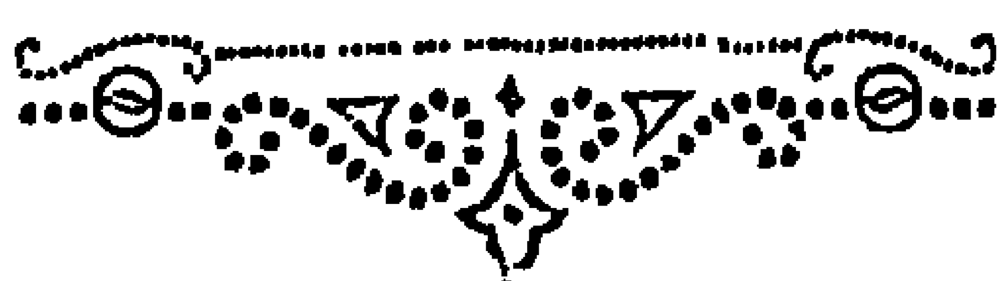
---

* वेदान्त विज्ञान नामक बंगला ग्रन्थके एक अंशका अनुवाद।

सम्प्रदायोंका संगठन करके भी जिन्हें प्राप्त नहीं कर सके, माया जिनका अन्वेषण करने, गुण जिनका वन्धन करने और संज्ञा जिनका निर्देश करनेके लिए जाकर स्वयं परास्त हुए एवं वाणी जिनकी व्याख्या करनेके लिए जाकर अवाक् होकर रह गई, वे कौन हैं ? जिनकी आरतीके लिए तारारूपी रत्नोंसे सुशोभित आकाशरूपी थालमें चन्द्र-सूर्यरूपी दीपक जल रहे हैं, वायु चवर डुला रहा है, फूलोंके वृक्ष सुगन्धित फूलोंकी वृष्टि कर रहे हैं, पक्षीगण समस्त मंगल-गाथाओंका कीर्तन कर रहे हैं, वज्रघोष शङ्खध्वनि कर रहा है; सुर, नर और दानव वन्दना कर रहे हैं, प्रसन्न-मुख-मुद्रावाले वे कौन हैं ? जो रत्नवेदी में रहकर जीवको कर्मानुसार सुख अथवा दुःखरूप फल दे रहे हैं; भक्ति, श्रद्धा, शान्ति, करुणा, मुक्ति आदि जिनकी चरण सेवा कर रही हैं; वैराग्य, निर्ममत्व, निरहङ्कार, ज्ञान, विचार, योग, धर्माचरण आदि शूर-वीर अपने भुजदण्डके प्रतापसे जिनके दरवाजेपर द्वारपालका कार्य कर रहे हैं, आनन्दस्वरूप वे कौन हैं ? ये मेघमालाएँ अतिवेगसे जाते-जाते जिनका प्रेमपूर्ण मुख देखनेमात्रसे आँसू बहाने लगती हैं, यह बिजली जिनके दर्शनके लिए चञ्चल होकर दौड़ने लगती है, इन पाषाणहृदय पर्वतोंने जिनके प्रेमपूर्ण मुखका दर्शनकर प्रेमाश्रु-जलमें (नदीके प्रवाहमें) देश-विदेशको बहा दिया है, ये अग्निकुण्ड जिनके भावसे विमोहित होकर वाष्पाकुलनेत्र हुए हैं, वे कौन हैं ? कुसुमावलि जिनकी ओर ताककर हँस उठी है, वृक्ष जिनके मुँहको देखकर रात्रिके ओसके बहाने रो-रोकर व्याकुल हुए हैं, विश्वशोभा जिनका दर्शन करनेके लिए सबका आह्वान कर रही है, वे कौन हैं ? जिन्होंने इन भोगविलासी घोर सांसारिक पुरुषोंको अपने विश्वमोहक भावमें विमोहित करके सर्वत्यागी बना दिया है, जिन्होंने सूखे पत्ते खानेवाले जर्जरशरीर तरुतलवासी तपस्वियोंके हृदयमें आविर्भूत होकर उनकी दोनों आँखें बन्दकर रक्खी हैं, जो वाह्यज्ञानशून्य जटाधारी पुरुषोंकी हृदयरूपी गुफामें प्रकाशित होकर कभी उसे हँसा रहे हैं, कभी अश्रुजलसे उसके वक्षस्थलको सराबोर करा रहे हैं, कभी उसे मौनी बनाकर स्थिर आसनपर बैठा रहे हैं, और ऊँचे स्वरसे गान और नाच करा रहे हैं। प्रेमके आवास वे कौन हैं ? जो संसार रूपी सागरके तटपर खड़े होकर अभय देनेवाले निज चरणरूपी नावसे बिना मूल्य पतित एवं सन्तापित जीवोंको पार करनेके लिए स्वयं नाविक बनकर प्रेम-पूर्वक पुकार रहे हैं। जो दीन-दुःखीजनोंके भयभीत हृदयके रोदनको सुनकर

अपने हाथसे उनके आँसुओंको पोंछ दे रहे हैं। जो व्याकुलचित्त लोगोंको लगातार शान्तिरूपी अमृत पान करा रहे हैं, क्या कोई उनको पहचान सकता है, वे कौन हैं ? समय-समय पर घोर अज्ञान जालको तोड़कर जिनका तेज अज्ञानसे मलिन मनमें भी प्रकाशित हो रहा है, जीव भले ही उन्हें भूल जाय, किन्तु वे उसका परित्याग नहीं करते। जो मायारूपी निद्राका नाश करके जीवको जगानेके लिए बार-बार पुकार रहे हैं, देखो, देखो, जागकर देखो, वे कौन हैं ? जिन्होंने स्वयं निर्गुण होकर भी तीन गुणोंसे जगत्को बाँध रक्खा है, स्वयं रूपरहित होकर भी आश्चर्यरूपसे त्रिभुवनको विमोहित कर रक्खा है तथा स्वयं चैतन्यस्वरूप होकर भी संसाररूप स्वप्न देखनेवाले जीवको अपनी मोहिनी मायासे अचेतनकर रक्खा है, जरा भोगनिद्राका परित्याग कर, योगबलसे चेतन होकर देखो, वे कौन हैं ? आदि पुरुष ब्रह्माने ध्यान-योगसे अपूर्वरूपका दर्शन करके कहा—वे कौन हैं ? वृत्रासुरके वधके पश्चात् इन्द्र, पवन, वरुण, अग्नि, और यम उनके परम ज्योतिर्मयरूपको देखकर बोले—वे कौन हैं ? देवर्षि, ब्रह्मर्षि और महर्षियोंने समाधिमें जिन्हें देखा, वे कौन हैं ? वेद, वेदाङ्ग, दर्शन-शास्त्र आदि जिनका वर्णन करनेमें असमर्थ होकर बोले—वे कौन हैं ? कवि लोग कल्पनाराज्यमें विचरण करके अन्तमें बोले—वे कौन हैं ? देव, मनुष्य सभी जिज्ञासा करते हैं कि वे कौन हैं ? मैं भी कहता हूँ—वे कौन हैं ? यदि कोई जाने हों, तो हमसे कह दें कि वे कौन हैं। धीरे-धीरे दिन बीत रहे हैं। वृद्धावस्था सफेद चँवर (पके हुए बाल मूँछ-दाढ़ी आदि), आधि-व्याधिरूप पताकाको फहरा कर मृत्यु-राज्यके आगमनके वृत्तान्तकी घोषणा कर रही है। उसके केवल आगमनसे ही सब वस्तुएँ नष्ट हो जायँगी, तब कोई कार्य भी नहीं होगा। इसीलिए कहते हैं कि यदि कोई सचेतन हो, तो इसी समय उसे पहचान लो, वे कौन हैं ? सम्पूर्ण जगत्को जाग्रत् करके दिखा दो कि वे कौन हैं ?

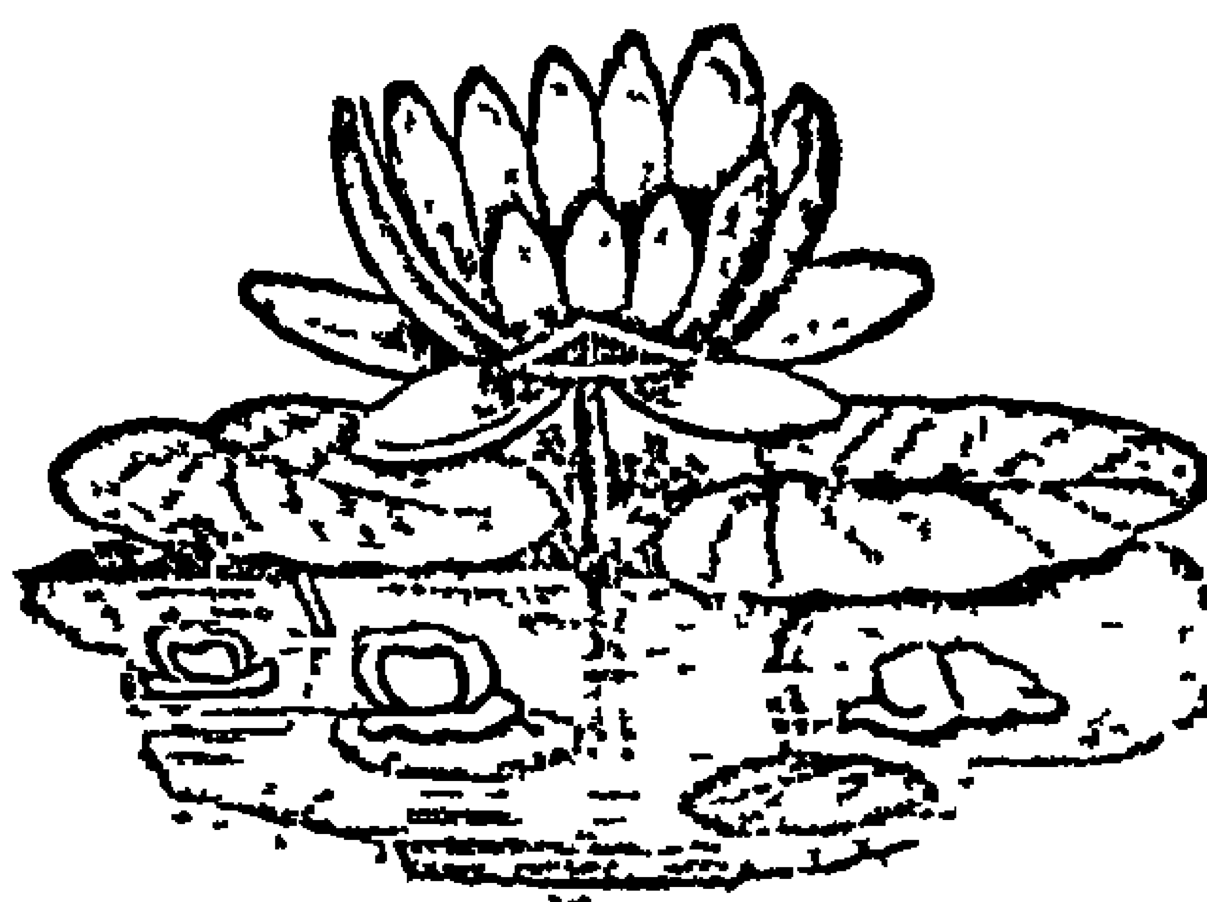
अनुवादक—
पं० श्रीकृष्णपन्त साहित्याचार्य।



श्रीराम-शैशव

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुण विगत विनोद ।
सो अज प्रेम सुभक्तिवश, कौशल्याकी गोद ॥

कामकोटि-छवि स्याम सरीरा । नील कंज वारिद-गंभीरा ॥
अरुण चरण-पंकज नख जोती । कमल दलनि बैठी जनु मोती ॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहै । नूपुर-धुनि सुनि मुनि-मन मोहै ॥
कटि किंकिणी उदर त्रयरेखा । नाभि गँभीर जान जिन देखा ॥
भुज विसाल भूषण युत भूरी । हिय हरिनख सोभा अतिरूरी ॥
उर मणिहार पदककी शोभा । विप्रचरण देखत मन लोभा ॥
कम्बुकंठ अति चिबुक सुहाई । आनन अमित मदन-छवि छाई ॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे । नासा तिलक को वरणै पारे ॥
सुन्दर स्रवन सुचारु कपोला । अतिप्रिय मधुर तोतरे बोला ॥
नीलजलज दोउ नयन विसाला । विकट भृकुटि लटकनि बरमाला ॥
चिक्कन कच कुञ्चित गभुआरे । बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ॥
पीत झंगुलिया तनु पहिराई । जानुपाणि विचरनि महि भाई ॥
रूप सकहिं नहिं कहि स्रुतिसेषा । सो जानै सपनेहु जिन्ह देखा ॥



वसन्त ऋतु

(श्रीरामचरितमानससे)

[साहित्यरत्न पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी]

श्रीकौशलकुमारके चरितसरितकी शिशिर ऋतुकी शोभाका वर्णन तो मैं 'होली' शीर्षक लेखमें यथाशक्ति कर चुका हूँ। अब वसन्त ऋतुमें उक्त चरितकी कैसी शोभा होती है, उसे भी यावद्बुद्धिबलोदय प्रस्ताव-क्रमसे दिखलानेका प्रयत्न करूँगा।

पूज्यपाद श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

'बरनब राम विवाह समाजू। सो मुदमंगलमय रितुराजू॥

राम-विवाह-समाजमें दोनों समधियों अर्थात् महाराज दशरथ और जनककी प्रधानता है। गोस्वामीजी इन्हें मधु-माधव कहते हैं। वसन्त ऋतुके चैत्र और वैशाख दोनों महीनोंके वेदानुमोदित नाम मधु और माधव ही हैं।

मधुमाधव दसरथ-जनक, मिलन राज रितुराज। (शकुनावली)

सो इन दोनों महाराजोंका समाज ही ऋतुराज है। ऋतुराज, वसन्त और कुसुमाकर पर्यायवाची शब्द हैं। कामके सखित्वसे ही वसन्त ऋतुको ऋतुराजकी पदवी मिली है और फूलोंकी बहुतायतसे यह कुसुमाकर कहलाता है।

अयोध्यासे बारात बड़े ठाट-बाटसे जनकपुर आई, और जनकपुरमें बड़ी तैयारीके साथ उसका स्वागत हुआ। दोनों ओरके डेरा-खेमा, हाथी-घोड़े, रथ, पैदल, गाजा-बाजासे चहल-पहल मच गई, मानो वन-उपवनमें साक्षात् ऋतुराजकी अवाई हो गई, यथा—

विटप विसाल लता अरुझानी। विविध वितान दिये जनु तानी॥
कदलि तालवर ध्वजा पताका। देखन मोह धीर मन जाका॥
विविध भाँति फूले तरु नाना। जिमि बानैत बने बहु बाना॥
कहुँ-कहुँ सुन्दर विटप सोहाए। जनु भट विलग-विलग होइ छाए॥
कूजत पिक मानहु गजमाते। ढेक महोख ऊँट बिसराते॥
मोर चकोर कीरवर बाजी। पारावत मराल गति ताजी॥
तीतर लावक पदचर जूथा। बरनि न जाइ मनोज बरूथा॥
रथगिरि सिला दुंदुभी झरना। चातक बंदी गुन-गन बरना॥
मधुकर मुखर भेरि सहनाई। त्रिविध बयारि बसीठी आई॥
चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हें। विहरत मनहु चुनौती दीन्हें॥

उपर्युक्त चौपाईयोंमें वसन्तकी अवाईकी उपमा चतुरङ्गिणी सेनासे दी गई है। पर यहाँ दोनों ओरकी चतुरङ्गिणी सेनाओंकी उपमा वसन्तकी अवाईसे है। वसन्तोत्सवमें नगरोंमें बड़ी तैयारी होती है, प्रजावर्ग महोत्सव मनाते हैं अयोध्या और जनकपुरमें भी बड़ी तैयारी है और प्रजावर्ग आनन्दमें विभोर हैं।

अवधपुरकी तैयारी, यथा—

जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि॥
तदपि प्रीति कै प्रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई॥
ध्वज पताक पट चामर चारू। छावा परम विचित्र वजारू॥
कनक कलस तोरन मनिमाला। हरद दूब दधि अच्छत माला॥

मंगलमय निज-निज भवन, लोगन रचे बनाय।
वीथी सींची चतुर सम, चौके चारु पुराय॥

जनकपुरकी तैयारी, यथा—

रचे रुचिर वर वंदन वारे। मनहु मनोभव फंद सँवारे॥
मंगलकलस अनेक बनाए। ध्वज पताक पट चँवर सोहाए॥
दीप मनोहर मनिमय नाना। जाइ न वरनि विचित्र विताना॥
जेहि मंडप दुलहिन वैदेही। सो वरनै अस जग कवि केही॥
दूलह राम सील गुन आगर। सो वितान तिहुँ लोक उजागर॥
जनक-भवन की सोभा जैसी। गृह-गृह प्रतिपुर देखिय तैसी॥
जेहि तिरहुत तेहि समय निहारी। तेहि लघु लाग भुवन दस चारी॥ इत्यादि।

फिर भी इतने ही से वसन्तका वर्णन पूर्ण नहीं होता, इसमें कामदेव द्वारा दिग्विजय होना चाहिए। सो भी देख लीजिए। सारे संसार में शरद ऋतु आ गई, पर महाराजके बागमें अभी वसन्त ही है, यथा—

भूप बाग वर देखेउ जाई। जहँ वसंत रितु रही लोभाई॥

सरकार फूल तोड़ने गये, जनकनन्दनी गिरिजा पूजनके लिए गईं। सो सखीके मुखसे सरकारकी अलौकिक शोभा सुनकर दर्शनके लिए आ रही हैं।

कामदेवने देखा कि ऐसा सुअवसर फिर न मिलेगा। मर्य्यादा पुरुषोत्तम की विजयसे ही विश्वविजय है। सो उसने विजय डङ्का बजा ही तो दिया। इधर सरकार खाली हाथ हैं, 'सुमन समेत वामकर दोना' हैं। डङ्केका शब्द सुनते ही चौंक उठते हैं, और लक्ष्मणजीसे कहते हैं:—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखनसन राम हृदय गुनि॥
मानहु मदन दुंदुभी दीन्हीं। मनसा विश्वविजय कहँ कीन्हीं॥

अभी ये दोनों भाई सलाह ही कर रहे हैं, उधर बाणोंकी वर्षा शुरू हो गई, यथा—

जहँ विलोक मृग-सावक-नयनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी॥

अब क्या किया जाय? कल जब जनकपुर देखने गये थे तब धनुष हाथमें था इसलिए कामको जीत लिया था। जनकपुरकी युवतियोंने कह दिया कि 'सखि इन कोटि-काम-छवि जीती', पर आज तो खाली हाथ हैं। इस बाणवर्षाका सामना कैसे करें? तो लताकी ओट पकड़ ली। पर सखियाँ वैरिन हो गईं, कलकी कसर निकालना चाहती हैं। लता ओट तब सखिन लखाये। अब कहाँ बचकर जाएँ? अन्तमें बन्दी होना पड़ा, यथा—

लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हीं पलक कपाट सयानी॥

सो वसन्त ऋतुमें कामदेवका विश्वविजय पूरा हुआ। इधर ललनाओंने ऐसी फूलोंकी झरी लगा रक्खी थी कि कुसुमाकर नाम सार्थक हो गया।

हिय हरखहिं बरखहिं सुमन, सुमुखि सुलोचनि वृंद।
जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ, तहँ तहँ परमानंद॥

अब वसन्त ऋतुके त्योहारोंकी भी झलक राम-विवाह-समाजमें देख लीजिए। पहले तो नवरात्र ही आता है घर-घर दुर्गापूजा होती है, सो यहाँ साक्षात् जनकनन्दनी गा-बजा कर दुर्गापूजा कर रही हैं, यथा—

तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा-पूजन जननि पठाई॥
संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी॥
सर-समीप गिरिजा-गृह सोहा। बरनि न जाइ देखि मन मोहा॥
मज्जन करि सर सखिन्ह समेता। गई मुदित मन गौरि-निकेता॥
पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बर माँगा॥

चण्डीस्तव भी सुनिये—

जय जय गिरिवर-राज-किसोरी। जय महेस-मुख-चंद चकोरी॥
जय गजबदन-षड़ानन-माता। जगत-जननि दामिनद्युति गाता॥
नहि तव आदि अंत अवसाना। अमित प्रभाव बेद नहि जाना॥
भवभव विभव पराभव कारिनि। बिस्व बिमोहनि स्ववस बिहारिनि

दो०—पतिदेवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न कहि सकहिं सहस सारदा सेष॥

सेवत तोहि सुलभ फल चारी। वरदायिनि त्रिपुरारि पियारी॥
देवि पूजि पद-कमल तुम्हारे। सुर-नर-मुनि सब होहिं सुखारे॥
मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा उरपुर सब हीके॥

नृसिंहजयन्ती का आभास तो प्रारम्भ ही में दे दिया, यथा—

पुरुषसिंह दोउ वीर, हरखि चले मुनि भय हरन।
कृपासिंधु मति धीर, अखिल विस्व कारन करन॥

धनुषयज्ञ में परशुराम जीके आविर्भावसे परशुराम-जयन्ती भी झलकायी, यथा—

तेहि अवसर सुनि सिव धनु भंगा। आये भृगुकुल-कमलपतंगा।

जह्नु ऋषि द्वारा गङ्गाजीका भी प्रकट होना इसी ऋतुमें माना जाता है, अतः

गाधि सूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुर सरि महि धाई॥

सृष्टिका प्रारम्भ भी इसी ऋतुसे कहा जाता है। फलतः वर्षाका आरम्भ भी इसी में होता है। सो प्रकृति-पुरुषका सम्मेलनवर्णन करना समयोचित है। रामविवाह-समाजकथा में उसी प्रकृत पुरुष-सम्मेलनका सविस्तर वर्णन है।

दहराकाशरूपी जनकराज-रत्नमण्डपमें ब्रह्म, प्राज्ञ, तैजस और विश्व क्रमशः अपनी-अपनी अवस्था तुरीया, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्के साथ विराजमान हुए। यही सृष्टिका प्रारम्भ है। यही वसन्तमहोत्सव है, यथा—

अनुरूप वर दुलहिन परसपर लखि सकुचि हिय हरखहीं।
सब मुदित सुंदरता सराहहिं सुमन सुरगण बरखहीं॥
सुन्दरी सुंदर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं।
जनु जीव उर चारिउ अवस्था विभुन सहित विराजहीं॥

दो०—मुदित अवधपति सकल सुत, वधुन्ह समेत निहारि।
जनु पाये महिपाल मनि, क्रियन्ह सहित फल चारि॥

दूलह सरकारकी जय।



मरु-स्थलके पार

[ले०—श्रीयुत मदनमोहनजी विद्याधर]

हमारी स्थिति भूले भटकों-सी है, मानों जिनका कुछ खो गया हो। सदियोंसे हम अपनी उस खो गई वस्तुको ढूंढ़नेमें लगे हैं, परन्तु वह हमें प्राप्त नहीं होती। उसीकी खोजमें हम रात-दिन घूम रहे हैं। जिसका कुछ खो जाता है, उसे चैन कहाँ? उसका सारा जीवन अशान्त और दुःखद हो जाता है। वह अपनी उस 'प्रिय वस्तु' की खोजमें व्याकुल है, उदास है, छटपटा रहा है, कभी कभी वह अपनी किस्मतको रोने भी लगता है, अपना माथा ठोक लेता है।

हम इस संसारमें आये हैं, उसकी तलाशमें। मर कर कहाँ जानेकी इच्छा है, वहां जहां कि उसकी झांकी मिले। यही तो जन्म और मरणका चक्र है, और केवल उस 'प्रिय' की खोजके निमित्त है।

कुछ मूर्ख हैं जो यह कहकर हार वैठे हैं कि कोई है ही नहीं, जिसे हम ढूंढ़े। सारा संसार छान डाला उसका कहीं पता न लगा। छोड़ो इसे भाड़में। प्रकृति इसी ताकमें थी। उसके झांसेमें वे चले गये और संसारिक वन गये।

कुछने हिम्मत न हारी, उन्होंने कहा—तुझे पा कर छोड़ेंगे। तू वच कर जायगा कहां? तू एकवार दिख जा, फिर तू कहां भागने पायगा? वे पा गये, तर गये।

प्रकृतिको जिन्होंने पाया, इसका जिनको सहारा मिला वे पा कर भी खो वैठे। और जिन्होंने प्रकृतिको छोड़ दिया, उन्होंने खोकर भी उसे ढूंढ़ निकाला, पा लिया।

उस गुम वस्तुके पदचिह्न तो पद-पद पर दिखते थे। पर वे किसी एक ओर न जा कर सारी दिशाओंमें जा रहे थे। मनुष्य परेशान हो गया। वह जाय तो कहां जाय। उसने ऊपरकी ओर निगाह डाली उसे सिर-ही-सिर दिखाई पड़े। चारों तरफसे उसकी ओर आखें उठ रही थी (सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः, सहस्रपात्) वह व्याकुल है, उसे मार्ग नहीं मिल रहा है।

उसने देखा कि अचानक मेरे सामने अनन्त द्वार हैं, सब खुले हैं, उनमें प्रवेश निषिद्ध नहीं, पर वह जाय तो किसमें जाय?

प्रभु जर्रे जर्रेमें व्याप्त है, मनुष्य जिस जर्रेको चाहे उठाकर अपने पास प्रभुकी स्मृतिके तौरपर रख सकता है। पर वह भूलता है। उस अनेकतामें छिपी एकताको वह समझ नहीं पाता। वह इस वातको भूल जाता है कि ये अनन्त भाग एक ही अन्तवाले हैं। इनमें से किसी एकको भी उठानेसे सब उठ आवेंगे। मनुष्य भटक रहा है! भूल रहा है!! वह किसी टोहमें फिर रहा है, थक कर चकनाचूर हो रहा है। उसकी खो गई वस्तु कहीं दूर नहीं, पास है। उसने सूक्ष्म वीक्षण यंत्र लगा पास पड़ी वस्तुको दूर और जो दूर (प्रकृति) है उसे स्थूल वीक्षण द्वारा अपने पास वना रक्खा है। उसे तो अपनी दृष्टि न स्थूल करनी चाहिए और न सूक्ष्म ही करनी चाहिए।

वह ढीला हो जाय, सब कुछ छोड़ दे, प्रयत्न बन्द कर दे। उसमें उत्साह आ जायगा, चुम्बककी तरह आकर्षित हो उसकी खो गई वस्तु उसे प्राप्त हो जायगी। उसका 'प्रिय पदार्थ' पले कबूतर-सा उसके हाथ पर आ बैठेगा।

× × × × ×

हिरण प्यासा था। सामने मरुस्थल था। मरीचिका चमक उठी। उसने समझा—पानी है, वह खुशीके मारे नाच उठा। एक ही छलांगमें उस तक जा पहुँचा। पर यह क्या, वहाँ पानीका नाम भी नहीं था। केवल उसकी झलक या प्रतीतिमात्र ही थी। सहसा फिर कुछ दूर सामनेसे उसे पानीका भान हुआ। वह पहुँचा पर प्यास न बुझी। पानी तो उसे इस मरुस्थलके बाद ही मिलना है। उसकी प्यास तो इस मरुस्थलको पार करनेके बाद ही बुझ सकेगी। जहांका विशद आकाश साफ होगा, जहांपर ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही होगी, जहांके सूर्यका आनन्ददायक ताप मधुर और प्रकाश होगा, कलकलाती सरिता बह रही होगी और हरी-हरी घाससे आवृत पृथिवी माता अपना अंचल फैलाये खड़ी होगी। उसकी प्यास निश्चय बुझेगी। वह परम शान्तिका अनुभव करेगा। उसकी थकावट दूर हो जायगी। सारी पीड़ा नष्ट होकर वह सुखकी नींद पा लेगा।

प्रकृतिके किनारे, मनुष्य खड़ा था। उसे प्यासका (जिज्ञासाका) अनुभव हुआ। उसने सामने ही उस 'स्रोत' की झलक देखी, जिसके विषयमें उसने सोचा कि जिसमेंका आनन्दवारि का एक घूँट उसकी प्यास बुझा सकता था। वह जीवनभर उस हिरणकी तरह उसमें चक्कर लगाता रहा। उसकी प्यास न बुझी, न मिटी। वह थक गया, इन्द्रियोंने जवाब दे दिया। इस प्रकृतिके इस स्थलमें प्रभुके चिह्न हैं, हम इससे उसकी झलक पा सकते हैं, क्योंकि यह उसी जादूगरका खेल है, उसीकी माया है। पर उसकी प्राप्ति तो इस मरुस्थलको पार करनेपर ही होगी। जहाँ कि वह परम तत्त्व अपने सूक्ष्मरूपमें विद्यमान होगा। भगवती श्रुतिने सच कहा है :—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।

अमृतकी खोजके लिए इस प्रकृतिको पार करके अहंकारको मिटाना होगा, और यही अमृतत्व है, जो परम तत्त्वकी प्राप्तिसे उपलब्ध किया जाता है।

प्रभुकी झांकी संसारमें है, पर वह तो इससे ऊपर स्थित है। यहां तो उसका एक पैर ही है। तीन पाद तो इसके बाहर हैं। आओ! उस सच्चे तत्त्व प्रभुकी खोजमें हम सब काफले का रूप धर, इस प्रकृतिके मरुस्थलको पार करें। वह स्वयं इसके पार बैठा है, उसकी झांकियाँ उसके पदचिह्न हैं, जिनपर चलकर हमें उसे पाना है। वे हजारों सिर हमारे स्वागतके लिए, वे आंखें हमारी देखभालके लिए हैं। आओ! प्रभु कबसे हमारी प्रतीक्षामें खड़े हैं। उन्होंने हजारों बार हमें निमंत्रण दिया। हमें एक बार तो उनके निमंत्रणको स्वीकार कर लेना चाहिए।

श्रीरामनवमी

(लेखक—पं० श्रीवेणीराम त्रिपाठी "श्रीमाली")

(१)

धर्म-जगतका मूल कटा जाता था जिससे।
शूरोंका शृंगार लुटा जाता था जिससे॥
धीरोंका भी धैर्य हटा जाता था जिससे।
भूपालोंका दम्भ मिटा जाता था जिससे॥
गौरीशङ्कर-भक्तिसे प्राप्त उसे वरदान था।
हूँ अजेय मैं सर्वदा ऐसा दृढ़ अभिमान था॥

(२)

धवल धर्मकी धाक धरासे शीघ्र हटाकर।
यज्ञ, याग, जप, योग, नियमका नाम मिटाकर॥
ऋषि मुनियोंकी शांति भंग कर दास बनाकर।
अबलाओंकी लोक-लाज का मान घटाकर॥
करने लगा नियुक्त वह दासी-पदके स्थानपर।
उसे न कुछ भी ध्यान था अपनेसे बलवानपर॥

(३)

बढ़ती गयी इस तरह वृत्ति वह अधम नारकी।
बलिदानोंसे प्यास बुझी तलवार-धारकी॥
नरमुंडोंसे बढ़ी बड़ी श्री सदन द्वारकी।
सीमा पूरी हुई पापकी बलात्कारकी॥
डोली वसुधा देवगणको ले अपने संगमें।
लक्ष्मीपतिको टेरते लक्ष्मी-सदन तरंग में॥

(४)

सुन देवोंके कष्ट, उदधि भी लगा काँपने।
चढ़ी शीघ्र ही लहर, डँसा ज्यों उसे साँपने॥
शीतिल हीतल लगा खौलने और हाँफने।
उथल-पथल मच गयी, धारा भी लगी चाँपने—॥
सहसानन को, वे डरे दुष्ट दशानन कर्मसे।
प्रकटे जगन्निवास प्रभु ज्ञात जगतके मर्मसे॥

(५)

आदिशक्ति के साथ शेष की प्रिय शय्यापर।
"अच्युत" परमानन्द विष्णु लक्ष्मीपति नटवर॥

चतुर्भुजोंमें शंख, चक्र युत पद्म, गदाधर।
लगा नाचने प्रेम-मग्न होकर रत्नाकर॥
देखा हरि जगदीशने अमरगणोंकी ओरको।
मुरझायेसे कमलमुख, सजल पलककी कोरको॥

(६)

पूछा प्रभुने भेद सुरोंने सब समझाया।
रावणने दुष्कर्म किया जो वह बतलाया॥
यों सब कुछ सर्वज्ञ ब्रह्मने जब सुन पाया।
आर्द्र-हृदय प्रभु हुए, नेत्रसे जल ढल आया॥
बोले पापी नीचकी रक्षा हो सकती नहीं।
अधम निशाचर मंडली सुखसे सो सकती नहीं॥

(७)

ध्यान आ गया मुझे पुण्य साकेत धामका।
कौशल देखो! वहीं देखना काम-काजका॥
मुझको जब जग सर्व, श्यामकी जगह रामका।
देगा प्यारा शब्द दो, नया मधुर नामका॥
देवो! संकट-मुक्त हो, भवसागर के जालसे।
छूटोगे तुम सहजमें, रावणके भौंचालसे॥

(८)

कहकर यों सर्वेश, सुरोंको दे उद्बोधन।
उदधि-उदर में लुप्त हो गये भव-भय-मोचन॥
वंदनीयका इधर, देवगण कर अभिवंदन।
पृथ्वीको ले साथ गये निज रम्य निकेतन॥
लीन उसी लयमें हुए दुखमें छवि आरामकी।
देख-समय खोने लगे किये प्रतीक्षा रामकी॥

(९)

धीरे-धीरे घड़ी, मनोहर वह भी आई।
मधु ऋतु प्रिय मधु मास सुतिथि नवमी सुखदाई॥
प्रकटे दशरथधाम लोकरंजन रघुराई।
आई सुखकी घड़ी, मोदयुत लोग-लोगाई॥
घर-घरमें गाती फिरें मंगलगान प्रमोदसे।
सुख पातीं मां कौशिला बालक राम-विनोदसे॥

महर्षि व्यासजीके तात्पर्यका निर्णय *

(गताङ्कसे आगे)

[ले०—पं० श्रीकृष्णपन्त साहित्याचार्य]

इस ग्रन्थ (व्याससूत्र) में—महर्षि कपिल आदिके अद्वैतमतानुवादरूप युक्तिके बलसे—यही अर्थ (अद्वैत ही) श्रीव्यासजीके तात्पर्यका विषय है, ऐसा निश्चय होनेपर किसीकी भी अद्वैत अर्थके ज्ञानके लिए भाष्य आदि ग्रन्थोंमें प्रवृत्ति न होगी, ऐसी शङ्काके लिए यहाँपर कोई स्थान नहीं है; क्योंकि 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (मैं आपसे उस उपनिषद्गम्य पुरुषको पूछता हूँ), नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (वेद न जाननेवाला (अवेदज्ञ) उस व्यापक परमात्माको नहीं जानता) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि षड्विध तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गादिसे युक्त श्रुतिके बलसे ही परमतत्त्वका निर्णय करना चाहिए, यही अर्थ व्यासजीके तात्पर्यका विषय है, अतः उस अर्थके प्रतिपादक तत्-तत् भाष्योंके पर्यालोचनसे ही परमतत्त्वका निर्णय करना चाहिए। ऐसी परिस्थितिमें भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यजीके भाष्यकी रीतिसे उसका निर्णय करना ठीक है या सर्वश्री आचार्य श्रीकण्ठ, रामानुज, मध्व आदिके भाष्यकी रीतिसे? ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर कपिल आदिके अनुवादसे अन्य भाष्योंकी अपेक्षा अधिक पुष्ट हुए भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीके भाष्यमें उक्त उपक्रमोपसंहार आदि षड्विध तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गसे युक्त श्रुतिके बलसे परमतत्त्वका निर्णय करना चाहिए यों सबकी भाष्य आदिमें प्रवृत्ति हो सकती है। प्रकृतमें जैसे वेदान्तशास्त्रमें 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्' † इत्यादि अधिकरणोंमें भगवान् व्यासने सांख्यमतका निराकरण किया है, वैसे ही सांख्यशास्त्रमें भी भगवान् कपिलने वेदान्तशास्त्रके अभिमत केवल अद्वैत, भेदकी औपाधिकता और प्रपञ्चकी अनिर्वचनीयताका अनुवादपूर्वक खण्डन किया है। देखिए, सांख्यदर्शनके

---

* 'व्यासतात्पर्यनिर्णय'के आधारपर।

† जगत् सुख-दुःख-मोहात्मक वस्तुसे बना हुआ है, सुख-दुःख-मोहसे युक्त होनेके कारण मिट्टीसे बने हुए (मृत्तिकासे अन्वित) घटके समान इस अनुमानसे सिद्ध प्रधान जगत्का उपादान कारण नहीं हो सकता, क्योंकि स्रष्टव्यके ज्ञानसे रहित अचेतन प्रधानसे विविध विचित्र रचनाएँ नहीं हो सकतीं। दूसरी बात यह भी है कि सुख, दुख आदि आभ्यन्तर हैं, उनसे बाह्य जगत्का अन्वित होना असिद्ध है, अतः सांख्य-सिद्धान्त प्रामाणिक नहीं है।

प्रथम अध्यायमें कहा है—'नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात्' * (१।२०), 'वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः' † (१।२१), 'विजातीयद्वैतापत्तिश्च' ‡ (१।२२), 'विरुद्धोभयरूपा चेत्' × (१।२३) और 'न तादृक्पदार्थाप्रतीतेश्च' + (१।२४)। आगे चलकर उसी अध्यायमें फिर कहा है—'उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः' ÷ (१।१५०), 'उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान्' $ (१।१५१), 'एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः' ¶ (१।१५२), 'अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात्' ऽ (१।१५३), 'नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्' ऽऽ (१।१५४), 'विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम्' ¶ (१।१५५),

---

* अवास्तविक अविद्यासे वास्तविक आत्माका बन्ध नहीं हो सकता।

† यदि अविद्याको वास्तविक मानो, तो आपके सिद्धान्तमें अविद्या अवास्तविक मानी गई है, अत एव आपके सिद्धान्तकी हानि होगी।

‡ यदि अविद्या वस्तुभूत अनादि है, तब तो वह नित्य आत्मरूप हुई। यदि उसे आत्मासे भिन्न मानें, तो विजातीय द्वैतकी प्राप्ति होगी।

× परस्पर विरुद्ध जो सत् और असत् है तद्रूप या सदसद्विलक्षण अविद्या है, अतः उससे पारमार्थिक अद्वैतका भङ्ग नहीं होगा, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि—

+ सदसद्विलक्षण पदार्थ कहींपर भी किसीको प्रतीत नहीं होता।

÷ पुरुषके एक होनेपर भी उपाधिरूप अवच्छेदकके भेदसे जन्म-मरण आदि भेदकी व्यवस्था हो जायगी, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उपाधिभेद होनेपर भी जैसे एक ही आकाशका घड़ा, दिवार आदि नाना उपाधियोंसे योग है, वैसे ही एक ही पुरुषका नाना उपाधियोंसे योग है, अतः जन्म-मरण और बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

$ चैतन्यके एक होनेपर भी तत्-तत् उपाधियोंसे विशिष्ट चैतन्यको भिन्न मानकर व्यवस्था हो सकती है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपाधि ही नाना हैं। उपाधिविशिष्टको नाना नहीं मान सकते। उसे भी यदि भिन्न मानो, तो तुम्हें भी अनेक आत्मा मानने पड़ेंगे।

¶ इस प्रकार एकरूपसे सर्वत्र व्याप्त आत्माके जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख आदि रूप विरुद्ध धर्मोंका सम्भव न होगा।

ऽ सुख-दुःख आदि धर्मोंके उपाधि-धर्म होनेपर भी पुरुषमें उनकी आरोपसे व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि आरोपका अधिष्ठानभूत जो पुरुष है, वह एक ही है, अतः जन्म-मरण आदिकी व्यवस्थाकी भाँति सुख-दुःख-व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी।

ऽऽ 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादि आत्माकी एकताका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंका विरोध भी नहीं होता, क्योंकि वे जातिपरक हैं; अखण्डत्वपरक नहीं हैं।

¶ आत्माके एकत्वके समान एकरूपत्व भी नानारूपताका प्रत्यक्ष होनेसे विरुद्ध है, इसपर

'नान्धादृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः' * (१।१५६), 'वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम्' † (१।१५७), 'अनादावद्ययावदभावाद् भविष्यदप्येवम्' ‡ (१।१५८) 'इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः' × (१।१५९)। पाँचवे अध्यायमें—'नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य' + (५।१३) 'तद्योगे तत्सिद्धावन्योन्याश्रयत्वम्' ÷ (५।१४) 'न बीजाङ्कुरवत् सादिसंसारश्रुतेः' ऽ (५।१५), 'विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसङ्गः' ¶ (१।१६), 'अबाधे नैष्फल्यम्' $ (५।१७) 'विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम्' ※ (५।१८), 'तद्रूपत्वे सादित्वम् £ (५।१९)। आगे चलकर उसी अध्यायमें

कहते हैं—जिनमें प्रकृति और पुरुषका अविवेकरूप बन्धकारण स्पष्टरूपसे विद्यमान है, उनकी दृष्टिसे ही पुरुषोंमें रूपभेद है। अभ्रान्तकी दृष्टिसे रूपभेद नहीं है।

* एकरूपताकी प्रतीति न होनेसे एकरूपत्वका अभाव सिद्ध होगा? इसपर कहते हैं—अन्धे यदि न देखें, तो नेत्रवालोंको भी नहीं दिखाई देता, यह कहना ठीक नहीं है अर्थात् अज्ञोंको एकरूपताका दर्शन न होनेपर भी ज्ञानियोंको एकरूपताका दर्शन होता ही है।

† वामदेव आदिके मुक्त होनेपर भी अपनेमें बन्ध अनुभवसिद्ध है, अतः अखण्ड आत्माद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती।

‡ यदि कहो कि वामदेवका भी परममोक्ष नहीं हुआ है तो अनादिकालसे आजतक यदि किसीका मोक्ष हुआ ही नहीं, तो भविष्यमें भी कैसे होगा, क्योंकि साधनोंका सम्यक् अनुष्ठान जैसे पहले हुआ है, वैसे ही भविष्यमें भी होगा।

× वर्तमान कालकी नाईं सभी कालोंमें किसी पुरुषके बन्धका अत्यन्त उच्छेद नहीं हो सकता।

+ निस्सङ्ग चैतन्यरूप आत्माका अविद्याशक्तिके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः अविद्याशक्तिके योगसे निःसङ्गमें बन्ध या कर्तृत्व होता है, यह कथन ठीक नहीं है।

÷ अविद्याके सम्बन्धसे अविद्याकी सिद्धि होनेपर अन्योन्याश्रय, आत्माश्रय आदि दोष होंगे।

ऽ संसारके अनादि होनेसे बीज और अङ्कुरके समान व्यवस्था हो जायगी, अतः अन्योन्याश्रय आदि दोष नहीं है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुतिमें संसार सादि कहा गया है।

¶ यदि विद्याभिन्नत्व ही अविद्याशब्दका अर्थ है, तो यदि उसका ज्ञानसे नाश मानें, तो ब्रह्मका भी विद्यासे नाश प्रसक्त होगा, क्योंकि वह भी विद्यासे भिन्न है, यह भाव है।

$ यदि अविद्याका बाध विद्यासे न माना जाय, तो विद्या निष्फल हो जायगी, क्योंकि अविद्यानिवृत्तिरूप फल अब उसका न रहा।

※ यदि विद्याबाध्यत्व ही अविद्यात्व है, ऐसा कहो; तो जगत् भी अविद्यारूप हो जायगा, क्योंकि वह भी विद्याबाध्य है।

£ अविद्या आपके सिद्धान्तमें अनादि मानी गई है, और यदि उसे जगद्रूप मानें, तो वह सादि हो जायगी।

फिर कहा है—'नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात्' * (५।६१), 'नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधात्' † (५।६२), 'नोभाभ्यां तेनैव' ‡ (५।६३) 'अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र' × (५।६४), 'नात्माऽविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसङ्गत्वात्'+ (५।६५), 'नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात्' ÷ (५।६६) और आगे चलकर कहा है—नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात्' ऽ (५।७४) । और छठे अध्याय में कहा है—'उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम्' ¶ (६।४६), 'द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः' $ (६।४७), 'द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात्' ☞ (६।४८)

---

* आत्मा अद्वितीय नहीं है, क्योंकि जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष आदि लिङ्गोंसे उसके भेदकी प्रतीति होती है ।

† अनात्मभूत घट आदिसे भी आत्माका अभेद नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षबाध है अर्थात् बाह्य होनेसे घट आदिमें उससे भेद देखा जाता है ।

‡ पूर्वोक्त हेतुओंसे ही दोनोंके साथ—आत्मा और अनात्माओंके साथ—दोनोंका अत्यन्त अभेद नहीं है ।

× ऐसी अवस्थामें 'आत्मैवेदम्' आदि अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियोंकी क्या गति होगी ? इसपर कहते हैं—उन श्रुतियोंमें अज्ञोंको आत्मैक्यकी प्रतीति होती है और विज्ञोंको तो चैतन्यरूप सामान्यकी ही प्रतीति होती है ।

+ असङ्ग होनेसे केवल आत्मा जगत्का उपादानकारण नहीं है, असत्य होनेसे अविद्या भी जगत्की उपादान नहीं है; यदि उसे सत्य मानें, तो अद्वैतहानि होगी और आत्मा तथा अविद्याका सम्बन्ध न होनेसे वे दोनों मिलकर भी जगत्के उपादान नहीं हो सकते ।

÷ एक धर्मीकी आनन्दरूपता और चिद्रूपता नहीं हो सकती, क्योंकि आनन्द सुख है और चित् ज्ञान है । वे दोनों परस्पर भिन्न हैं ।

ऽ आत्मामें आनन्दरूप धर्मकी अभिव्यक्ति भी मुक्ति नहीं है, क्योंकि वह धर्मरहित है उसमें धर्मधर्मिभाव नहीं हो सकता ।

¶ उपाधिका यदि स्वीकार करते हो, तो उपाधिके सिद्ध होनेपर फिर द्वैतापत्ति हो जायगी; और अद्वैतका भङ्ग हो जायगा ।

$ यदि कहिए कि उपाधि अविद्याका कार्य है, अतः उससे अद्वैतभङ्ग नहीं हो सकता, तो इसपर कहते हैं—पुरुष और अविद्या इन दोनोंका स्वीकार करनेसे अद्वैतमें प्रमाणभूत श्रुतिसे विरोध ज्यों-का-त्यों रहा ।

☞ अद्वैत-श्रुतियोंके जातिपरक होने या प्रशंसापरक होनेसे कोई विरोध नहीं है, और उपाधिके सत्य होनेसे द्वैतकी हानि भी नहीं है । अतएव वेदान्तियों द्वारा कथित न आत्मैकत्व ही है और न श्रुतिविरोध ही है । अद्वैतमें कोई प्रमाण नहीं है, अतएव उसकी सिद्धि नहीं है ।

'प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधः' * (६।४९) जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः' † (६।५०), 'न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः' ‡ (६।५१), 'जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वात्' + (६।५२) अन्य मतके निराकरणके लिए रचित पूर्वोक्त कपिलसूत्रोंमें केवल अद्वैत आदि साफ-साफ प्रतीत हो रहा है। ये अद्वैतवादी कौन हैं ? जिनके मतका अनुवाद कर कपिलजीने खण्डन किया ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर व्यासजी द्वारा रचित सूत्रोंपर तो परस्पर विरुद्ध अर्थके प्रतिपादक अनेक भाष्य निर्मित हैं, अतः व्यासजी अद्वैतवादी हैं या द्वैतवादी, ऐसा सन्देह होने और उसके निर्णयकी आकाङ्क्षा होनेपर सर्वथी महर्षि पतञ्जलि, जैमिनि, गौतम, कणाद आदि सूत्रकार, पाशुपत आदि तान्त्रिक-मतावलम्बी और चार्वाक आदि अवैदिक दार्शनिक अद्वैतका स्वीकार नहीं करते, अत एव वे कपिलजीके वादी नहीं कहे जा सकते। अन्य प्रकारसे उसके निर्णयकी आकाङ्क्षाकी निवृत्ति न होनेसे परिशेषप्रमाणसे व्यासजी ही वादी ठहरते हैं। इसके विपरीत यदि महर्षि व्यासजीको छोड़कर जिस किसी अप्रसिद्धको वादी माननेपर अन्य वादीके अभिमत केवल अद्वैतके व्यासजीके तात्पर्यविषयीभूत न होनेपर भी सर्वथी भट्टभास्कर, यादवप्रकाश, श्रीकण्ठ, रामानुज, मध्व आदि भाष्यकारोंके अभिमत सिद्धान्तोंमें से यही सिद्धान्त व्यासजीका अभिमत है, यह निर्णय कोई नहीं कर सकता। अतः द्वैतवादी अपने पक्षकी स्थापना तो कर न सकेंगे, नफेमें उन्हें वैतण्डिकत्वरूप दोष प्राप्त होगा। इसलिए उक्त दोनों आकाङ्क्षाओंकी शान्तिके लिए व्यासजी ही वादी हैं, यह विपक्षीको भी मानना पड़ेगा। यही पक्ष तटस्थ सहृदय लोगोंको रुचिकर है।

---

* केवलरूप प्रकाशसे आत्माकी सिद्धि माननेपर कर्मकर्तृविरोध होगा अर्थात् जो प्रकाशक है वही प्रकाश्य कैसे हो सकता है ?

† आत्माकी प्रकाशरूपता जड़भिन्नता ही है। जैसे सूर्यमें प्रकाशरूप धर्म है, वैसे आत्मामें प्रकाशरूप किसी धर्मका अंगीकार नहीं है, किन्तु चित्स्वरूप पदार्थ जड़को प्रकाशित करता है। जड़व्यावृत्तिमात्रसे वह चित् कहा जाता है जड़विलक्षण-धर्मवान् होनेसे नहीं।

‡ अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियोंका विरोध नहीं है, क्योंकि रागियोंका पुरुषसे अतिरिक्त विषयमें निर्वेद हो, इसलिए श्रुतियोंने अद्वैतकी सिद्धि की है।

\+ अदुष्टकारणसे (प्रकृति और हिरण्यगर्भकी बुद्धिसे) उत्पन्न होनेके कारण जगत् सत्य है क्योंकि 'इदं रजतम्' के समान 'इदं जगत्' इस प्रतीतिके न होनेसे कोई बाधक नहीं है।

कुछ भेदवादी, जो कि कपिलजीके सूत्रों में प्रतिपादित केवल अद्वैतके अनुवादरूप ब्रह्मास्त्रका खण्डन करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं और परम्परासे प्राप्त भेदवासनासे जिनका अन्तःकरण मलिन हो गया है, अतएव अपना मिथ्याभिमान भी नहीं छोड़ सकते, अपनी कपोलकल्पित लचर युक्तिरूपी सुईके टुकड़ोंसे केवल अद्वैतके अनुवादरूप ब्रह्मास्त्रको तहस-नहस करना चाहते हैं। जरा उनकी कपोल कल्पनाओंको भी सुन लीजिए—वे कुल मिलाकर तेरह हैं। उनमें से १ली—सांख्यशास्त्रमें उक्त अद्वैतके अनुवादके अनुसार केवल अद्वैत व्यासजीके तात्पर्यका विषय है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सांख्यसूत्रोंका समादृत ग्रन्थोंमें कहींपर भी उल्लेख नहीं देखा जाता, अतएव वे कपिल द्वारा रचित हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। २—प्राचीन अद्वैत ग्रन्थोंमें कपिलजीकी उक्ति केवल अद्वैतसाधक युक्ति है, ऐसा उल्लेख नहीं पाया जाता। ३—व्यासजीकी अपेक्षा महर्षि कपिलजी प्राचीन हैं अतः अर्वाचीन व्यासजी द्वारा रचित सूत्रोंके तात्पर्य विषयीभूत अर्थका अनुवाद वे कैसे कर सकते हैं? ४—पूर्व-उद्धृत सूत्रोंमें कहीं-पर भी 'व्यास' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है, अतः उनसे व्यासजीके मतका अनुवाद किया जाता है, यह कथन आकाश-पुष्पके समान अश्रद्धेय है। ५—सांख्यसूत्रोंमें जिस-जिस केवलाद्वैत आदिका अनुवाद किया गया है, वेदान्त-सूत्रोंमें उसकी कहींपर भी प्रतीति नहीं होती, अतः वही यह मत है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ६—यदि कपिलजीको व्यासजीके मतका खण्डन करना अभीष्ट है तो 'ईश्वरासिद्धेः' इत्यादि सूत्रोंमें व्यासजीके अभीष्ट जगत्के कारणरूप ईश्वर आदिके खण्डनमात्रसे उनकी अभीष्ट-सिद्धि हो गई, फिर केवल अद्वैतके अनुवादक सूत्र भी व्यासजीके अभिमत सिद्धान्तके अनुवादक हैं, ऐसी कल्पनामें आग्रह करना ठीक नहीं है। ७—वस्तुतः किसी केवल अद्वैतवादीके न होने-पर भी सांख्यसूत्रोंमें अपने मतको दृढ़ करनेके लिए स्वकपोलकल्पित अद्वैतका अनुवाद करके उसका निराकरण किया गया हो? ८—कपिलजीके समकालिक किसी अप्रसिद्ध केवल अद्वैतवादीके मतका अनुवाद कर उसका निराकरण किया गया हो? ९—सूतसंहिता, विष्णुपुराण आदिमें प्रसिद्ध सूत, जड़भरत आदि केवलाद्वैतवादियोंका निराकरण किया गया हो? १०—व्याससूत्रोंमें † 'तद-

† 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं' 'ऐतदात्म्यमिदं' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि कारण ब्रह्मसे कार्य प्रपञ्चकी सत्ता पृथक् नहीं है।

नन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादिसे आपाततः ज्ञात अद्वैतका अनुवाद किया गया हो। ११—'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' * इत्यादि सूत्रोंके अनुसार कपिलजीने केवलाद्वैत ही व्यासजीका तात्पर्य है, इस भ्रमसे उसका अनुवाद किया हो ? १२—सर्वज्ञ महर्षि कपिल भावी श्रीशङ्कराचार्यके अभिमत केवल अद्वैतका अनुवाद कर सकते हैं। १३—औडुलोमि, काशकृत्स्न और वादरि आदि अन्यान्य वेदान्तके एकदेशियोंमें से किसी एकके मतका अनुवाद करके उसका निराकरण हो सकता है।

इसलिए पूर्व-उद्धृत सूत्रोंमें केवल अद्वैतके अनुवादकी अन्य प्रकारसे उपपत्ति हो सकती है, अतः व्यासजी ही वादी हैं; यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि केवल अद्वैत व्यासजीके तात्पर्यका विषय है; यह घोषणा आकाशमें चित्र बनानेकी भाँति उपहासास्पद ही है।

अब हम पूर्वोक्त कपोल-कल्पनाओंका उत्तर देते हैं—पहले जो यह कहा गया है कि सांख्यसूत्रोंका समादृत ग्रन्थोंमें कहींपर भी उल्लेख नहीं है, अतएव वे कपिलजी द्वारा रचित हैं; यह निश्चय ही नहीं हो सकता। यह कथन बिलकुल असङ्गत है, क्योंकि श्रीसूतसंहिताकी तात्पर्यदीपिका नामक व्याख्यामें गुरुवर श्रीविद्यारण्यजीने 'अत एव सांख्यैरुच्यते—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' इत्यादिसे, कल्पतरुकी टीका परिमलमें 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' इस अधिकरणमें पूज्यपाद अपय्यदीक्षितने 'अत एव स्थूलात्पञ्चतन्मात्रस्य' इत्यादीनि 'संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य' इत्यन्तानि कपिलसूत्राणि' इत्यादिसे और पुरुषार्थरत्नाकरमें पूज्य बालकृष्णानन्दने "मोक्षस्तु लक्षितः सांख्यैः' 'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' इत्यादिसे कपिलसूत्रोंका उल्लेख किया है। यदि कहिए कि आपके कथनानुसार कथित सूत्रोंका अस्तित्व सिद्ध होनेपर भी आपके द्वारा उदाहृत केवलाद्वैतका अनुवाद करनेवाले सूत्र कपिलरचित हैं, इसकी सिद्धि तो नहीं हुई ! यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कपिलसूत्रोंका व्याख्यान करनेवाले अनिरुद्धाचार्य आदिने ही 'अथ त्रिविधात्यन्ताभावनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' से लेकर 'यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः' तक सब सूत्रोंका व्याख्यान

---

* ब्रह्म आत्मा है, इस प्रकार ब्रह्मका ध्यान करना चाहिए, क्योंकि जाबाल 'त्वं वा अहमस्मि' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मरूपसे ब्रह्मका अङ्गीकार करते हैं और इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंका अङ्गीकार कराते हैं।

किया है। अतएव उनके मध्यवर्ती (केवल अद्वैतके अनुवादक) सूत्रोंके कपिल-निर्मित होनेमें सन्देह ही क्या है? दूसरा पक्ष भी निःसार होनेसे विचारकसौटी-पर नहीं कसा जा सकता, क्योंकि हमारे भाष्य आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें गौतम, कपिल आदि सूत्रकार ही प्रतिवादी माने गये हैं; उनके मतके खण्डनके लिए प्रवृत्त भाष्यकार आदिको अर्वाचीन भेदवादियोंके मतके खण्डनके उपयुक्त कपिलानुवाद-रूप युक्तिके समाश्रयणकी कोई आवश्यकता न थी। रहे पूज्यपाद अप्पयदीक्षित आदि ग्रन्थकार। उनकी ही युक्तिका उत्तर देनेके लिए भेदवादी समर्थ नहीं थे, फिर उन्हें उनके खण्डनके लिए कपिलसूत्रोंमें स्थित अद्वैतके अनुवादतक दौड़नेकी क्या आवश्यकता थी? दूसरी बात यह भी है कि केवल प्राचीन ग्रन्थोंमें उल्लेख न होनेमात्रसे सांख्योंका अनुवाद अद्वैतसाधक नहीं हो सकता, यह कहना भी विद्वत्समाजमें उपहसनीय ही है। तीसरा पक्ष भी हृदयङ्गम नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक कल्पमें व्यास, कपिल आदि लोक-कल्याणके लिए अवतार लेते हैं, अत एव उनमें कौन प्राचीन है और कौन अर्वाचीन है, यह विभाग नहीं हो सकता। वे अपने-अपने सिद्धान्तके स्थापनके लिए एक दूसरेके मतका अनुवाद कर सकते हैं। चौथा पक्ष भी असङ्गत है, क्योंकि कपिलसूत्रोंमें जहांपर केवल अद्वैतका निराकरण किया गया है वहांपर अन्य वादीके अभावमें व्यास ही अद्वैतवादी हैं, यह सहजमें ज्ञात हो जाता है, फिर वहांपर 'व्यास' शब्दका प्रयोग भी होना चाहिए, इसमें कोई विनिगमक नहीं है। अन्यथा वेदान्तसूत्रोंमें 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि स्थलोंमें सांख्यमतके खण्डनमें भी 'कपिल' शब्दका प्रयोग करना पड़ेगा। इसीलिए पाँचवाँ पक्ष भी व्यर्थ है, क्योंकि कपिलसूत्रमें स्थित केवलाद्वैतवादीके अभिमत सिद्धान्तके अनुवादके बलसे ही जब व्यास-जीका अद्वैतमें तात्पर्य है, ऐसा निश्चय हो सकता है, तब वेदान्तसूत्रोंमें उसकी प्रत्यभिज्ञाकी क्या अपेक्षा है? प्रत्यभिज्ञा न होनेपर अद्वैतमें ही व्यासजीका तात्पर्य है यह निर्णय कैसे किया जा सकता है—यह यदि कहिए, तो आपका यह कथन भ्रान्तिमूलक ही है, क्योंकि दूसरा कोई अद्वैतवादी है ही नहीं अतएव व्यास ही अद्वैवादी हैं, ऐसा हम पहले कह चुके हैं। यदि वेदान्तसूत्रोंमें स्पष्टरूपसे अद्वैतकी ही प्रत्यभिज्ञा होती, तो आपके भाष्य आदि ग्रन्थोंका जन्म ही न होता। ऐसी अवस्थामें आपकी उक्त कपोलकल्पित विरुद्ध शङ्काओंके लिए अवकाश ही कहां रहता?

हाँ, ब्रह्मसूत्रमें 'भेद औपाधिक है' इस अंशमें प्रत्यभिज्ञा भी है, क्योंकि 'उपाधियोगेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः' इत्यादि कपिलसूत्रोंमें जिस भेदका अनुवाद किया गया है, वह औपाधिक भेद 'अत एव चोपमासूर्यकादिवत्'*, 'आभास एव च'† इत्यादि सूत्रोंमें प्रतीत होता हैं। और 'नात्माऽविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसङ्गत्वात्' इस कपिलसूत्रसे खण्डित ब्रह्मनिष्ठ जगदुपादानकारणताकी 'जन्माद्यस्य यतः' 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इन दो सूत्रोंमें प्रतीति होती है। यदि इस विषयमें आपको यह शङ्का हो कि इस सूत्रसे जिसका खण्डन किया गया है, वह प्रकृतिविशिष्ट ब्रह्ममें रहनेवाला जगत्का उपादानकारणत्व है, उसे तो श्रीकण्ठ, रामानुज आदि भी मानते हैं, अतः केवल अद्वैतवादीकी अभिमत जगदुपादानताकी ही यह प्रत्यभिज्ञा है, ऐसा कैसे कह सकते हो? तो कृपया इसका समाधान सुन लीजिए; उक्त सूत्रमें केवल आत्मा जगत्का उपादानकारण है, या अविद्या जगत्की उपादानकारण है, अथवा अविद्याविशिष्ट आत्मा जगत्का उपादानकारण है, इस तरह तीन विकल्पकर उनके खण्डनके अवसरमें अविद्याकी जगदुपादानताके निराकरणपक्षमें अवस्तुभूत अविद्या ही अविद्याशब्दका अर्थ है, यह कहना होगा, क्योंकि अन्यथा उसे रामानुजके अभिमत नित्यप्रकृतिपरक मानें, तो साङ्ख्य भी नित्य प्रकृतिको ही जगत्का उपादानकारण मानते हैं, इससे उसका खण्डन करनेमें अपने सिद्धान्तका भी उच्छेद हो जायगा। 'नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात्' इस प्रथमाध्यायके सूत्रमें आया हुआ अविद्यापद अवस्तुभूत अविद्यार्थक है, यह निर्णय किया गया है। उसकी प्रत्यभिज्ञासे इस सूत्रमें स्थित अविद्यापदको भी अवस्तुभूत अविद्यार्थक ही मानना उचित है। ऐसी परिस्थितिमें इस सूत्रमें 'अवस्तुभूत अविद्यासे विशिष्ट ब्रह्म जगत्का उपादानकारण है', इस मतका खण्डन करना ही विवक्षित है। ब्रह्मको श्रीकण्ठ, रामानुज आदि जगत्का उपादान नहीं मानते, अतएव केवल

---

* यह आत्मा चैतन्यैकरस परप्रतिषेधसे उपदेशशक्य और निर्विशेष है, अतएव 'यथा ह्ययं' इत्यादि श्रुतियोंमें उसके उपाधिकृत सविशेषत्वको लेकर ही जलगत सूर्यप्रतिबिम्बके समान यह जीव है, ऐसी उपाधि दी गई है, वस्तुतः ब्रह्म सविशेष नहीं है।

† सूर्यके प्रतिबिम्बकी भाँति यह जीव परमात्माका प्रतिबिम्ब ही है। जैसे एक प्रतिबिम्बके काँपनेपर दूसरा नहीं काँपता, वैसे ही एक जीवका कर्मफलसे सम्बन्ध होनेपर दूसरे जीवका उसके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अद्वैतवादीके अभिमत जगदुपादानताकी ही पूर्वोक्त दोनों उदाहरणोंमें प्रत्यभिज्ञा होनेमें कोई विवाद नहीं है। छठा पक्ष भी कुछ गौरव नहीं रखता, क्योंकि 'ईश्वरासिद्धेः' इत्यादि सूत्रोंसे कपिलजीने ईश्वर आदिका जो खण्डन किया है, वह तो गौतम आदिके मतमें भी तुल्य है; अतः वे सूत्र केवल व्यासजीके मतके खण्डनके लिए हैं, यह नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह भी है कि वे सूत्र केवल नैयायिक आदिके मतके खण्डनके लिए हैं, व्यासाभिमत अद्वैतके खण्डनके लिए नहीं। इसीलिए अनिरुद्धवृत्तिमें 'ईश्वरासिद्धेः' इत्यादि सूत्रोंका केवल नैयायिकके मतके खण्डनके अभिप्रायसे व्याख्यान किया गया है। जब केवल अद्वैतका अनुवाद करनेवाले अनेक सूत्र हैं, दूसरे वादीका अभाव है और असाधारणरूपसे अवश्यकरणीय व्यासमतके खण्डनका संभव है, तब अन्य साधारण मतके निराकरणके लिए रचित 'ईश्वरासिद्धेः' इत्यादि सूत्रोंसे ही व्यासमतका निराकरण हो जायगा, ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है। सातवां पक्ष भी विचारसह नहीं है, क्योंकि 'वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः' इस सूत्रमें किसी वादीके सिद्धान्तको सिद्धवत् मानकर ही उसके मतका खण्डन प्रतीत हो रहा है, इसलिए स्वकल्पित मत मानकर उसका खण्डन नहीं हो सकता। आठवाँ पक्ष भी दोषग्रस्त है। उसमें 'तात्कालिक अद्वैतवादी' यह कहा गया है, अतः यह विचार करना चाहिए कि वह तात्कालिक अद्वैतवादी कौन है? क्या कपिल, कणाद आदिके समान कोई महर्षि है अथवा कोई अन्य व्यक्ति? पहला पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि यदि वह महर्षि होता तो कपिल, कणाद आदि महर्षियोंके मतके समान उसके मतका भी गुरुशिष्यपरम्परासे अवश्य प्रचार होता, अतः उसके लुप्त होनेका अवसर ही न आता। रहा दूसरा पक्ष, वह भी नहीं बनता, क्योंकि 'दूसरा कोई अप्रसिद्ध अद्वैतवादी है' इसमें कोई प्रमाण नहीं है। प्रसिद्ध महर्षि व्यासजीको छोड़कर अप्रसिद्ध अद्वैतवादीकी खोज करना निरा पागलपन है। नवम पक्ष भी उपेक्षणीय ही है, क्योंकि स्वतन्त्ररूपसे शास्त्रके प्रवर्तक न होनेके कारण सूत, जड़भरत आदि सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक कपिलजीके प्रतिवादी नहीं हो सकते, अतः कपिल द्वारा उनके मतके खण्डनकी उपपत्ति नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि सूत, जड़भरत आदिको वादी स्वीकार कर आपको यही न सिद्ध करना है कि सूतसंहिता और विष्णुपुराण अद्वैतवेदान्तके प्रतिपादक हैं, ऐसी अवस्थामें

उनके समानार्थक होनेसे वेदान्त अद्वैतपरक हैं, यह सुतरां सिद्ध हो गया; अब हमारी अभीष्ट सिद्धि होनेमें क्या बाकी रह गया? उक्त रीतिसे जिन विष्णुपुराण आदिको आपने अद्वैतप्रतिपादक सिद्ध किया है, उन्हें भेदपरक सिद्ध करनेवाले अपने भाष्यकार आदिकी स्वयं भ्रान्तिकी कल्पना करनेसे आपके अनिष्ट होनेमें भी कुछ कोर-कसर न रही। दशम पक्ष भी उपादेय नहीं है, क्योंकि वह निम्ननिर्दिष्ट विकल्पोंके सामने ठहर नहीं कर सकता। विचार कीजिए कि आपाततः प्रतीत केवलाद्वैतके निराकरणका स्वीकार करनेपर अनूद्यमान केवलाद्वैतको आप व्यासजीका पूर्वपक्ष मानते हैं या सिद्धान्त? पहला पक्ष (केवलाद्वैतके अनुवादको व्यासजीका पूर्वपक्ष मानना) तो बन नहीं सकता, क्योंकि 'वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः' इससे व्यासजीके सिद्धान्तमें कपिलजीने जो दोष दर्शाया है, वह संगत न होगा। और दूसरी बात यह भी है कि व्यासजीके सिद्धान्तके खण्डनके लिए बद्धपरिकर हुए कपिलजी उनके पूर्वपक्षका खण्डन करें यह कदापि सम्भव नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष यदि मानो, तो वह हमें इष्ट ही है। ग्यारहवाँ पक्ष भी सारहीन है, कारण कि अपने मतका स्थापन करनेके लिए अन्य मतोंका खण्डन प्रस्तुत होनेपर समस्त शास्त्रोंके सिद्धान्तभूत अर्थके निर्णयमें जागरूक (सामान्यरूपसे सावधान) सर्वज्ञ कपिलको अन्यमतके अनुवादांशमें अभ्रान्त कहना और व्यासजीके मतके अनुवादांशमें भ्रान्त कहना आपकी भ्रान्ति ही तो है। बारहवाँ पक्ष भी ठीक नहीं है, कारण कि कपिलने गौतम, कणाद आदि सूत्रकारोंके ही मतका खण्डन किया है, उसके अनुरोधसे उन्हें तन्मध्यवर्ती सूत्रकार व्यासजीके ही मतका खण्डन करना उचित है, उनके सूत्रोंके भाष्यकार भावी भगवान् शङ्कराचार्यजीके मतका खण्डन करना असङ्गत है; अन्यथा वे श्रीरामानुज, मध्व, श्रीकण्ठ आदि सब भाष्यकारोंके मतका भी निराकरण करते। सांख्यसूत्रोंमें रामानुज आदि भाष्यकारोंके अभिमत विशिष्टाद्वैत आदिका खण्डन कहींपर भी नहीं दिखाई देता। जैसा आप कहते हैं—कपिलसूत्रोंमें भावी श्रीशङ्कराचार्यजीके ही मतका खण्डन हो, इसमें भी हमें कोई आपत्ति नहीं है; बल्कि हमारी अभीष्टसिद्धि ही है, क्योंकि व्यासजीके तात्पर्यका निर्णय करनेके लिए प्रवृत्त हुए अन्य भाष्यकारोंके मतका खण्डन न कर केवल भगवान् शङ्कराचार्यजीके मतका खण्डन करनेसे यह दिनके समान साफ प्रतीत होता है कि आचार्य भगवत्पादके अभिमत केवल अद्वैतमें ही व्यासजीका तात्पर्य

है। वेदान्तके एकदेशी आश्मरथ्य, औडुलोमि, काशकृत्स्न, और बादरिमें से जिस किसीके मतका अनुवाद करके उसका खण्डन हो सकता है, यह—तेरहवाँ पक्ष—भी उचित नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्र शास्त्रोंके प्रवर्तक गौतम, कणाद आदिके मतखण्डनके अवसरपर 'प्रधानमल्लनिबर्हण' न्यायसे वेदान्तशास्त्रके प्रवर्तक व्यासजीके मतका खण्डन करना ही उचित है, उसके एकदेशीभूत आश्मरथ्य आदिके मतका खण्डन करना उचित नहीं है, अन्यथा 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रोंमें जहांपर सांख्यमतका निराकरण हुआ है, वहां भी साङ्ख्यशास्त्रके एकदेशी पञ्चशिख, सनन्दन आदि आचार्योंका खण्डन हुआ है, ऐसा मानना पड़ेगा। यदि कहिए कि इसमें हमें इष्टापत्ति है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि समस्त भाष्योंमें कपिलके मतको लक्ष्य करके ही साङ्ख्यका खण्डन किया गया है, अतः उससे विरोध प्राप्त होगा। यदि कपिल द्वारा रचित केवलाद्वैतमतका खण्डन करनेवाले समस्त सूत्रोंका वेदान्तके एकदेशी आश्मरथ्य आदिके खण्डनमें तात्पर्य माना जाय, तो ऐसी अवस्थामें व्यासजीके मतका खण्डन न हुआ। 'जब तक अन्यके मतका निराकरण नहीं किया जाता है, तब तक अपना मत स्थिर नहीं होता' इस न्यायसे कपिलका अपना सिद्धान्त सिद्ध न होगा। और यहाँपर दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि आश्मरथ्य आदिमें से किसके मतका खण्डन किया जाता है? आश्मरथ्यके मतका खण्डन किया जाता है, यह कथन तो बन नहीं सकता, क्योंकि 'वाक्यान्वयात्' इस अधिकरणमें सर्वश्री भगवत्पाद शङ्कराचार्य, श्रीकण्ठ, रामानुज, आदिके भाष्योंमें 'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः' इस सूत्रके व्याख्यानमें जीव और ब्रह्मका कार्य-कारणभावप्रयुक्त स्वाभाविक भेदाभेद ही आश्मरथ्यको अभिमत है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। श्रुतप्रकाशिकामें यादवके सिद्धान्तका इस सूत्रमें उपन्यास किया गया है, ऐसा कहकर 'कार्यरूपसे और कारणरूपसे जीव और ब्रह्मके भेद और अभेद स्वाभाविक हैं' इत्यादिसे उनके अभिमत स्वाभाविक भेद और अभेदका स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है। अतः स्वाभाविक भेदाभेदवादीके प्रति 'उपाधियोगेऽप्येकस्य नानायोगः०' इत्यादिसे औपाधिक जीवका अनुवाद करके 'एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य०' इत्यादिसे उसका खण्डन करना अनुचित है। अतएव औडुलोमिके मतके खण्डनके लिए कपिलसूत्रोंमें अद्वैतका अनुवाद है, इस कथनका भी खण्डन हो गया, क्योंकि उसी अधिकरणमें

'उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः' इस सूत्रके अभिप्रायके पर्यालोचनसे मुक्तिके पूर्व स्वाभाविक भेद है और मुक्तिके अनन्तर स्वाभाविक अभेद है, इस प्रकार औडुलोमिके मतका प्रतिपादन किया गया है, अतः उसके प्रति 'एवमेकत्वेन०' इस सूत्रमें उक्त उपाधिकृत भेदके खण्डनका अवसर ही कहाँ है? यह सब अर्थ भाष्य आदि ग्रन्थोंमें स्पष्ट है। रामानुज भाष्यमें देखिए—'इस जीवात्माकी उत्क्रान्तिके पूर्वमें भेद क्या स्वाभाविक है या औपाधिक है? तत्रापि वह पारमार्थिक है या अपारमार्थिक है?' इत्यादिसे विकल्प करके औडुलोमिके मतका खण्डन किया गया है। श्रुतप्रकाशिकामें तो विकल्पित पक्षोंमें से पराभिमत पक्षको शेष करनेके लिए स्वाभाविक और औपाधिक विकल्प किया गया है। शङ्कर और भास्कर दोनोंसे कहे गये, दोनों ही पक्षोंका 'उत्क्रमिष्यतः' इस एक ही सूत्रसे निराकरणकी इच्छाका ज्ञापन करनेके लिए पारमार्थिक और अपारमार्थिक विकल्प किया है, इत्यादिसे औपाधिक दोनों भेद भगवत्पाद और भट्टभास्करके अभिमत हैं, ऐसा निश्चय करनेसे परिशेषात् (परिशेष न्यायसे) स्वाभाविक भेद ही औडुलोमिका सिद्धान्त है, इस प्रकार उनके भाष्यके तात्पर्यका स्पष्टीकरण किया गया है। अतएव हमारे भगवत्पादभाष्यमें भी कहा गया है—औडुलोमिके सिद्धान्तमें भेद और अभेद अन्य अवस्थाओंकी (सांसारिक-अवस्था और मोक्षावस्थाकी) अपेक्षा रखते हैं, यह स्पष्ट है। भामतीमें भी कहा है—जीव भी परमात्मासे अत्यन्त अभिन्न ही है। देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूप उपाधियोंके सम्बन्धसे वह सदा मलिन है, जब वह ज्ञान, ध्यान आदि साधनोंसे सम्पन्न होकर देह, इन्द्रिय संघातसे उत्क्रमण करता है तब उसकी परमात्माके साथ अभेदकी उपपत्ति होती है। कल्पतरुमें भी कहा गया है—जीवकी मलिनतामें हेतु उपाधिसम्पर्क है, वास्तवमें जीव और परमात्माका कोई भेद नहीं है। भाष्य, भामती और कल्पतरुके इस पर्यालोचनसे औडुलोमिके मतमें मुक्तिके पहले जीव और ब्रह्मका स्वाभाविक भेद भली भाँति साफ हो गया। शिवार्कमणिदीपिकामें—संसारदशामें जीवका परमेश्वरसे भेद होनेपर भी मोक्षदशामें परमेश्वरत्वकी प्राप्ति होनेसे जीवशब्दसे परमेश्वर कहा जाता है, यह औडुलोमिका मत है—यह दर्शानेके लिए सूत्रकी व्याख्या करते हैं—'उत्क्रमिष्यतः' इत्यादिसे, भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें स्वाभाविक भेद और अभेद है, यह आचार्य औडुलोमिका सिद्धान्त है—ऐसा प्रतिपादन किया

गया है। इससे सिद्ध हुआ कि औडुलोमिके सिद्धान्तमें कपिलजी द्वारा उक्त दोष स्थान नहीं पा सकते। पूर्वोक्त कपिलसूत्रोंमें काशकृत्स्नके मतका अनुवादपूर्वक खण्डन किया गया है, यह भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि यहाँपर सर्वप्रथम यह प्रश्न सामने आता है कि क्या कपिलसूत्रोंमें सर्वश्री श्रीकण्ठ और रामानुजकी रीतिसे उनके (काशकृत्स्नके) मतका अनुवाद किया गया है या हमारे भगवत्पाद-भाष्यकी रीतिसे ? प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि उसी अधिकरणमें 'अवस्थितेः काशकृत्स्नः' इस सूत्रमें श्रीकण्ठ और रामानुजके भाष्यमें वे उनके अभिमत विशिष्टाद्वैती कहे गये हैं, अतः कपिलोक्त दोष उनपर भी लागू नहीं हो सकता। देखिए श्रीकण्ठ-भाष्यमें कहा है— सब श्रुतियोंके अभिप्रायविचारके प्रस्तुत होनेपर सब चर और अचर वस्तुओंमें अन्तर्यामिरूपसे प्रविष्ट सर्वत्र व्याप्त सर्वपदवाच्य परमेश्वर शिव हैं, ऐसा ज्ञात होता है, इसलिए काशकृत्स्नका सिद्धान्त ही सम्पूर्ण श्रुतियों, सूत्रों महामहिमशाली पूज्य आचार्योंका सम्मत है। एवं रामानुजभाष्यमें भी अपने शरीरभूत जीवात्मामें आत्मरूपसे स्थित होनेके कारण जीवशब्दसे ब्रह्मका प्रतिपादन है, ऐसा काशकृत्स्नका मत है। जीवशब्द परमात्मपर्यन्त जीवका वाचक है, केवल जीवका वाचक नहीं है। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि हमारे भगवत्पाद-भाष्यकारकी रीतिसे काशकृत्स्न केवलाद्वैतवादी ही हैं, ऐसा यदि मानो, तो उनके प्रति कपिलोक्त दोष लागू हो ही सकते हैं। ऐसी अवस्थामें काशकृत्स्नका मत ही व्यासजीका मत है, यह सम्पूर्ण भाष्यकारोंका सम्मत होनेसे उसके खण्डनसे व्यासजीके मतका खण्डन सिद्ध होनेके कारण व्यासजी केवलाद्वैतवादी हैं, हमारा यह मनोरथ सिद्ध हो गया है। मध्वभाष्यमें तो 'कृष्णद्वैपायनके मतसे एकदेशको जाननेवाले अन्य लोग कहते हैं 'यथाबुद्धि विरोध नहीं है' इत्यादिसे आश्मरथ्य, औडुलोमि काशकृत्स्न आदिको भेदवादी माननेसे उनके प्रति कपिल द्वारा उक्त दोषोंकी प्राप्ति ही नहीं है, अतः वे वादी हैं, ऐसी कल्पना हो ही नहीं सकती। बादरिके मतका खण्डन भी पूर्वोक्त कपिल सूत्रोंमें नहीं हुआ है, क्योंकि सर्वश्री भगवत्पाद, श्रीकण्ठ और रामानुजके भाष्योंमें 'अभावं बादरिराह ह्येवम्' इस सूत्रके व्याख्यानमें मुक्तिदशासे केवल देह, इन्द्रिय आदिका अभाव ही बादरिका सिद्धान्त है, ऐसा प्रतिपादन करनेसे केवलाद्वैतका प्रतिपादन नहीं किया गया है। केवल शरीरके अभावके

प्रतिपादनमात्रसे अभेद सिद्ध नहीं होता, ऐसा होनेपर नैयायिक आदि ग्रन्थोंमें भी मुक्तिदशामें शरीरके अभावका प्रतिपादन होनेसे वे भी जीव और ब्रह्मकी एकताका स्वीकार करते हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्थामें उनके प्रति कपिल द्वारा उक्त दोष संगत नहीं ही होते। पूर्वोक्त रीतिसे कपिलसूत्रोंमें केवल अद्वैतवादकी स्फुटरूपसे प्रतीति हो रही है, उसका अपलाप नहीं हो सकता, उस प्रकारका अन्य द्वैतवादी कोई है नहीं। सांख्य-दर्शनमें अथवा अन्य दर्शनमें कहींपर भी महर्षि व्यासको भेदवादी मानकर उनके अभिमत भेदका अनुवाद कर निराकरण करनेवाले सूत्र नहीं हैं। एवं व्यास-सूत्रोंमें बड़े प्रयत्नसे, असाधारणरूपसे कपिलको लक्ष्य करके उनके मतका खण्डन किया गया है, अतएव वैसे ही कपिलसूत्रोंमें भी व्यासजीको लक्ष्य करके उनके मतका खण्डन करना अवश्य प्राप्त होता है, इत्यादि हेतुओंसे व्यास ही कपिलजीके वादी ठहरते हैं, यह जो पहले कहा गया है, वह बहुत ठीक कहा गया है।

वैसे ही अनिरुद्धवृत्तिमें भी प्रथमाध्यायमें—एक आत्मेति वेदान्तिनः, ऐसा कह कर—

'नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।
एकः सम्भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वभावतः'॥

(यद्यपि आत्मा सम्पूर्ण दोषोंसे रहित, कूटस्थ, नित्य, सर्वगत और एक अद्वितीय ही है, तथापि भ्रान्तिरूप मायासे वह अनेक-सा भासता है, स्वभावतः नहीं)।

इत्यादि श्रीसूतसंहिताके वाक्योंका अवलम्बन कर आत्माकी एकता वेदान्तियोंको अभिमत है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। वहींपर फिर पाँचवें अध्यायमें—शुक्तिरजत आदिमें वेदान्ती अनिर्वचनीयत्व ही मानते हैं, यह बतलानेके लिए 'नानिर्वचनीयं तदभावात्' इस सूत्रकी अवतरणिकामें सूत्रकार (कपिल) वेदान्तियोंके मतको दूषित करते हैं, ऐसा कहा गया है।

(अपूर्ण)



श्रीरामजन्म

सुर, नर, मुनि, गन्धर्व, सुखी सब बाजत अवध बधैया।
धन दशरथ धन मातु कौसिला धन-धन चारों भैया॥
प्रमुदित पुरजन पुलकित तन-मन नित नव साज सजैया।
विहरत राघव बालभाव सों माता लेत बलैया॥

—'श्रीमाली'

भक्तवत्सल भगवान्

गरुड़ गतिमन्द जानि बिसरायो॥
धाये अति अकुलाय पयादेहि देख्यो गज घबरायो॥
सह्यौ न गयो विलम्ब मार्गतेही कसि चक्र चलायो।
क्षणमें ही प्रभु दुष्ट ग्राहते निज जन जाय बचायो॥
देखि दशनसों गात विछत-छत दृगन नीर भरि आयो।
पटुकासों पोंछत शरीर प्रभु सूँड पकरि उर लायो॥
कहें करुनानिधि छमहुँ भक्त तू मो देखत दुःख पायो।
'दास हरी' करुना लखि प्रभुकी गज चरनन लपटायो॥

—'दास हरि'

वीणे

वीणे! भर दे नीरस जगको, इन झंकृत तानोंसे।
कर दे मुखरित शून्य गगनको, निज प्रियगुण गानोंसे॥
द्वैत-भाव रहे नहीं इनमें, ऐसी राग सुना दे।
'अच्युत' नाम सुधारस देकर, 'अद्वय' रूप बना दे॥

—श्रीगोपालदत्त त्रिपाठी



मैं कौन हूँ ?

(श्रीयतिवर भोले बाबाजी महाराज)

मैं शिशु हुआ, मैं कुमार हुआ, मैं तरुण हुआ, मैं पौगंड हुआ, मैं वृद्ध हुआ। अब मैं शिशु नहीं हूँ, कुमार नहीं हूँ, तरुण नहीं हूँ, पौगंड नहीं हूँ, वृद्ध भी मैं बहुत दिनों तक नहीं रहूँगा। थोड़ी देर है, मैं मृतक हो जाऊँगा, क्योंकि दाँत झड़ गये हैं, आँखोंने आँखें दिखा दी हैं। दूरका आदमी पहिचाननेमें नहीं आता। पास आये हुएको किसी भाँति पहिचान तो लेता हूँ, पर सरलतासे उसे भी नहीं पहिचान सकता ? शरीरपर झुर्रियाँ लग गई हैं, हड्डियाँ खोखली हो गई हैं, कान ऊँचा सुनने लगे हैं, खाया-पिया हजम नहीं होता, कमर झुक गई है, हाथ काँपते हैं, पैर लड़खड़ाते हैं, दिन दूनी रात चौगुनी कमजोरी बढ़ती जाती है, बाल श्वेत काँटेसे हो गये हैं, कोई इन्द्रिय पहलेके समान काम नहीं देती। इससे सिद्ध होता है कि अब मैं मृतक होकर चार आदमियोंके कंधेपर चढ़कर जानेवाला हूँ। शोक यह है कि आयु भर दुनियाँ भरके फंदोंमें फँसा रहा, कभी एकान्तमें बैठकर मैंने यह नहीं विचार किया कि मैं कौन हूँ ?

शिशु आदि जो कुछ पहले मैं था, वह तो मैं इस समय हूँ नहीं और मैं तो हूँ ही, उससे सिद्ध होता है कि मैं शिशु आदि तो था नहीं, यदि होता, तो अब भी होता, परन्तु अब मैं शिशु आदि नहीं हूँ। तब मैं कौन हूँ ? क्या मैं वृद्ध हूँ ? नहीं वृद्ध भी नहीं हूँ, क्योंकि जो मैं आज हूँ, सो कल नहीं रहूँगा; जो कल होऊँगा, सो परसों नहीं रहूँगा, दिन प्रतिदिन अधिक वृद्ध होता जाऊँगा और अन्तमें कालकी गालमें समा जाऊँगा। इसलिए मैं वृद्ध भी नहीं हूँ, तब मैं कौन हूँ ? शिशु आदि शरीरकी अवस्थाएँ थीं, शरीरमें अध्यास करनेसे मैं अपनेको शिशु आदि मानता था, वस्तुतः मैं शिशु आदि नहीं था, शरीर ही शिशु आदि हुआ था, मैं नहीं हुआ था, मैं तो शरीरसे कोई अन्य ही वस्तु हूँ, परन्तु कौन हूँ, यह मेरी समझमें नहीं आता।

किसीने आज तक मुझे यह बात बताई भी नहीं, बताते कहाँ से ? वे आप ही अपनेको नहीं जानते होंगे, क्योंकि कोई अपनेको देवदत्त, कोई यज्ञदत्त, कोई पण्डितजी, कोई राजा साहब, कोई सेठजी, कोई चौधरी, कोई न्यायाधीश बताते थे। ये सब देहके नाम हैं, वे देहके ही नामको अपना नाम बताते थे, इससे सिद्ध होता है कि वे देहको ही आत्मा जानते थे। मुझे भी कोई लल्लू, कोई मुन्ना, कोई चन्द्रशेखर, कोई विद्यार्थी, कोई गुरुजी, कोई मित्र, कोई भाई, कोई चाचा, कोई ताऊ इत्यादि

नामोंसे पुकारते थे। इससे सिद्ध होता है कि जैसे वे अपनेको देह समझते थे, इसी प्रकार मुझे भी देह मानते थे। वास्तवस्वरूपसे वे मुझे और अपनेको नहीं जानते थे। कितने आश्चर्यकी बात है कि मैं चितामें जाकर जलनेकी तैयारीमें हूँ और अभीतक 'मैं' शब्दका अर्थ नहीं जानता। अंकगणित पढ़ लिया, बीजगणित पढ़ लिया, रेखागणित पढ़नेमें वर्षों तक माथापच्ची की, साइंस पढ़ा, फिलोसोफी पढ़ी, ग्रेजुएट हो गया, परन्तु यह नहीं पढ़ा कि मैं कौन हूँ? 'मैं' पदका क्या अर्थ है?

इस मेरे पढ़नेको धिक्कार है। बारम्बार धिक्कार है। कोर्सके पोथे पढ़ डाले, पढ़ा भी दिये और पढ़ा-पढ़ाया कुछ नहीं। जब पढ़नेवाले अथवा पढ़ानेवालेको इसी का पता नहीं है कि मैं कौन हूँ, तो उसने क्या पढ़ा और क्या पढ़ाया? न कुछ पढ़ा और न कुछ पढ़ाया। शोक है, महाशोक है! एक 'मैं' शब्दका अर्थ भी नहीं जानता हूँ और सैकड़ों और हजारों कोश देख डाले हैं। वही कहावत हुई कि रात भर पीसा और चपनी भर बटोरा। आयु भर पढ़ा और एक शब्दका अर्थ नहीं जाना। शब्द भी कौन ? 'मैं' शब्द, जिसको सब बोलते हैं, सबसे पहले बोलते हैं और सदा बोलते हैं। ऐसे सामान्य शब्दका अर्थ भी मैं नहीं जानता और सब कुछ पढ़ा हुआ अपनेको मानता हूं। जैसे गदहेकी पीठपर पुस्तकें लदी हों, इसको कोई पढ़ा हुआ नहीं कह सकता। गदहेके समान मैंने पोथोंका भार ही अपने ऊपर लादा। पढ़ा-पढ़ाया कुछ नहीं। व्यर्थ ही मनुष्य शरीर धारण किया। सुनता हूँ कि इस मनुष्य-शरीरमें ही 'मैं' का अर्थ समझा जा सकता है। मनुष्य ही 'मैं' शब्दके अर्थके समझनेका अधिकारी है। अधिकारी शरीर पाकर भी मैंने 'मैं' का अर्थ नहीं जाना। मेरे लिए शोक है! महाशोक है!! अत्यन्त शोक है!!!

मैं 'मैं' शब्दका अर्थ नहीं जानता, दूसरा कोई इस समय मेरे पास है नहीं, तब मुझे 'मैं' का अर्थ कौन बतावे? सुनता हूँ कि ईश्वर सर्वव्यापी है, घट-घट में वास करता है, जो कोई कुछ भी कहता है, ईश्वर उसकी बातें सुनता है, इतना ही नहीं, ईश्वर सबको देखता है, सबकी बातें सुनता है, स्पर्श करता है, चखता है, सूँघता है, जितने कार्य करता है। सब वही करता है, उसके सिवा दूसरा कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है प्रमाता नहीं है, जो कुछ है, सब वही है, स्मृति कहती है—'कर्ता भोक्ता जनार्दनः' यानी कर्ता और भोक्ता जनार्दन भगवान् ही हैं। और भी कहा है—'भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः' यानी भूत विष्णु हैं और भुवन विष्णु हैं। इससे सिद्ध है कि जो देखने, सुनने, स्मरण करनेमें आता है, सब ईश्वर ही है। जब सब ईश्वर ही है और सर्वत्र ईश्वर ही है, तब यहाँ भी वह होगा ही और मेरे भीतर भी वह होगा ही। हाँ, मुझे स्मरण होता है, एक दिन मैं एक सन्तके पास बैठा था, अन्य भी कई सज्जन वहाँ बैठे थे, एक सज्जनने 'ईश्वर कौन है' ऐसा प्रश्न सन्तसे किया, तो उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया था।

सन्त—भाई, ईश्वर कौन नहीं है। सब ईश्वर ही हैं, तू ईश्वर है, तेरा पिता ईश्वर है, तेरी माता ईश्वर है, तेरा भाई ईश्वर है, तेरी बहिन ईश्वर है, तेरा कुत्ता ईश्वर है, सूर्य होकर ईश्वर ही तप रहा है, चन्द्र होकर ईश्वर ही चमक रहा है। नक्षत्र, तारे, बिजली, मेघ, वरुण, कुबेर, अग्नि, वायु, नैऋत, यमराज, इन्द्र, सब ईश्वर ही हैं। सब ईश्वरसे उत्पन्न हुए हैं, तो सब ईश्वर ही हैं, कार्य और कारणका अभेद होता, यह बात सब अनुभवसे सिद्ध है, इसलिए यह समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर ही है, वेदवेत्ताओंका वचन है कि यह सब वासुदेव ही है, वासुदेवके सिवा कुछ नहीं है।

इत्यादिसे सिद्ध है कि ईश्वर सब है और सर्वत्र है, मुझे इसीसे प्रार्थना करनी चाहिये कि वह मुझे 'मैं' शब्दका अर्थ बता दे!

ऐसा विचार कर चन्द्रशेखर ईश्वरसे इस प्रकार प्रार्थना करने लगा—

प्रार्थना—हे देवोंके देव, महादेव, हे अन्तर्यामिन्, हे परमात्मन्, हे विश्वेश्वर, हे भक्तवत्सल, मैंने वृद्ध पुरुषोंसे सुना है कि आप एक, अद्वितीय, निर्विशेष, सत्य, ज्ञान, आनन्दस्वरूप हैं, फिर भी अपने भक्तोंकी रक्षा करने और उनको अपना तत्त्व बतानेके लिए आप अनेक अवतार लेते हैं। पृथिवीका उद्धार करनेके लिए आपने क्रोड़रूप धारण किया था, प्रह्लादकी रक्षा करनेके लिए आप अद्भुत सिंह बने थे। गजेन्द्रकी ग्राहसे रक्षा करनेके लिए आप सुदर्शन चक्र लेकर हरिरूप होकर दौड़े थे। मनुकी रक्षा करनेके लिए आपने मत्स्य बनकर पृथिवीरूप नौकाको प्रलयके के समुद्रमें चलाया था। एकरूप होकर भी आप अपने भक्तोंका कार्य सिद्ध करनेके लिए अनेकरूप हो जाते हैं, ऐसा लोक और शास्त्रमें प्रसिद्ध है। यों तो सब आपके ही रूप हैं, फिर भी आपके नित्य और नैमित्तिक दो रूप हैं। आपके ऊपर कहे गये रूप तो नैमित्तिक हैं और सन्त-संन्यासी-महात्मा आपके नित्य रूप हैं। इन दो रूपोंसे आप सबका कल्याण करनेके लिए सबकी शङ्काएँ निवृत्त करते हैं और सबको सन्मार्गका उपदेश देते हैं। यद्यपि मैंने आजतक आपकी भक्ति नहीं की है, फिर भी मैंने शास्त्रविरुद्ध कोई कर्म नहीं किया है। आप घट-घटवासी हैं। मेरे मनकी आप जानते ही हैं। यदि मेरी आपमें सच्ची भक्ति हो, तो आप मुझे किसी रूपमें दर्शन देकर मेरे प्रश्नोंका उत्तर दीजिये यानी 'मैं' शब्दका अर्थ मुझे समझाइये, मैं आपसे और कुछ नहीं कहता, मैं आपसे धन-दौलत नहीं माँगता, आयु नहीं चाहता, पुत्रादिक जो हैं, उतने ही बहुत हैं, अधिक मैं नहीं चाहता, अब मेरा जीवन अनुमानसे थोड़ा-सा रह गया है, अपनी शेष आयुमें मैं आपका ही अनुसंधान करता हुआ अपने इस क्षणभंगुर शरीरका त्याग करूँ इतना ही मैं चाहता हूँ।

सच्ची प्रार्थना ईश्वरके कान तक तुरन्त पहुँच जाती है, चन्द्रशेखरने अपनी प्रार्थना समाप्त नहीं की थी, क्या देखता है कि कषाय वस्त्र धारण किये, माथेपर त्रिपुण्ड

लगाये और हाथमें दण्ड लिये हुए, लम्बे कदवाले एक पुरुषने उसके कमरेमें प्रवेश किया, आनेवालेका मस्तक कुंदनके समान चमक रहा था। चन्द्रशेखरने उसे साष्टांग दंडवत् किया, चरण धोकर ऊँचे आसनपर बैठाया, जब महात्मा सुखसे आसन पर बैठ गये तो चन्द्रशेखर हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगा—

चन्द्रशेखर—महाराज! आपके दर्शनोंसे मेरे मनमें परम आह्लाद हुआ है ऐसा अनुमान होता है कि जनार्दन भगवान्ने मेरी प्रार्थना सुन ली है और स्वीकार भी कर ली है। वे स्वयं ही मेरा मनोरथ पूर्ण करनेके लिए आपका वेष धारण करके आये हैं, मेरा मनोरथ अवश्य पूर्ण करेंगे। आपको मैंने पहले कभी नहीं देखा है।

साधु—भाई! मैं इसी शहरमें रहता हूँ, परन्तु एकान्त जंगलमें वास करता हूँ, मेरे स्थानपर कोई पहुँच नहीं सकता, मैं भी शहरमें बहुत कम आता हूँ, इसलिए तूने मुझे नहीं देखा होगा, मैंने भी तुझे आज तक नहीं देखा। आज न जाने कौन-सी शक्ति मुझे यहां ले आई है। अचानक मैं अपने आसन परसे उठ बैठा, सीधा पैर उठाये चला आया हूँ, मार्गमें भी कहीं नहीं ठहरा और न मैंने किसीको देखा। ऐसा अनुमान होता है कि तेरा संकल्प मुझे यहाँ खींच लाया है। आशुतोष देव सबके मनोरथ पूर्ण करते हैं, मैं तो कुछ कर नहीं सकता। हां, तेरा कोई प्रश्न हो, तो मुझसे कर सकता है। यदि मैं जानता होऊंगा, तो बता दूँगा।

चन्द्रशेखर—महाराज! मैं एक उलझनमें पड़ा हुआ हूँ, 'मैं कौन हूँ' उसकी मुझे खबर नहीं हैं, आपसे 'मैं' शब्दका अर्थ पूछना चाहता हूँ और यह भी जानना चाहता हूँ कि मैं किसका भजन करनेसे संसार सागरसे तर सकता हूँ। आजतक तो मैंने किसीका भजन किया नहीं, भजन करूँ भी कैसे? मैं 'मैं' शब्दका अर्थ ही नहीं जानता, तब अन्य कुछ तो जानूं ही कहांसे? बिना जाने किसका भजन करूँ? यथासंभव मैंने सत्यव्यवहार किया है, धर्मसे धन कमाया है, धर्मसे ही सन्तानकी उत्पत्ति की है, किसीको मनसे, कर्मसे, वाणीसे पीड़ा भी नहीं दी है, संसारमें मैंने कोई सार नहीं देखा, धनसे, प्रजासे, और भोगोंसे किसीको तृप्ति नहीं हो सकती, यह मेरा निश्चय है। इसलिए मैं संसारसे यानी जन्म-मरणसे छूटना चाहता हूँ, संसारसे मुक्त होनेका उपाय आप मुझे बतलाइये!

साधु—भाई, तू बड़ा संस्कारी पुरुष है, जो तूने इस कलिकालमें भी सत्यका व्यवहार किया है और संसारसे मुक्त होना चाहता है। आजकल तो प्रायः सभी असत्य व्यवहार ही करते हुए देखनेमें आते हैं, संसारसे कोई छूटना नहीं चाहता। कोई विरला ईश्वरका प्रसादपात्र पुरुष ही भोगोंपर आसक्ति छोड़कर ईश्वर भजनमें लगता है। तू धन्य है, जो संसारसे मुक्त होनेका मार्ग पूछता है। संसारसे तू विरक्त है, इसलिए मेरे उपदेशका और 'मैं' का अर्थ समझनेका अधिकारी है। प्रथम तू मुझे यह बता कि तूने 'मैं' शब्दका अर्थ क्या समझा है?

चन्द्रशेखर—महाराज, मेरी समझमें इतना तो आता है कि देह आदि 'मैं' शब्दका अर्थ नहीं है, क्योंकि मेरी देह तो जन्मसे लेकर अबतक गिरगिटके समान कई रंग बदल चुकी है और मैं ज्योंका त्यों हूँ, इससे मैं समझता हूँ कि मैं देह नहीं हूँ किन्तु देहसे कोई अन्य वस्तु हूँ, जो कभी बदलती नहीं है किन्तु सर्वदा एक-सी रहती है, परन्तु वह वस्तु कौन है, यह मेरी समझमें नहीं आया।

साधु—(प्रसन्न होकर) हाँ, जैसा तू कहता है, वैसा ही है। देख, जैसे तू अपनेको 'मैं' कहता है, इसी प्रकार सब ही अपनेको 'मैं' कहते हैं, अधिक तो क्या ईश्वर भी अपनेको 'मैं' ही कहता है, इसलिये 'मैं' कहनेवाला छोटा-सा नहीं है; किन्तु बहुत बड़ा है, जो समस्त संसारमें फैला हुआ है, आजकलके लोग ही 'मैं' कहते हों, ऐसा नहीं है, किन्तु जितने पहले हो चुके हैं, सब अपनेको 'मैं' कहकर पुकारते थे और आगे जितने होंगे, वे भी सब अपनेको 'मैं' कहकर ही पुकारेंगे, इसलिए 'मैं' शब्दका अर्थ 'मैं' पदार्थ सब देशमें, सब कालमें और सब वस्तुओंमें व्यापक है। ऐसा व्यापक पदार्थ ब्रह्म है, इसीको आत्मा कहते हैं, इसलिए 'मैं', 'आत्मा' और 'ब्रह्म' तीनों एक ही हुए। भेद इतना है कि 'मैं' शब्द शरीरके बिना नहीं कहा जाता, जब शरीर होता है, तभी ईश्वर अपनेको 'मैं' कहता है और जीव भी शरीरको ग्रहण करके ही 'मैं' शब्दका अपने लिए उपयोग करता है। यदि शरीररूप उपाधिका बाध कर दिया जाय, तो जीव और ईश्वर एक ही हैं यानी आत्मा अथवा ब्रह्म एक ही हैं। 'मैं' शब्दका प्रयोग तो लोकमें सब अपने लिए ही करते हैं और आत्मा शब्दका प्रयोग तो सबके लिए हो सकता है, जैसे, मैं आप जाता हूँ, तू आप पढ़ता है, वह आप यहाँ नहीं आता। आत्मा आपका ही नाम है। ब्रह्म एक अद्वितीय सत्य, ज्ञान आनन्दस्वरूप है, वही अनेक नामरूप अपनी मायासे धारण कर लेता है, इसलिए जगत् जीव दोनों ब्रह्म ही हैं, भाव यह है कि 'मैं' 'तू' 'वह' यह सब ब्रह्मके ही नाम हैं और ब्रह्म सबका आत्मा यानी सबका अपना आप अर्थात् स्वरूप है, इसलिए देह और ब्रह्माण्डकी उपाधिका त्याग करके ब्रह्म ही सबका स्वरूप है, वही सब शरीरोंमें अपनेको 'मैं' 'मैं' कहकर पुकार रहा है। जब वह देहको ग्रहण करके 'मैं' कह रहा है, तब भी ब्रह्म है और जब देहको ग्रहण न करके 'मैं' नहीं कह रहा है, तब भी ब्रह्म ही है, इसी ब्रह्मका तू अनुसंधान किया कर, अवश्य ही ब्रह्म होकर संसारसे पार हो जायगा। जैसे रस्सीमें रस्सीके यथार्थ न जाननेसे सर्पकी कल्पना होती है, इसी प्रकार अपने आत्मा ब्रह्मको ठीक-ठीक न जाननेसे 'मैं' कल्पित है। जैसे सर्पका बाध होनेसे रस्सी ही शेष रह जाती है, इसी प्रकार 'मैं' का बाध करनेसे ब्रह्म ही शेष रहता है। इसलिए 'मैं' का बाध करके 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा जप अथवा अनुसंधान किया कर। उस मंत्रके जापका फल वेदवेत्ता ऐसा बताते हैं—

हरिगीत छन्द

(१)

'मैं ब्रह्म हूँ' यह मंत्र पावन सर्वसे ही श्रेष्ठ है।
क्या चित्तके, क्या देहके सब दोष करता नष्ट है॥
'मैं ब्रह्म हूँ' जप रे सदा, यदि श्रेय सच्चा इष्ट है।
दमड़ी न होती खर्च इसमें नाँहि कायाकष्ट है॥

(२)

'मैं ब्रह्म हूँ' इस मंत्रसे, ईर्ष्यादि अवगुण दूर हों।
तृष्णा मिटे चिन्ता छुटे, भय-शोक-तम कर्पूर हों॥
'मैं ब्रह्म हूँ' इस जापसे, कामादि शत्रू चूर हों।
संतोष शम दम धीरता, आराम सब भरपूर हों॥

(३)

'मैं ब्रह्म हूँ' इस ध्यानसे, मन स्वच्छतम हो जाय है।
सब द्वन्द्व रहते दूर हैं, ना निकट कोई आय है॥
'मैं ब्रह्म हूँ' यह मंत्र देहाध्यास नरका खोय है।
सब वासना मिट जायँ हैं, सुख-शान्तिसे नर सोय है॥

(४)

'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञानसे, निर्मूल होती द्वैतता।
देखे जहाँ, दीखे वहाँ ही एकरस अद्वैतता॥
'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञानसे, हों प्राप्त सारी सिद्धियाँ।
पर तुच्छ भासें सिद्धियाँ, मिथ्या जचें हैं ऋद्धियाँ॥

(५)

'मैं ब्रह्म हूँ' इस मंत्रसे, सम ब्रह्म सबमें भासता।
इसके सिवा ना अन्य कोई मोक्षका है रासता॥
भोला! इसीको जप सदा, मत अन्यसे रख वासता।
नाहीं कहीं फिर मृत्यु है, नाहीं किसी की दासता॥

चन्द्रशेखर इसी मंत्रका नित्य निरन्तर अनुसन्धान करता हुआ सुखी हुआ। इत्यतिशोभनम्।



धारणा

[लेखक—श्रीमण्डलेश्वर श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज]

आज हम अच्युतके पाठकोंके सम्मुख धारणाके स्वरूपका निर्वचन करते हैं। प्रणायाम तथा प्रत्याहारके अनन्तर साधकको धारणाका अभ्यास करना चाहिए। पातञ्जल योगशास्त्रमें धारणाका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो० सू० ३-१)

अर्थ—नाभिचक्रमें, हृदयकमलमें, मूर्धस्थानगत ज्योतिमें, नासिकाके अग्रभागमें, जिह्वाके अग्रभाग आदि स्थानोंमें अथवा बाह्य अभीष्ट विषयोंमें चित्तकी वृत्तिको बांध देना धारणा है अर्थात् अपने अभीष्ट लक्ष्य निर्गुण वा सगुण या अन्य विषयोंमें चित्तको स्थिर करना 'धारणा' है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी श्रीकृष्ण भगवान्ने जहाँ तहाँ धारणाका स्वरूप बतलाया है, जैसे—

'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥' (५-१७)

अर्थ—'ब्रह्म' में है बुद्धिकी वृत्ति जिनकी, ऐसे धारणावाले पुरुषोंका नाम 'तद्बुद्धयः' है, इस पदसे धारणाका स्वरूप कहा। 'तत्परायणाः' इस पदसे ध्यानका स्वरूप कहा। 'तन्निष्ठाः' पदसे समाधिका स्वरूप कहा। 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' तथा 'तदात्मानः' पदोंसे जीवन्मुक्तका स्वरूप कहा। 'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिम्' इस वाक्यसे विदेहमुक्तका स्वरूप कहा गया है।

'शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥' (६—२५)

अर्थ—चारों तरफ विषयोंमें बिखरी हुई अन्तःकरणकी वृत्तियोंको धीरजसे इकट्ठा करे, धीरे धीरे विषयोंसे मनको हटाकर आत्मामें स्थिर करके अन्य कुछ भी चिन्ता न करे। यह तभी हो सकता है जब मन आत्मामें संलग्न हो, इसका मूल हेतु आत्मामें मनकी धारणा ही है।

'सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥' (८-१२)

अर्थ—सब इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंसे हटाकर, मनका हृदयमें निरोध कर, प्राणायाम द्वारा अपने प्राणोंको सिरमें चढ़ाकर आत्माको योगधारणामें स्थिर करे।

धारणाका विषय

श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धमें (अ० १ और २) धारणाके विषयका इस प्रकार वर्णन है—

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथिः।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया ॥१९॥

अर्थात् बुद्धि है सारथी जिसका, ऐसे शरीररूपी रथवाले जीवरूप स्वामी रथीको चाहिए कि मनरूपी दृढ़ लगामसे श्रोत्र आदि इन्द्रियरूपी घोड़ोंको शब्द आदि विषयरूपी कुमार्गोंसे हटाकर नाना प्रकारके कर्मोंसे विक्षिप्त मनको, सत्य-असत्यका विवेक करनेवाली बुद्धिसे शुभ अर्थमें, धारणा करे। इस श्लोकसे धारणाके विषय (शुभ) का सामान्यतः निर्देश किया गया है।

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ॥१७॥

श्वास, प्रश्वास और मनको वश करके मनसे शुद्ध अकार, उकार और मकार मात्रावाले परब्रह्म 'ॐ' अक्षरका अभ्यास करे। ॐ इस अक्षरका नाम ब्रह्मबीज है, इसको विस्मरण न करे अर्थात् उसकी निश्चल धारणा करे। इस श्लोकसे धारणाका विषय ॐकार कहा गया है।

यथा सन्धार्यते ब्रह्मन्! धारणा यत्र सम्मता।
यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम् ॥ २२ ॥

राजा परीक्षित् शुकदेवजीसे कहने लगे—हे ब्रह्मन्! जिस विषयमें शास्त्रकी रीतिसे धारणा सम्मत हो और जिस प्रकार धारणा अच्छी तरह करने योग्य हो और जिस धारणासे पुरुषके मनके मल शीघ्र दूर होते हों, उस धारणाको आप कृपा करके कहिए। शुकदेवजी कहने लगे—

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः।
स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद्धिया ॥ २३ ॥

हे राजन्! आसनसे आसनको जीतकर, प्राणायामसे प्राणोंको जीतकर, संगको जीतकर यानी आसक्ति रहित होकर बुद्धिसे मनको भगवान्के स्थूलरूपमें धारण करे।

उक्त श्लोकसे धारणाका विषय विराट् पुरुष कहा गया है। अब विराट् पुरुषके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम्।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥२६॥

द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्त्तेरूरुद्वयं वितलं चाऽतलं च।
महीतलं तज्जघनं महीपते! नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति॥२७॥
उरः स्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवामहर्वदनं वै जनोऽस्य।
तपो ररार्टी विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः॥२८॥

हे राजन्! इस विराट् पुरुषका पादतल पाताल है। इसके पादके पश्चाद्भाग या अग्रभागको रसातल कहते हैं और विश्वस्रष्टाके गुल्फ महातल कहे गये हैं। तल और अतल ये दोनों उसकी जङ्घाएँ हैं। विश्वमूर्तिके दोनों जानु सुतल हैं। वितल और अतल दोनों ऊरु हैं।

हे महीपते! उस विराट् पुरुषका जघन (कमरका अग्रभाग) महीतल अर्थात् भूलोक है और आकाशतल इस पुरुषकी नाभि है। ज्योतियोंका समूह इस पुरुषका उरःस्थल तथा महर्लोक ग्रीवा है। जनलोक मुख है। इस आदि पुरुषका तपलोक ललाट है और सत्यलोक सिर है। यहाँ पातालादि भगवत्पादमूलत्वादिका विधान उपासनाके लिए है। एवं च इस प्रसंगमें पाताल आदि चतुर्दशभुवनात्मक विश्व विराट् पुरुषका धारण कहा गया है—

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नाऽन्यत्र सज्जेद्यत आत्मनाऽतः॥३९॥

हे राजन्! वह विराट् पुरुष ही सम्पूर्ण बुद्धिवृत्तियोंके द्वारा सबका अनुभव करता है। जैसे स्वप्नका द्रष्टा एक ही है यानी जिसको स्वप्न हो रहा है, वही एक स्वप्नका द्रष्टा है अन्य जीवोंमें केवल द्रष्टृत्वकी कल्पनामात्र है, वैसे ही जाग्रत्में भी केवल एक ही द्रष्टा है अन्य द्रष्टाओंकी केवल कल्पना ही है। उस सत्य आनन्दनिधिका ही भजन करना चाहिए। अन्य विषयोंमें आसक्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि विषयोंमें आसक्ति करनेसे आत्माका पतन होता है।

विराड्धारणकी महिमा

एवं पुरा धारणयात्मयोनिर्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात्।
तथा ससर्जेदममोघदृष्टिर्यथाप्ययात् प्राग् व्यवसायबुद्धिः॥(२।१)

शुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्, इस प्रकारसे यह विराट् पुरुषकी धारणा सृष्टिके आदिमें प्रजापतिने की थी। इस धारणाके प्रतापसे ही प्रजापतिने अन्तरात्माको सन्तुष्ट करके नष्ट स्मृतिको पुनः प्राप्त किया और पूर्व सृष्टिमें जैसा सृष्टिक्रम था, उसके स्मरण द्वारा जिस प्रकार प्रलयसे प्रथम सृष्टिकी रचना तथा क्रम आदिका निश्चय किया था, ठीक उसी तरह इस जगत्की रचना की और

अमोघदृष्टिपनेकी प्राप्ति की; अतः इस धारणाकी बड़ी महिमा है। प्रत्यक्ष व शीघ्र फलको देनेवाली यह विराट्की धारणा है। हे राजन्! खान, पान, ऐश, आराम आदि विषयोंका जो यह बुद्धि मिथ्या व विफल नामोंके द्वारा ध्यान करती है, सो ठीक नहीं है। यह तो केवल शब्द-ब्रह्मका मार्ग है। उस मायामय विषय जालमें परिभ्रमण करनेवाली वासनामें मोहित हुआ पुरुष सब प्रकारके पुरुषार्थोंसे भ्रष्ट हो जाता है। किसी भी अर्थकी सिद्धि नहीं कर सकता। अतः विवेकी विद्वान्को चाहिए कि अनात्मशब्दोंसे जितने अर्थ भासित होते हैं, उनमें अप्रमत्त होवे, सावधान होवे और इस विराट् पुरुषकी धारणाका निश्चय करे। भोगविलासकी सामग्रीके सम्पादनके लिए व्यर्थ यत्न न करे। शरीरका भोग तो प्रारब्धके बलसे सिद्ध ही है। जैसे दुःख प्रयत्नके विना बलात् प्राप्त होता है, वैसे ही प्रारब्ध सुखभोग भी यत्नके बिना प्राप्त होता है। संसारी प्रयत्न करनेमें शरीर, मन और वाणी के परिश्रमकी समीक्षा करे। शरीरके योगक्षेमकी चिन्ता न करे, क्योंकि:—

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः॥ (२।४)

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहा किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥ (२।५)

बड़ी लम्बी-चौड़ी पृथ्वीके विद्यमान रहते शय्याके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। तकिया लगानेके लिए जब स्वतःसिद्ध हाथ है ही तब फिर उपबर्हणका (तकियाका) प्रयोजन ही क्या है। अन्न खाने और पानी पीने के लिए परमेश्वरने हाथोंकी अञ्जलि बना दी है, फिर अनेक प्रकारके पात्रोंकी क्या जरूरत है? दिशा, वल्कलादि वस्त्र जब मौजूद हैं, तब फिर अन्य वस्त्रोंमे क्या मतलब है? यदि अन्य वस्त्र भी अपेक्षित हों, तो इधर-उधर मार्गोंमें फटे-पुराने वस्त्र पड़े रहते हैं, उनसे ही शीतनिवारण कर सकते हैं। भिक्षा सर्वत्र मिल सकती है। अन्ततः परोपकारी वृक्ष आदि पुष्प, फल आदि भिक्षा क्या नहीं दे सकते? क्या नदियाँ सूख गई हैं? निवासके लिए पर्वतोंकी गुफाएँ क्या बन्द हो गई हैं? क्या सर्वेश्वर अपने भक्तोंकी रक्षा नहीं करते? विवेकी विद्वान् क्यों धनके दुर्मदसे मदान्ध पुरुषोंकी शरण लेते हैं? अर्थात् अमोघ महिमशाली सर्वान्तर्यामीकी धारणाको क्यों नहीं करते?

श्रीशुकदेवजीने किसी एकदेशीके मतसे धारणाके विषयका वर्णन राजा परीक्षित्से इस प्रकार भागवतके दूसरे स्कन्धमें किया है—

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥ (२।८)
प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम् ।
लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं
स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलम् ॥
उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये
योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम् ।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्ध-
मम्लानलक्ष्म्या वनमालयाऽञ्चितम् ॥ (२।१०)
विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकै-
र्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः ।
स्निग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलै-
र्विरोचमानाननहासपेशलम् ॥ (२।११)
अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्-
भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं
यावन्मनोधारणयाऽवतिष्ठते ॥ (२।१२)
एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत्
पदादि यावद्धसितं गदाभृतः ।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्
परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा ॥ (२।१३)
यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन्
विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः ।
तावत्स्थवीयः पुरुषस्य रूपं
क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ॥ (२।१३)

हे राजन्, कोई-कोई लोग स्वदेहके भीतर हृदयकाशमें रहनेवाले प्रादेशमात्र (अङ्गुष्ठ और तर्जनीको फैलानेसे जितना प्रदेश होता है उतने बड़े) चतुर्भुज शङ्ख-

चक्र-गदा-पद्मधारी पुरुषका धारणासे स्मरण करते हैं। वह पुरुष है कैसा—प्रसन्न मुख है, कमलपत्रके तुल्य बड़े-बड़े उसके नेत्र हैं, केसरके समान पीले वस्त्र पहने हैं, चमचमाते महारत्नजटित सुवर्णमय बाजुबन्द, सुन्दर उज्ज्वल बड़े-बड़े रत्नयुक्त किरीट और कुण्डल जिनके अंगोंमें शोभित हैं, योगाभ्याससे विकसित अपने हृदय-कमल की कर्णिकारूपी आलयमें योगेश्वर जिनके पादपल्लवको धारण करते हैं, श्रीके सहित भृगुलताके चिह्नवाले, कौस्तुभ रत्नोंकी मालाको गलेमें धारण किये हुए, और कभी भी न कुम्हलानेवाली वनमाला (पञ्चरङ्गी पुष्पोंकी माला) से सुशोभित, मेखला बेशकीमती अङ्गुलीयक, नूपुर, कङ्कणादि भूषणोंसे विभूषित, स्निग्ध, निर्मल तथा कुञ्चित नीलकेशोंसे अत्यन्त शोभायमान सुन्दर मुखवाले, उदारलीलासहित, मन्द-मन्दहासयुक्त ईक्षणसे सुशोभित भौंहोंकी चेष्टासे सूचित किया है अत्यन्त अनुग्रह जिन्होंने, जबतक मन धारणामें टिक सके, तबतक ऐसे चिन्तामय (मनोमय) ईश्वरका ध्यान करे। गदाधारी भगवान्के चरणोंसे लेकर मुसकानयुक्त मुखपर्यन्त प्रत्येक अङ्गोंका अन्तःकरणसे ध्यान करे, जिस-जिस अङ्गमें धारणासे मन टिक जाय, उस-उस विजित अङ्गको छोड़कर अगले-अगले अङ्गमें अपने मनको स्थिर करे साधक जैसे-जैसे मनको भगवान्के अङ्गोंमें धारणा द्वारा स्थिर करेगा वैसे-वैसे उसकी बुद्धि शुद्ध होगी। ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा विराट् हिरण्यगर्भ ईश्वर है न्यून जिससे ऐसे निर्गुण ब्रह्मका नाम परावर है, इस निर्गुण परावर विश्वेश्वरमें जबतक भक्तियोग (परम प्रेम) पैदा न हो, तबतक नित्य नैमित्तिक आवश्यक क्रियाओंके अन्तमें इस स्थूल पुरुषके स्वरूपका पवित्र होकर प्रयत्नपूर्वक स्मरण करे। और जब सर्वान्तर्यामी निर्गुण परब्रह्ममें भक्तियोग पैदा हो जाय याने निर्गुण ब्रह्ममें चित्त रमने लग जाय तब चिन्मात्र निर्गुण ब्रह्मकी धारणा करे। निर्गुण अद्वैतविषयक धारणाका प्रतिपादन भी भागवतके दूसरे स्कन्धके २य अध्यायमें किया है—

मनः स्वबुद्ध्याऽमलया नियम्य
क्षेत्रज्ञ एतां निनयेत्तमात्मनि।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो
लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात्॥ (२।१६)

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः
कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च
न वै विकारो न महान् प्रधानम्॥ (२।१७)

परं पदं वैष्णवमामनन्ति
तद्यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदाः
हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे ॥ (२।१८)

विवेकी धीर पुरुषको चाहिए कि मल-विक्षेपरहित शुद्ध बुद्धिसे मनको नियमित बनाकर इस अपनी बुद्धिको क्षेत्रज्ञ (अन्तःकरणादिरूप क्षेत्रके द्रष्टा) में लीन करे। उस साक्षी त्वम्पदके लक्ष्य प्रत्यगात्माको तत् पदलक्ष्य ब्रह्मसे अभिन्न निश्चय करे, इस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' अपरोक्ष निश्चय द्वारा शान्तिका लाभ करके कर्त्तव्यबुद्धिको त्यागकर विरामको प्राप्त हो। जिस अपने स्वरूपको पाकर यह जीव संसारसे विरामको प्राप्त होता है, उस स्वरूपका वर्णन शुकदेवजी करते हैं—जिसको बड़े बड़े इन्द्रादि देवताओंको भी मारनेवाला काल स्पर्श नहीं कर सकता है। मण्डलाधिपति देवताओंकी तो वहां गति कहांसे हो सकती है, न वहाँ सत्त्व, रज और तमका सम्पर्क है न उसमें कोई विकार (ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय सूक्ष्मभूत व मन) है, न महत्तत्त्व है, न प्रधान है और 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति प्रमाणसे अनात्मवस्तुकी उपेक्षा करनेका स्वभाव है जिन महानुभावोंका, ऐसे महात्मा लोग उस तत्त्वको सर्वश्रेष्ठपद या वैष्णवपद कहते हैं। दौरात्म्य भेदबुद्धिका त्याग करके परमपूज्य सर्वान्तर्यामीका स्मरण हृदयसे पदपदमें करते हुए प्रत्यगभिन्न ब्रह्मभावका अनुभव करते हैं। ये महानुभाव ही सबके सुहृद् हैं।

और योगतत्त्वोपनिषद्में धारणाके विषय पृथ्वी आदि पांच तत्त्व कहे गये हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पञ्चकम् ।
येषु पञ्चसु देवानां धारणा पञ्चधोच्यते ॥ ८४ ॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच भूत हैं। इन पांच महाभूतोंमें पांच देवताओंकी धारणा पांच प्रकारसे कही गई है।

पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते ।
पृथिवी चतुरश्रं च पीतवर्णं लवर्णकम् ॥ ८५ ॥
पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम् ।
ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम् ॥ ८६ ॥
धारयेत् पञ्चघटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात् ।
पृथिवीयोगतो मृत्युर्न भवेदस्य योगिनः ॥ ८७ ॥

पैरके अंगूठेसे लेकर घुटने तक पृथिवीका स्थान कहा गया है। पृथिवीका आकार समरस चार कोनेवाला है। पृथिवीका वर्ण पीला है, 'लं' बीज है। पृथिवी तत्त्वमें प्राणवायुको स्थिर करके 'लं' बीजके सहित चार भुजावाले चतुर्मुख ज्योतिर्मय

ब्रह्माजीकी मूर्त्तिका ध्यान करता हुआ पाँच घड़ी पर्यन्त पृथिवीतत्त्वकी यदि धारणा करे, तो पृथिवीतत्त्वको साधक जीत लेता है पृथ्वीतत्त्वके वशमें हो जानेसे साधककी पृथिवीके सम्बन्धसे मृत्यु नहीं होती है।

आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्त्तितम्।
अपोऽर्धचन्द्रं शुक्लं च वं बीजं परिकीर्त्तितम्॥ ८८॥
वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम्।
स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम्॥ ८९॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम्।
धारयेत् पञ्च घटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ९०॥
ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते।

घुटनोंसे लेकर गुदापर्यन्त जलतत्त्वका स्थान कहा गया है। जलका आकार अर्धचन्द्रके समान है, वर्ण शुक्ल है और 'वं' बीज कहा गया है। जलतत्त्वमें * प्राण वायुको स्थिर करके 'वं' बीजके सहित चार भुजावाले किरीट और पीतवस्त्र-वाले शुद्ध स्फटिकके तुल्य अच्युत नारायण देवकी पाँच घड़ी तक धारणा करे, तो साधक सब पापोंसे मुक्त होता है और जलतत्त्वके वशमें हो जानेसे जलसे भय नहीं रहता है और साधककी जलसे मृत्यु नहीं होती है।

आपायोर्हृदयान्तं च वह्निस्थानं प्रकीर्तितम्॥ ९१॥
वह्निस्त्रिकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्भवम्।
वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमुज्ज्वलम्॥ ९२॥
त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसन्निभम्।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन्॥ ९३॥
धारयेत् पञ्च घटिका वह्निनाऽसौ न दह्यते।
न दह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्निकुण्डके॥ ९४॥

गुदासे लेकर हृदयपर्यन्त अग्निका स्थान कहा गया है। अग्निका आकार त्रिकोण है, वर्ण रक्त है और 'रं' बीज है। अग्नितत्त्वमें प्राणवायुको स्थिर करके अर्थात् मनको स्थिर करके 'रं' बीजके सहित त्रिनेत्र, वरदाता, मध्याह्न सूर्यके तुल्य सम्पूर्ण अंगोंमें भस्म धारण किये हुए अग्नितत्त्वको पाँच घड़ी पर्यन्त यदि धारण करे तो साधक वह्निसे नहीं जलता है, अग्नि उसको नहीं जलाती है। इच्छापूर्वक अग्निमण्डलमें प्रवेश करनेपर भी इस साधकके शरीरको अग्नि नहीं जलाती है।

---

* 'जिस जिस वस्तुमें मन स्थिर होता है' उस उस वस्तुमें प्राण भी स्थिर होता है' यह नियम है, इसलिए पृथिवीतत्त्वमें मन स्थिर करनेपर पृथिवीतत्त्वमें प्राण भी स्थिर हो जायगा।

आहृदयाद्भ्रुवोर्मध्ये वायुस्थानं प्रकीर्तितम्।
वायुः षट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षरभासुरम् ॥९५॥
मारुतं मरुतां स्थाने यकाराक्षरभासुरम्।
धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम् ॥९६॥
धारयेत् पञ्च घटिका वायुवद् व्योमगो भवेत्।
मरणं न तु वायोस्तु भयं भवति योगिनः ॥९७॥

हृदयसे लेकर भ्रूमध्यपर्यन्त वायुका स्थान कहा गया है। वायुका आकार षट्कोण है, कृष्ण वर्ण है और 'यं' बीज है। वायुतत्त्वमें प्राणको स्थिर करे, प्रकाशमान 'यं' बीजके सहित सर्वतोमुख सर्वज्ञ ईश्वरकी वायुतत्त्वमें पाँच घड़ीपर्यन्त यदि धारणा करे, तो साधक वायुकी तरह आकाशमें अप्रतिहत गतिवाला होता है, इस योगीको वायुसे भय नहीं होता है एवं वायुसे नहीं मरता है।

आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते।
व्योमवृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षरभासुरम् ॥९८॥
आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शङ्करम्।
बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम् ॥९९॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं धृतबालेन्दुमौलिनम्।
पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम् ॥१००॥
सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम्।
उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम् ॥१०१॥
आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद् ध्रुवम्।
यत्र कुत्र स्थितो वाऽपि सुखमत्यन्तमश्नुते ॥१०२॥

भ्रूमध्यसे लेकर मूर्धापर्यन्त आकाशका स्थान कहा गया है। आकाशका आकार गोल है, रंग धूमके समान है और 'हं' बीज है। आकाशतत्त्वमें प्राणवायुको स्थिर करके 'हं' बीजाक्षरके ऊपर कल्याण करनेवाले अखण्ड मण्डलाकार गगनाकार शुद्ध स्फटिकके तुल्य बालचन्द्रमाको सिरमें धारण किये हुए पाँच मुखवाले सुन्दर दश भुजा तथा तीन नेत्रवाले सम्पूर्ण आयुधोंको धारण किये हुए सर्वभूषणोंसे भूषित उमा भगवती प्रकृति है आधी देह जिनकी, ऐसे वरदाता सब कारणोंके कारण सदाशिव महादेवके सहित आकाश तत्त्वकी धारणा करे। इस आकाश तत्त्वकी धारणासे साधककी आकाशमें अप्रतिहत गति होती है, यह ध्रुव सत्य है। जहाँ कहीं भी यह रहे वहाँ ही अत्यन्त सुखका भागी होता है।

एवं च धारणाः पञ्च कुर्याद् योगी विचक्षणः।
ततो दृढशरीरः स्यात् मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥१०३॥

ब्रह्मणः प्रलयेनापि * न सीदति महामतिः ॥१०३॥

इस प्रकार पूर्वोक्त रीतिसे पृथिवी आदि पाँच तत्त्वोंमें धारणाको विचक्षण योगी करे। इन धारणाओंके प्रभावसे योगीका शरीर दृढ़ हो जाता है। उस योगीकी मृत्यु नहीं होती। ब्रह्माकी आयु समाप्त हो जानेपर जो यावत् ब्रह्माण्डका प्राकृतिक प्रलय होता है। उसमें भी यह महाविद्वान् योगी दुःखी नहीं होता है।

अमृतनादोपनिषद्में धारणाका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्।
धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता ॥ १५ ॥

अर्थात् मन आदि प्रपञ्चको सङ्कल्पमात्र चिन्तन करके सङ्कल्पको आत्माका विवर्त होनेसे आत्मामें विलीन करे तथा 'शुद्धात्मा ही केवल है और कुछ नहीं है, ऐसा जो आत्म-विषयक निश्चय है इसका नाम सिद्धान्तमें धारणा कहा गया है।

और तेजोबिन्दूपनिषत्में भी धारणाके स्वरूपका वर्णन है—

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥ १।३५ ॥

जहाँ जहाँ मन जावे वहाँ वहाँ ब्रह्मदृष्टि करे, इस प्रकार जो मनकी स्थिति इसका नाम परा धारणा है।

और त्रिशिखी ब्राह्मणोपनिषद्में—आन्तरतत्त्वमें चित्तकी निश्चलता धारणा कही गई है—

चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः ॥ ३१ ॥

योगचूड़ामणि उपनिषद्में धारणाका इस प्रकार कथन है—

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥१११॥

पूरक, कुम्भक और रेचक इन तीनोंका नाम एक प्राणायाम है, ऐसे १२ प्राणायामोंका नाम एक प्रत्याहार कहा गया है, ऐसे बारह प्रत्याहार अर्थात् एक सौ चौआलीस प्राणायामोंसे एक धारणा होती है।

और शाण्डिल्योपनिषत्में धारणाका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

अथ धारणा सा त्रिविधा आत्मनि मनोधारणम्, दहराकाशे बाह्याकाशधारणम्, पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेषु पञ्चमूर्तिधारणं चेति ॥ ९ ॥

---

* प्रलय चार हैं—नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और महाप्रलय। अस्मदादिसुषुप्ति नित्य प्रलय है। ब्रह्माकी सुषुप्ति नैमित्तिक प्रलय है और ब्रह्माकी आयु समाप्त होनेपर जो ब्रह्माण्डका प्रलय है वह प्राकृतिक प्रलय है। ब्रह्मसाक्षात्कारसे होनेवाला अज्ञान तत्कार्यका लय महाप्रलय है।

अब धारणाके स्वरूपको कहते हैं—धारणा तीन प्रकारकी है—१–आत्मामें मनकी धारणा करना, २–शरीरके भीतर हृदयकमलगत जो दहराकाश (सूक्ष्म चिदाकाश) है, उस प्रत्यगात्मरूप चिदाकाशमें बाह्य भौतिकाकाशके अध्यस्तरूपसे निश्चयकी धारणा करना और ३–पृथिवीतत्त्वमें चतुर्मुख ब्रह्माकी, जलतत्त्वमें चतुर्मुख नारायणकी, अग्नितत्त्वमें त्रिनेत्र रुद्रकी, वायुतत्त्वमें विराट् पुरुषकी और आकाशतत्त्वमें निर्गुण गगनाकार महादेव सदाशिवकी अथवा सगुण ईश्वरकी धारणा करे। यह पाँच भूतोंमें पंचमूर्त्तिकी धारणा योगतत्त्वोपनिषत् (८४) के अनुसार लिखी गई है।

और जाबालदर्शनमें (खण्ड ८) धारणाका स्वरूप और विषय इस प्रकार कहा गया है—

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुव्रत!।
देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशन्तु धारयेत्॥ १॥
प्राणे बाह्यानिलं तद्वत् ज्वलने चाग्निमौदरे।
तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने!॥ २॥
हयवरलकाराख्यं मन्त्रमुच्चारयेत् क्रमात्।
धारणैषा परा प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी॥ ३॥

(क) अर्थात् महायोगी दत्तात्रेय महाराज साङ्कृति मुनिको उपदेश करते हैं—हे उत्तम व्रतवाले मुनिजी! अब मैं आपसे पाँच प्रकारसे धारणाका स्वरूप कहता हूँ—मुमुक्षु सावधानचित्त होकर अपने देहमें जो आकाशका अंश है, उसमें बाह्याकाशकी धारणा करे अर्थात् देहगत आकाशके अंशको बाह्याकाशमें मिला दे, बाह्याकाशसे अभिन्न समझे; और देहमें प्राणरूप जो वायुका अंश है उसको बाह्य वायुसे अभिन्न समझे, बाह्य वायुमें मिला दे और अग्निके अंशको बाह्य अग्निमें मिला दे—बाह्य अग्निसे अभिन्न निश्चय करे तथा जलके अंशको बाह्य जलमें मिला दे अर्थात् बाह्य जलसे अभिन्न चिन्तन करे। और हं यं वं रं लं इन मन्त्रोंका क्रमसे उच्चारण करे। इसी तरह सूक्ष्म देहके आकाशादि भागोंको भी बाह्य आकाशादिमें मिला दे अर्थात् आकाशादिसे अभिन्न निश्चय करे। यह सब पापोंसे मुक्त करनेवाली परा धारणा कही गई है।

जान्वन्तं पृथिवी ह्यंशो ह्यपां पाय्वन्तमुच्यते।
हृदयान्तस्तथाग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः॥४॥
आकाशांशस्तथा प्राज्ञः मूर्धांशः परिकीर्तितः।
ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा॥५॥
अग्न्यंशे च तथेशानमीश्वरं चाऽनिलांशके।
आकाशांशे महाप्राज्ञः धारयेत्तु सदाशिवम्॥६॥

अथवा हे महाबुद्धिमान् साङ्कृते ! देहमें घुटने पर्यन्त पृथिवीका अंश है और घुटनेसे लेकर गुदापर्यन्त जलका भाग है। गुदासे लेकर हृदयपर्यन्त अग्निका अंश है और हृदयसे लेकर भृकुटिके मध्यपर्यन्त वायुका अंश है और भृकुटिसे ऊपर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त आकाशका भाग है। पृथिवीके भागमें ब्रह्माजीकी धारणा करे, जलके अंशमें विष्णुकी धारणा करे, अग्निके अंशमें महेश्वरकी धारणा करे वायुके भागमें ईश्वरकी धारणा करे और आकाशमें शुद्ध चिद्रूप सदाशिव की धारणा करे।

अथवा तव वक्ष्यामि धारणा मुनिपुङ्गव !।
पुरुषे सर्वशास्तारं बोधानन्दमयं शिवम् ॥७॥
धारयेद् बुद्धिमान् नित्यं सर्वपापविशुद्धये।

अथवा हे मुनिश्रेष्ठ ! अब मैं तुम्हारे लिए सर्वोत्तम धारणाको कहता हूँ—श्रवण करो, बुद्धिमान् जिज्ञासुको चाहिए कि सब पापोंकी विशुद्धिके लिए स्वदेह-साक्षी प्रत्यगात्मामें सर्वान्तर्यामी चिदानन्दस्वरूप शिवकी धारणा करे अर्थात् शिवको साक्षी प्रत्यगात्मासे अभिन्न समझे।

ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे ॥८॥
सर्वकारणमव्यक्तमनिरूप्यमचेतनम्।
साक्षादात्मनि सम्पूर्णे धारयेत् प्रणवेन तु ॥

अथवा ब्रह्म आदि निखिल कार्यप्रपञ्चका अपने-अपने कारणमें लय करके सर्वकारण अनिर्वचनीय अव्यक्त जड़ मायाको साक्षादात्मामें धारण करे अर्थात् निखिल मायादि प्रपञ्चको साक्षी आत्मामें कल्पित समझे।

इन्द्रियाणि समाहृत्य मनसात्मनि योजयेत् ॥९॥

अथवा इन्द्रिय तथा शब्दादि विषयरूप निखिल प्रपञ्चका मनसे आत्मामें लयचिन्तन करे।



दुःखका गौरव

(लेखक—प्रिंसिपल पं० श्रीचण्डीप्रसाद शुक्लजी)

इस संसारमें यदि दुःख न होता, तो कोई भी मनुष्य शास्त्रकी जिज्ञासा न करता अर्थात् श्रीगुरुदेवके शरणागत होकर अद्वैत ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंका तात्पर्यनिर्णयरूप श्रवण न करता। और चित्तकी शुद्धिके लिए नित्य-नैमित्तिक श्रौत और स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान तथा उसकी एकाग्रताके लिए भगवदुपासना भी न करता। दुःखके रहनेपर भी यदि वह हेय न होता, अर्थात् सुखके समान प्रिय होता तथा प्रिय न होनेपर भी यदि उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, अर्थात् दुःख नित्य होता या अनित्य होनेपर भी उसकी निवृत्तिका कोई उपाय ही नहीं होता अथवा शास्त्रप्रतिपाद्य उपाय उसका निवर्तक न होता या शास्त्रप्रतिपाद्य उपायके होनेपर यदि उससे अन्य कोई सरल उपाय उसका निवर्तक होता, तो फिर श्री गुरुदेवके चरणकमलकी शरण लेनेकी किसीको आवश्यकता न पड़ती। परन्तु ऐसी बात नहीं है, दुःख हैं और वे एक-दो नहीं, किन्तु अनन्त हैं। सामान्यरूपसे दुःखकी तीन राशियाँ हैं अर्थात् सभी दुःख तीन भागोंमें विभक्त हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। शारीर और मानस भेदसे आध्यात्मिक दुःख दो प्रकारके हैं—ज्वर, शिरोवेदना आदि शारीर दुःख हैं और काम, क्रोध आदि मानस दुःख हैं। शरीरके भीतरी निमित्तोंसे साध्य होनेके कारण ये सभी आध्यात्मिक कहे जाते हैं। चोर, डाकू, व्याघ्र, बिच्छू, सर्प आदिके द्वारा जो दुःख उत्पन्न होते हैं वे आधिभौतिक दुःख कहे गये हैं और अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अग्नि और वायु द्वारा जो दुःख उत्पन्न होते हैं, वे आधिदैविक हैं।

दुःख सुखके तुल्य प्रिय नहीं हैं। वे सभी रजोगुणके परिणाम और अन्तःकरणके धर्म हैं। उनसे आत्माका एक प्रतिकूल सम्बन्ध होता है, इसीसे उनकी निवृत्तिके लिए पुरुष सदा शास्त्रजिज्ञासामें प्रयत्नशील रहता है। इन दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिए ही वह अध्यात्मशास्त्रका—वेदान्तका—श्रवण, मनन और निदिध्यासन करता है, क्योंकि शास्त्रप्रतिपाद्य उपायसे—श्रवण, मनन और निदिध्यासन-

से—उत्पन्न आत्मसाक्षात्कारसे अन्य उपाय दुःखनिवर्तक नहीं है। इसीसे उनकी निवृत्तिके लिए प्रत्येक पुरुष शास्त्रकी जिज्ञासा करता है ।

इस संसारमें काम—लौकिक सुख—और अर्थ—द्रव्य—ये दो ही पुरुषार्थ हैं—ऐसा माननेवाला चार्वाक प्रश्न करता है कि दुःखोंकी निवृत्ति ही पुरुषार्थ है, किन्तु अध्यात्मशास्त्रप्रतिपाद्य उपायसे अन्य उपाय भी उनके निवर्त्तक हैं। जैसे मनोज्ञ वनिता, पेय, भोज्य, गन्ध, नृत्य, गीत आदिके उपभोगसे मानस दुःखकी—इच्छा आदि की—निवृत्ति हो सकती है। यद्यपि मनोज्ञवनिता आदि सुखविशेषके जनक हैं, तो भी सुखोपभोग होनेपर उसकी इच्छा (काम) स्वयं निवृत्त हो जाती है, अतः काम (लौकिक सुख) और उसके साधक उपकरणके सम्पादक अर्थ (धन) ये दो ही पुरुषार्थ हैं। और इच्छाके प्रतिघात होनेपर भी क्रोध होता है। जब पुष्कल सुख सामग्रीका सम्पादक धन होता है, तब इच्छाके चरितार्थ होनेसे उसके प्रतिघातसे होनेवाले क्रोध, ईर्ष्या, भय आदि दुःख उत्पन्न ही नहीं होते तथा शारीर दुःखकी—ज्वर, शिरोवेदना आदिकी—निवृत्तिके लिए वैद्यवरोंसे उपदिष्ट औषधप्रयोग चिकित्साशास्त्रमें अनेक भरे पड़े हैं, उनके सेवनसे ज्वरादि रोग अवश्य ही उच्छिन्न हो सकते हैं। तथा आधिभौतिक दुःखकी निवृत्तिके लिए अनेक उपाय हैं, जैसे नीतिशास्त्रमें कुशलता और निर्बाध देशमें आवास आदि। आधिदैविक दुःखकी निवृत्तिके लिए मणि, मन्त्र, औषध प्रयोग आदि अनेक उपाय अथर्ववेदमें कहे गये हैं। जब दुःखनिवृत्तिके लिए उत्तमसे उत्तम लौकिक सुन्दर उपाय विद्यमान हैं, तब उन्हें छोड़कर अति कठिन अनेक जन्मके आयाससे साध्य अध्यात्मशास्त्रप्रतिपाद्य आत्मसाक्षात्काररूप दुःखनिवृत्तिके उपायमें किसीकी प्रवृत्ति भला कैसे हो सकती है? घरके कोनेमें यदि शहद मिल जाय, तो फिर उसके लिए पर्वतपर जानेकी क्या आवश्यकता है? इष्ट प्रयोजन यदि बिना परिश्रमके—अनायास ही सिद्ध हो जाय, तो उसके लिए अति यत्न कौन करेगा? कहनेका सारांश यह है कि अर्थ और काम ये दो ही पुरुषार्थ हैं। इन्हींकी प्राप्तिके लिए मनुष्यको यत्न करना चाहिए। मोक्ष इनसे पृथक् कोई पदार्थ नहीं है, अतः उसके लिए उपायानुष्ठान करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं दीखती। और उसके उपायका प्रतिपादन करनेवाला वेदान्तशास्त्र भी व्यर्थ ही है। उसका अध्ययन करना भी एक तरहसे अपनी मूर्खता प्रकट करना है।

इस प्रश्नका उत्तर यों है—लौकिक मनोज्ञवनितासेवन आदि उपायके

अनुष्ठानसे कामकी निवृत्ति नहीं होती है, बल्कि उसकी अधिक वृद्धि होती है।

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥'

विषयोंके भोगसे कामकी शान्ति नहीं होती, किन्तु हविषसे अग्निकी नाईं अधिक वृद्धि ही होती है; अतः विषयसेवन कामका निवर्तक नहीं है। और कामके उपाय धन आदि भी त्रिविधि दुःखके निवर्तक नहीं हैं, किन्तु स्वयं दुःखरूप ही हैं।

'अर्थानामर्जने दुःखं तथैव परिपालने।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः॥'

धनके अर्जन, पालन, नाश और व्ययमें सर्वत्र दुःख ही दुःख है, अतः दुःखजनक धनको धिक्कार है। शारीर दुःख ज्वर आदि भी आयुर्वेदोक्त औषधियोंके सेवनसे अवश्य निवृत्त हों, यह बात नहीं है। देखा जाता है कि औषधप्रयोग करनेपर भी वे सर्वथा निवृत्त नहीं होते, प्रत्युत वैद्यों द्वारा ठीक-ठीक निदान न होनेसे बढ़ भी जाते हैं। एक बार निवृत्त हुआ रोग पुनः उत्पन्न हो जाता है। शारीरक रोगोंसे सर्वथा छुटकारा पाना बिलकुल असम्भव ही है। यही बात आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखस्थलोंमें भी लागू है। निष्कर्ष यह है कि लौकिक उपायोंसे दुःख निवृत्त नहीं होते और यदि कहीं निवृत्त हो भी जाते हैं, तो फिर उत्पन्न हो जाते हैं, अतः इन लौकिक उपायोंसे अवश्य ही सदाके लिए दुःख निवृत्त नहीं होते, इसलिए इन दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिए अध्यात्मशास्त्रकी जिज्ञासा अवश्य करनी चाहिए।

अर्थ, काम और धर्म त्रिविध पुरुषार्थवादी मीमांसकोंका कहना है कि लौकिक उपाय आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्तिके भले ही कारण न हों, परन्तु वैदिक दर्श-पौर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि कर्मकलाप दुःखत्रयकी अत्यन्त निवृत्ति अवश्य कर सकते हैं। श्रुति कहती है—'स्वर्गकामो यजेत'। स्वर्ग भी तो

'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥'

(जो सुख दुःखसे मिला न हो और जिसके आगे दुःख न हो, तथा जो रुचिके अनुकूल हो वह सुख स्वर्गपदवाच्य है)

इस वचनके अनुसार दुःखका विरोधी सुखविशेष ही है। वह अपनी सत्तासे समूल दुःखत्रयका आत्यन्तिक नाश कर सकता है और वह सुख क्षयी

भी नहीं है, क्योंकि श्रुति कहती है कि 'अपाम सोमममृता अभूम' (हम सोमयागमें हुतशेष सोमरसका पान करेंगे और अमृत हो जायंगे)। इसलिए मुहूर्त्त, याम, दिन, पक्ष, मास और वर्षसे साध्य कर्मकलाप जो वैदिक उपाय हैं वे दुःखत्रयके आत्यन्तिक निवर्तक अवश्य हैं। और वे वैदिक उपाय अनेक जन्मके आयाससे साध्य दुःखके निवर्तक अध्यात्मज्ञानरूप उपायसे सरल हैं। जब कि उन्हींसे दुःखत्रयकी निवृत्ति हो सकती है, तब फिर अध्यात्मशास्त्रकी जिज्ञासा क्यों की जाय? वह बिलकुल व्यर्थ है। उनके मतमें धर्म, अर्थ और काम ये तीन परम पुरुषार्थ हैं। मोक्ष न चतुर्थ पुरुषार्थ है और न आत्मसाक्षात्कार उसका उपाय। एवं वेदान्तशास्त्र भी कोई स्वतन्त्र शास्त्र नहीं है, बल्कि वह भी अर्थवादके तुल्य कर्मकाण्डका एक अङ्गमात्र है।

उनका यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि वैदिक कर्मकलापसे दुःखकी निवृत्ति होती है, यह ठीक है, परन्तु यह कोई निश्चय नहीं है कि इन उपायोंसे अवश्य ही दुःखकी निवृत्ति हो, संभव है कि इनसे भी दृष्ट उपायों (विविध भोज्य, पेय प्रभृति) के तुल्य दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति न हो। सम्भव है कि अङ्गवैकल्यसे याग करनेपर भी उसका फल स्वर्ग न मिल सके एवं उसका फल स्वर्ग नित्य ही है, यह भी कहना सर्वथा असङ्गत ही दीखता है, क्योंकि 'तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (जैसे इस लोकमें कर्मसे जन्य फल कृष्यादि नष्ट हो जाता है, वैसे ही परलोकमें पुण्यसे जन्य स्वर्ग फल भी नष्ट हो जाता है) इस श्रुतिसे प्रतीत होता है कि स्वर्गादि सुख भी अनित्य ही है। 'अपाम सोमम्' इस श्रुतिसे बोधित अमृतत्व भी आत्यन्तिक अमृतत्व नहीं है, अन्यथा 'तद्यथा' इस श्रुतिसे विरोध हो जायगा, किन्तु कल्पपर्यन्त स्थायित्वरूप अमृतत्व है, क्योंकि 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इस वचनसे ऐसा ही प्राप्त होता है। दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप मोक्ष तो वेदान्तशास्त्रकी जिज्ञासासे ही होता है अर्थात् वेदान्तका अद्वैत ब्रह्ममें तात्पर्य-निर्णयरूप श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे जन्य ब्रह्मात्मैक्य-साक्षात्कारसे ही होता है। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' (कर्म, प्रजा और धनसे नहीं, केवल ज्ञानसे [ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारसे] ही प्रधान ऋषियोंने अमृतत्वकी (मोक्षकी) प्राप्ति की है) इस श्रुतिसे यही सिद्ध होता है कि त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिरूप मोक्षके लिए वेदान्तकी जिज्ञासा अवश्य

करनी चाहिए। मतलब यह निकला कि हम जो अध्ययन करते हैं, जप, तप और भजन करते हैं तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हैं, वे सबके-सब एक उसी दुःखदेवकी कृपा है, उसीका गौरव, प्रभाव और प्रतिष्ठा है। यदि दुःख इस संसारमें न होता, तो किसकी निवृत्तिके लिए हम रातों-दिन जी-तोड़कर अथक परिश्रम करते? आप अपने दुःखसे या अकिञ्चनभावसे कभी मत घबड़ाइए, बल्कि उसका आदर कीजिए, उससे लाभ उठाइए। सुग्रीव, विभीषण, द्रौपदी, सुदामा आदि दुःखी थे, इसीसे वे भगवत्कृपाके भाजन हुए, क्या किसी धनी सुखीको आपने भगवान्का कृपाभाजन बनते देखा या सुना है?

अब इस लेखको 'बुद्धिमानोंके लिए इशारा काफी है' यह समझकर यहीं समाप्त करते हैं। हाँ, यह कह देना प्रकृतमें अनुपयुक्त नहीं है कि मोक्ष नित्य सुख या दुःखनिवृत्तिरूप है। वेदान्त, सांख्य आदि शास्त्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इनको ही परम पुरुषार्थ मानते हैं अर्थात् इनके मतमें चार पुरुषार्थ हैं। काम लौकिक सुखको कहते हैं। वे दो प्रकारके हैं—दिव्य (स्वर्ग-सुख) और अदिव्य (भूलोक-सुख)। वे दोनों ही उपेय—साध्य हैं। अर्थ और धर्म साधन हैं। इनमें मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, इससे उसीको जीवनका उद्देश्य समझना चाहिए और उसीकी सिद्धिके लिए धर्म भी उपादेय है। धर्मकी सिद्धिके लिए अर्थ उपादेय है। एवं 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' इस नियमके अनुसार शरीरका साधन होनेसे काम भी उपादेय ही है। यही बात श्रीमद्भागवतमें कही गई है—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥१।२।९॥

धर्म अपवर्गके लिए कर्त्तव्य है न कि धनके लिए। धनसञ्चय धर्मके लिए कर्त्तव्य है न कि विषयसुखके लिए। विषयसेवन जीवनके लिए ही है, इन्द्रिय-लौल्यकी परितृप्तिके लिए नहीं है और जीवन भी तत्त्वकी—ब्रह्मकी—जिज्ञासाके लिए है, नश्वर धनके लिए नहीं है, क्योंकि धन तो प्रारब्ध कर्मसे मिलता है। इस प्रारब्धकर्मजन्य धनके विषयमें हृदयमें चुभनेवाली निम्न लिखित उक्तिको कभी न भूलना चाहिए—

सत्यं न मे विभवनाशकृताऽस्ति चिन्ता,
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके दार्शनिक विचार

(ले०—साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्द जी त्रिपाठी)

जिन श्रीगोस्वामीजीकी रचनाकी ख्याति दिगन्तव्यापिनी है, जिनकी वाणी लाखों मनुष्योंके लिये धर्मशास्त्र हो रही है, जिनकी चौपाइयोंका प्रमाण हिन्दी-भाषा-भाषियोंके ओठों पर रहता है, जिनके निर्मित ग्रन्थोंका प्रचार सभी संस्कृत और हिन्दी पुस्तकोंसे अधिक है, उन श्रीगोस्वामीजीके दार्शनिक विचार क्या थे, इस विषयके निर्णयमें कौतूहल होना स्वाभाविक है।

निर्णयके लिए इतना ही यथेष्ट नहीं है कि अमुक सिद्धान्त गोस्वामीजीका नहीं है, इससे तो वादविशेषके प्रति द्वेष ध्वनित होता है। निष्पक्ष निर्णेताके लिए यही उचित है कि वह इस बातका पता लगावे कि उनका सिद्धान्त क्या था? और यह काम विभिन्न वादोंके थोड़ा-बहुत परिचयके बिना नहीं हो सकता है।

वेदचरणाश्रित आस्तिक समाजमें, इस समय प्रधानतः पाँच * वाद प्रचलित हैं—(१) अद्वैतवाद, (२) विशिष्टाद्वैतवाद, (३) द्वैताद्वैतवाद, (४) द्वैतवाद और (५) शुद्धाद्वैतवाद। इनसे अतिरिक्त और वाद भी हैं, किन्तु उन वादोंका प्रचार कम है और वे इन्हींसे मिलते जुलते हैं। उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता ही इन पाँचोंके आधार हैं, फिर भी ये एक दूसरेसे मेल नहीं खाते। ब्रह्म, जीव और जगत्के विषयमें इनके सिद्धान्त अलग-अलग हैं, और तदनुसार ही ये श्रुतियोंकी व्याख्या करते हैं।

इनमें समानता इतनी ही है कि सभीने वेदोंको प्रमाण और ब्रह्मको विभु माना है, ब्रह्मसाक्षात्कार सभीको इष्ट है, सभी भक्तिका आदर करते हैं और सभी अवतारवादी हैं। अद्वैतवादको छोड़कर सभीने जीवको अणु और जगत्को सत्य माना है। अद्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत वादमें ब्रह्मकी निर्विशेषता भी स्वीकृत है। पर विशिष्टाद्वैत और द्वैत वाद निर्विशेष स्थितिको नितान्त असम्भव मानते हैं।

---

*अद्वैतवादके प्रधान प्रचारक भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य्यके विषयमें आधुनिक इतिहासज्ञोंका मत है कि वे नवीं शताब्दीमें आविर्भूत हुए थे, विशिष्टाद्वैतके प्रचारक भगवान् श्रीरामानुजाचार्य्य ग्यारहवीं शताब्दीमें हुए थे, द्वैताद्वैतमतके प्रचारक भगवान् निम्बादित्य तेरहवीं शताब्दीके आदिमें हुए थे, द्वैतमतके प्रचारक भगवान् मध्वाचार्य्य तेरहवीं शताब्दीके अन्तमें हुए थे और शुद्धाद्वैतके प्रचारक भगवान् वल्लभ सोलहवीं शताब्दीमें हुए थे।

विशिष्टाद्वैतवादका मत है कि जीव, जगत् और ईश्वर ये तीनों तत्त्व यद्यपि भिन्न हैं, तथापि एक दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकते। जीव (चित्) और जगत् (अचित्) दोनों ईश्वरके शरीर हैं। अतः चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक है, उसीको ब्रह्म कहते हैं। सूक्ष्म चिदचित्का परिणाम ही स्थूलचित्-अचित् अर्थात् जीव और जगत् है। उपासना द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर अज्ञान दूर होता है। मुक्त जीव दास-रूपसे श्री भूलीलादेवियोंके साथ वैकुण्ठमें नारायणकी सेवा किया करता है।

द्वैताद्वैतवादका मत है कि यद्यपि जीव, जगत् और ईश्वर तीनों भिन्न हैं, तथापि जीव और जगत्का व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वरकी इच्छापर निर्भर है, स्वतन्त्र नहीं है और परमेश्वरमें ही जीव और जगत्के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। ब्रह्मके चार रूप हैं-(१) पर अमूर्त-परम अक्षर तत्त्व है, (२) अपर अमूर्त-ईश्वर, सर्वद्रष्टा सर्वशक्तियोंका उद्गम स्थान है, (३) पर मूर्त-हिरण्यगर्भ, सब व्यक्तरूपोंका मूल स्रोत है और (४) अपर मूर्त-अत्यन्त भिन्नरूप जीव हैं। इस प्रकार ब्रह्म द्वैत और अद्वैत दोनों है। मुक्तावस्थामें जीव अपना और जगत्का ब्रह्मके साथ अभेद अनुभव करता है। मुक्तिका साधन भक्ति है।

द्वैतमतमें मुक्तिके लिए पञ्च प्रभेदका ज्ञान आवश्यक है-(१) भगवान्का जीवसे पूर्णरूपसे पार्थक्य, (२) भगवान्का जगत्से पूर्णरूपसे पार्थक्य, (३) एक जीवका दूसरेसे पार्थक्य, (४) जीवका जगत्से पार्थक्य और (५) जड़ जगत्के कार्य्यरूपमें परिणत होनेपर उसके एक अंशका दूसरेसे पार्थक्य। त्याग, भक्ति और ईश्वरकी प्रत्यक्ष अनुभूति साधन हैं, वैकुण्ठप्राप्ति मोक्ष है। भक्ति हो जानेपर कर्म करना या न करना बराबर है।

शुद्धाद्वैतमतमें केवल प्रीतिमार्ग ही सर्वोत्कृष्ट है। ब्रह्मविद्याका अधिकार द्विजातिको ही है, ब्रह्म शास्त्रैकगम्य है, वह विरुद्ध धर्मोंका आश्रय है, निर्विशेष है और वही अखिलरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण है। परमात्मा और जीवात्मा दोनों शुद्ध हैं तथा चिनगारी और अग्निकी भाँति वे एक हैं। गोलोकमें गोपीभाव प्राप्त करके नित्य रासोत्सवमें रसावेशके साथ पतिभावसे भगवान्की सेवा करना मोक्ष है।

अद्वैतमत 'ब्रह्म * सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः' मानता हुआ भी उपर्युक्त मतोंका विरोधी नहीं है। व्यवहारदशामें वह भी जगत्का सत्य होना, ब्रह्मका सगुण होना, जीवका अंश अथवा दास होना, भक्तिसे परम कल्याण होना, सालोक्य, सामीप्यादि मुक्ति प्राप्त होना मानता है, पर यह सब तभी तक जब तक कि ब्रह्मसाक्षात्कार न हो।

ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर जगत्का बाध हो जाता है, अतः वह मिथ्या है।

---

* ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, अन्य नहीं है।

जिसका बाध ज्ञानसे हो, वह वस्तु अवश्य मिथ्या है। तत्त्वज्ञानकी अवस्थामें ब्रह्म और जीवका ऐक्य है, उसी अवस्थाको पारमार्थिक सत्य कहते हैं।

देशतः, कालतः और वस्तुतः जिसका व्यभिचार न हो, उसे सत्य कहते हैं। अतः ब्रह्म ही सत्य है, वही सत्यका सत्य अथवा पारमार्थिक सत्य है, उससे अन्य सभी कुछ मिथ्या है, परन्तु यह मिथ्या ही हम लोगोंका सुपरिचित सत्य है, इसीलिए व्यावहारिक सत्य कहा जाता है।

मिथ्या होनेसे जगत् ब्रह्मका विवर्त्त है। जिस भाँति रज्जुमें सर्प, शुक्तिकामें रजत, रविकिरणमें नीर और अपनेमें स्वप्नजगत्‌की प्रतीति होती है, उसी भाँति अनादि अविद्या द्वारा ब्रह्ममें जगत्‌की प्रतीति होती है, अधिष्ठानके ज्ञानसे उसका बाध होता है, जीवका ब्रह्ममें लय होता है। यही कैवल्यमुक्ति है। धर्माचरणसे वैराग्य होता है, वैराग्यसे योग होता है, योगसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे मुक्ति होती है।

भक्ति भी परम्परासे कैवल्यसाधन है। भक्तिसे ईश्वरकी कृपा, उनकी कृपासे ज्ञान और ज्ञानसे कैवल्यमुक्ति होती है। यह सुगम मार्ग है। अद्वैतवादमें भक्ति स्वतन्त्र पुरुषार्थरूपसे भी आदृत है। स्वयं भगवान् शङ्कराचार्य्य प्रबोधसुधाकरमें कहते हैं—

कामोपासनयाऽर्थयन्त्यनुदिनं किञ्चित्फलं स्वेप्सितम्,
केचित्स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनाम्,
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥

अर्थ—कुछ लोग तो सकाम उपासना द्वारा प्रतिदिन किसी ईप्सित फलकी वाञ्छा करते हैं और कोई योग, यज्ञादिसे स्वर्ग-अपवर्ग चाहते हैं, हम लोग तो यदुनन्दनके चरणकमलोंके ध्यानके चाहनेवाले हैं, हम लोगोंको लोकसे, दमसे, राजासे, स्वर्ग और मोक्षसे क्या काम?

इस भाँति पाँचों वादोंके स्वरूपको सामने रखकर, अब यह पता लगाना है कि गोस्वामीजीके दार्शनिक विचार क्या थे? हम यह विचार करने नहीं बैठे हैं कि कौनसा वाद ठीक है और न ऐसा करना उचित है, क्योंकि

'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव*॥'

ग्रन्थकारके सिद्धान्तका पता उसके ग्रन्थोंसे लग सकता है। गोस्वामीजीके ग्रन्थोंमें सर्वलक्षणसम्पन्न श्रीरामचरितमानस है और उसीका प्रचार भी अधिक है, परन्तु गोस्वामीजीके हृदयोद्गारका पता जैसा 'विनयपत्रिका' से लगता है, वैसा

*पूज्यपाद पुष्पदन्ताचार्य्यने कहा है कि 'रुचियोंकी विचित्रतासे सीधे और टेढ़े अनेक रास्तोंमें चलनेवाले पुरुषोंका हे प्रभो! केवल तू ही प्राप्तव्य है, जैसे नदियोंका समुद्र।

अन्य ग्रन्थोंसे लगना कठिन है। यद्यपि विनयपत्रिका गोस्वामीजीके देहावसानके बाद संगृहीत हुई है, फिर भी बड़े कामकी है, अतः हम उनके दार्शनिक विचारोंका पता लगानेमें प्रधानतः इन्हीं दो ग्रन्थोंसे काम लेंगे महात्माओंका कहना है कि अनुबन्धचतुष्टयके जाने बिना प्रेक्षावान्‌की प्रवृत्ति उस ग्रन्थके पढ़नेकी ओर नहीं होती, अतः अनुबन्धचतुष्टयको ही पहले ठीक करना चाहिए।

अनुबन्धचतुष्टय

(१) विषय, (२) प्रयोजन, (३) सम्बन्ध और (४) अधिकारी। ये ही चार अनुबन्ध हैं। यद्यपि श्रीरामचरितमानसका विषय तो नामसे ही स्पष्ट है, तथापि श्रीगोस्वामीजी प्रतिज्ञा भी करते हैं कि 'बरनउँ रामचरित चित चाऊ'। अतः रामचरित्र-वर्णन विषय हुआ।

प्रयोजन कहते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

'भाषाबद्ध करब मैं सोई। मोरे हिय प्रबोध जेहि होई'।

प्रबोधशब्दका अर्थ ज्ञान है। उपसंहारमें भी लिखते हैं—

'मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये।
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥'

भाव यह कि उन्होंने अपने हृदयके अन्धकारका नाश करनेके लिए इसे भाषाबद्ध किया। हृदयके अन्धकारका दूर होना और ज्ञान होना दो बात नहीं हैं। अतः ज्ञानप्राप्ति ही गोस्वामीजीका प्रयोजन मालूम पड़ता है।

ग्रन्थ और विषयका तो प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध प्रायः रहता ही है, वही यहाँ भी है, यथा—

जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

ग्रन्थमें भगवान् रामका प्रतिपादन है।

इसके अधिकारी सज्जनवृन्द हैं, यथा—'सुनहु सकल सज्जन रतिमानी।'

अतः अनुबन्धचतुष्टयसे तो यही सिद्ध होता है कि ज्ञानपर्य्यवसायिनी भक्ति ही गोस्वामीजीको इष्ट है। पाँचों बातें सामने हैं, पाठक अनायास देख सकते हैं कि ज्ञानपर्य्यवसायिनी भक्ति सिवा अद्वैतवादके और किसी को इष्ट नहीं है।

तात्पर्य्यनिर्णय

तात्पर्य्यनिर्णयके विषयमें एक प्राचीन श्लोक मिलता है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य्यनिर्णये॥

सभीने इसे प्रमाण माना है। ग्रन्थ लिखते समय ग्रन्थकार बहुत-सी बातें लिख जाता है, पता लगाना कठिन हो जाता है कि उसका तात्पर्य्य क्या है। इसीलिए महात्माओंने ये साधन तात्पर्य्यनिर्णयके लिए बतलाये हैं।

इनमें से भी प्रधान उपक्रम और उपसंहार हैं। उपक्रम और उपसंहारसे जो बात ठीक हो गई, वही ग्रन्थकर्ताका तात्पर्य्य है। बीचमें यदि वह लक्ष्यसे दूर भी हट जाय, तो भी उसका वही तात्पर्य्य माना जायगा, जो उपक्रम और उपसंहारमें निरूपित हो।

१—उपक्रम और उपसंहार

अब देखना यह है कि श्रीरामचरितमानसके उपक्रममें कोई दार्शनिक सिद्धान्त कथित है या नहीं? देखिए, मङ्गलाचरणके श्लोकोंमें ही मिलता है—

'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।'

अर्थात् जिस राम (ब्रह्म) की सत्तासे यह (चराचरात्मक जगत्) सच्चा ही प्रतीत होता है, जैसे रस्सीमें साँप। इसी भाँति उपसंहारके श्लोकमें देखा जाता है—

श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्याऽवगाहन्ति ये।
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥

अर्थात् जो श्रीरामचरितमानस-सरमें स्नान करते हैं, वे संसाररूपी सूर्यकी प्रखर किरणोंसे नहीं जलते।

उपक्रम और उपसंहारके दोनों श्लोकोंसे तो गोस्वामीजीका विवर्तवाद मालूम पड़ता है। सम्पूर्ण दर्शनोंमें तीन ही वाद पाये जाते हैं—(१) आरम्भवाद (२) परिणामवाद और (३) विवर्तवाद। आरम्भवादी उत्पत्तिसे पूर्व असत् घट आदि कार्यकी सत् मृत्तिका आदि कारणसे उत्पत्ति मानते हैं, परिणामवादी सत्से सत्की उत्पत्ति मानते हैं, जैसे दूधसे दहीकी और विवर्तवादी सत्से अनिर्वचनीय पदार्थकी उत्पत्ति मानते हैं, जैसे रस्सीमें साँपकी, सीपीमें चाँदीकी, और रविकिरणमें जलकी। सो यहाँ उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें विवर्तवाद है और विवर्तवाद अद्वैतसिद्धान्त है।

इन दृष्टान्तोंको मङ्गलाचरणमें अद्वैतवादी ही रखते हैं। कहीं ये दृष्टान्त आ जायँ, वहाँ अर्थमें खींचातानी करनी दूसरी बात है, पर दूसरे वादी इन दृष्टान्तोंको अपने मङ्गलाचरणमें कभी नहीं रखते, क्योंकि ये सद्यः उनके सिद्धान्तोंके विरुद्ध पड़ते हैं।

'अमृषैव भाति सकलम्' से स्पष्ट यही भाव निकलता है कि झूठा प्रतीत ही नहीं होता और है झूठा। अब प्रश्न यह उठता है कि जो झूठा है वह सच्चा क्यों प्रतीत होता है? उत्तर देते हैं—'यत्सत्त्वात्' जिस (ब्रह्म) की सत्तासे। भाव यह कि सत्ता ब्रह्मकी है, जगत्की कोई सत्ता नहीं है, पर प्रतीति होती है। यह बात टेढ़ी-सी है, जल्दी समझमें नहीं आती, अतः दृष्टान्त देकर साफ़ करते हैं—'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः'। रस्सीमात्र सच्ची है, उसमें जिस साँपकी प्रतीति होती है वह तीन कालमें सच्चा नहीं है, पर प्रतीति साँपकी ही होती है। यहाँ राम-ब्रह्मकी उपमा रस्सीसे है, और चराचरात्मक जगत्की उपमा उसमें प्रतीत होनेवाले साँपसे है एवं जिस भाँति प्रतीयमान साँप रस्सीका विवर्त है, उसी भाँति चराचरात्मक जगत् राम (ब्रह्म) का विवर्त है।

अब उपसंहार देखिए—'वे' जो इस रामचरित मानसमें भक्तिपूर्वक स्नान करते हैं, संसाररूपी सूर्य्य-किरणोंसे नहीं जलते अर्थात् उसे इष्ट (जल) मानकर सेवन करनेवाले ही दुःख पाते हैं, यथा—

'कहि न जाय रविवारि सत्य भ्रमते दुख होई विशेषे।'

भाव यह कि जो श्रीरामचरित-मानसमें स्नान करते हैं, वे सच्चे जलमें स्नान करनेवाले हैं। उनकी पिपासा शान्त हो चुकी है, वे सूर्य्य-किरणरूपी झूठे जलके पीछे क्यों दौड़ेंगे, यथा—

'ब्रह्मपियूष मधुर शीतल जौं पै मन वह रस पावै।
तौ कत मृग जलरूप विषय-कारण निशि-वासर धावै॥

यहाँ भी संसार-रूपी अनिर्वचनीय जलकी उत्पत्ति विवर्त्तवाद ही है। सच्चा जल ब्रह्मसे उपमित है, झूठा जल रवि-कर संसारसे उपमित है। केवल ब्रह्म-सत्तासे संसारकी अनिर्वचनीय अर्थात् झूठी सत्ता भासित है। यहाँ भी नानात्वका निषेध तो है ही, पर निषेध करनेपर जो शेष रहता है, वह ब्रह्म राम हैं। रामरूपी जगत् नहीं है, अतः यहाँ भी अद्वैतवाद ही कहा। सो उपक्रम और उपसंहारसे तो अद्वैतवाद सिद्ध है।

२—अभ्यास

जो बात जिसके मनमें रहती है, उसे वह उपक्रम और उपसंहारमें ही कहकर शान्त नहीं होता, उसे जहाँ-जहाँ अवसर मिलता है, उसी बातको दुहराता है, इसीको अभ्यास कहते हैं। अब देखना चाहिए कि इसका अभ्यास भी कहीं किया है या उपक्रम और उपसंहार करके ही सन्तुष्ट रह गये।

(क) झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने। जनु भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥
जेहि जाने जग जाई हेराई। जागे यथा सपन भ्रम जाई॥
बंदौ बालरूप सोई रामू। सब विधि सुलभ जपत जिसु नामू॥

यहाँ भी वही रज्जु-भुजंगकी उपमा है। यहाँ इतना विशेष कहा कि रज्जुका अज्ञान ही रज्जु-सर्पका कारण है; इसी भाँति राम-ब्रह्मका अज्ञान ही संसारका कारण है और ज्ञानसे उसका बाध होता है; जैसे जाग जानेसे स्वप्नका बाध होता है। मिथ्याका लक्षण भी कहे देते हैं, जिसका ज्ञानसे बाध हो वही मिथ्या है। जाग्रत्‌के राजा भले ही सच्चे हों, उनका इस दृष्टान्तमें उपयोग नहीं है। सपनेमें तो स्वप्नके राजासे काम है, उनका बाध जाग्रत्‌से होता है। यह भी विवर्त्तवाद ही है।

(ख) जासु सत्यताते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
रजत सीप मँह भास जिमि, यथा भानुकर वारि।
यदपि मृषा तिहुँ काल मँह भ्रम न सकै कोउ टारि॥

एहि विधि जग हरि आश्रित रहई । यदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौ सपने सिर काटै कोई । बिनु जागे दुःख दूर न होई ॥
जासु कृपा अस भ्रम मिट जाई । गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ॥

यहाँ इतना विशेष कहा कि माया जड़ है अर्थात् ब्रह्म चेतन है । माया मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है । विवर्त्तवादका एक और उदाहरण दिया—

'रजत सीप महँ भास जिमि ।'

जगत्‌का होना तीन कालमें मिथ्या बतलाया, पर उसके सत्यत्वका भ्रम टाले नहीं टलता । यहाँ तक कि इस भ्रमके मिटनेका साधन एकमात्र रघुराईकी कृपा है ।

(ग) सो दासी रघुबीरकी, समुझे मिथ्या सोऽपि ।
छूट न रामकृपा बिनु, नाथ कहौं पदरोपि ॥

जिसका कटक प्रचण्ड संसारमें व्याप रहा है और कामादि भट जिसके सेनापति हैं एवंप्रभावा माया रानी रघुवीरकी दासी है । जब तक न समझे (ज्ञान न हो) तभी तक और समझनेपर वे भी मिथ्या हो जाती हैं । इसपर कहा जाता है कि 'सः' पुल्लिङ्ग है, अतः उससे कामादि भटका परामर्श है । पर लिङ्ग दोपसे बचनेपर वचन दोष अनिवार्य्य हो पड़ता है। 'सः' एक वचन है, कामादि भट बहुवचन हैं । मान भी लिया जाय कि 'सः' शब्दसे कामादि भटोंका ग्रहण है, तब 'अपि' शब्दकी क्या गति होगी ? भाव निकलेगा माया तो मिथ्या है ही, मायाके कटक, कामादि भट भी मिथ्या हैं ।

(घ) जोग वियोग भोग भल मंदा, हित अनहित मध्यम भ्रमफन्दा ।
जनम मरन जहँ लगि जग जालू । संपति विपति करन अरु कालू ॥
धरनि धाम धन पुर परिवारू । सरग नरकु जहँ लगि व्यवहारू ।
देखिअ सुनिअ गुनिअ मनमाहीं । मोह मूल परमारथ नाहीं ॥

यहाँ इन सबको मोहमूलक बतलाया । इन सब की केवल व्यावहारिक सत्यता है; पारमार्थिक सत्यता नहीं है । यहाँपर यह विशेष कहा कि सत्य भी दो हैं—एक पारमार्थिक सत्य और एक व्यावहारिक सत्य । संयोग, वियोग, भल, मन्द, भोग, हित शत्रु और मध्यस्थ ये सब भ्रमके फन्दा हैं । जन्म-मरणरूपी जालमें लगे हैं । जन्म-मरणके बीच व्यवहार चलता है। सम्पत्ति, विपत्ति, कर्म, काल, पृथ्वी, घर, धन, राज्य, परिवार, स्वर्ग, नरक, ये सब व्यवहार हैं । इनमें पारमार्थिक सत्यता नहीं है, क्योंकि पहले कह चुके हैं कि तीन कालमें मिथ्या है । यहाँ मिथ्यासे ज्ञान द्वारा बाधित होनेवाली वस्तु अभिप्रेत है । बाधित होनेवाली वस्तु ही हमारे लिए व्यावहारिक सत्य है ।

पारमार्थिक सत्य तो त्रिकालमें अबाध्य केवल राम हैं। यथा—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा।
सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा॥

इस भाँति वारंवार विवर्त्तवाद अर्थात् 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' अवसर मिलते ही दोहराया गया है। अतः गोस्वामीजीका तात्पर्य्यविषयीभूत सिद्धान्त अद्वैतवाद ही अभ्याससे भी मालूम होता है।

३—अपूर्वता

ग्रन्थमें कोई अपूर्वता भी चाहिए। नहीं तो उसके लिखनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। सो इसकी अपूर्वता तो उमाके प्रश्नसे ही प्रगट है, यथा—

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होई नर, जाहि न जानत वेद॥

अद्वैत ब्रह्मका अवतार कैसे सम्भव है? सो उसी अद्वैत ब्रह्मका अवतार और चरित इसमें वर्णित है। प्रादेशमात्र मैं कहे देता हूँ। विस्तारके लिए तो ग्रन्थ ही मौजूद है। जैसे जलराशि स्वभावसे ही तरल होता है, पर सदा सर्वत्र सर्वांश उसका तरल नहीं रहता, कभी कहीं सरदीसे जम भी जाता है, उसी भाँति ब्रह्मका अवतार भी कभी भक्तके प्रेमके वश हो जाता है, यथा—

जो गुन रहित सगुन सो कैसे। जल हिमि उपल बिलग नहिं जैसे॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम वस सगुन सो होई॥

यहाँ अभेदशब्दसे त्रिविधभेदशून्य अद्वैतब्रह्मविषयक प्रश्न और तद्विषयक उत्तरमें ही सम्पूर्ण रामचरितमानस कथित है।

४—फल

अपने अन्तःसुखके लिए ही गोस्वामीजीने इस ग्रन्थका भाषामें प्रणयन किया था। यथा—

स्वान्तःसुखाय तुलसीरघुनाथगाथा-
भाषानिबद्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

और अन्तमें कहते हैं कि—

जाकी कृपा लवलेस ते, मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायो परम विश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

अतः अन्तःसुख प्रत्यक्चेतनाधिगम अथवा परम विश्रामकी प्राप्ति ही इसका फल है।

५—अर्थवाद

जो बात सिद्ध करनी है, उसके स्पष्टीकरण या गौरवके लिए प्राचीन इतिहास, दृष्टान्तादि कुछ अन्य बातें भी कही जाती हैं, उन्हें अर्थवाद कहते हैं। यथा—

एक बात नहिं मोंहि सोहानी। यदपि मोहवस कहेउ भवानी॥
तुम जो कहा राम कोउ आना। जेहिं श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
'पाखंडी हरिपदविमुख, जानहिं झूठ न साँच॥
अज्ञ अकोविद अंध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेउ संत-सभा नहिं देखी॥
कहहिं ते वेद असम्मत बानी। जिनहिं न सूझ लाभ नहिं हानी॥
मुकुर मलिन अरु नयन विहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥
जिनके अगुन न सगुन विवेका। जल्पहिं कल्पित वचन अनेका॥
हरि माया वस जगत भ्रमाहीं। तिनहि करत कछु अघटित नाहीं॥
बातुल भूतविवस मतवारे। ते नहिं बोलहिं वचन विचारे॥
जिन कृत महा मोह पद-पाना। तिन कर कहा करिअ नहिं काना॥

यहाँ भेददर्शीकी निन्दा है। जिसने रामको अन्य समझा उसने कौन सा पाप नहीं किया—

यः पश्यति स्वमात्मानं विभिन्नं परमेश्वरात। किन्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

सब राम ही तो हैं, मायोपाधिसे वे ही ईश्वर हैं, अविद्योपाधिसे वे ही जीव हैं। यहाँ राम कोई अन्य हैं, यह प्रश्न ही नहीं बन सकता। ऐसी वाणी वेद असम्मत है, जो स्वयम् अविवेकी हैं, मनमलिन हैं, उन्हें आत्मारामका दर्शन नहीं होता। यहाँ विवेकको नयन तथा मनको मुकुर कहा, यथा—

तेहि करि विमल विवेक विलोचन। निज मन मुकुर सुधारि।

दर्शनके लिए तो नेत्र हुई हैं, पर आत्मस्वरूपदर्शनके लिए निर्मल मुकुरकी भी असाधारण आवश्यकता है, अतः यहाँ आत्मारामके दर्शनको कह रहे हैं कि उसे आत्मारामका दर्शन हुआ नहीं, वही पूछ सकता है कि राम कोई दूसरे तो नहीं हैं, रामके विषयमें प्रश्न नहीं बन सकता। उपाधिके विषयमें प्रश्न उठ सकता है कि माया है या अविद्या? यदि माया उपाधि है तो ईश्वर है, यदि अविद्या उपाधि है तो जीव है, सो तुम परीक्षा करके देख चुकी हो, यथा—

कछु निजमाया प्रगटि दिखावा।

अतः यहाँ भी अद्वैत-वाद ही कहा। इसी भाँति गरुड़चरित भी अर्थवाद है। उन्हें भी उमाकी भाँति संशय हुआ। यथा—

(अपूर्ण)

जाग जा ! जाग जा !! जाग जा !!!

[ले० श्रीयतिवर भोलेबाबाजी महाराज]

क्यों मोहनिद्रामें पड़ा हुआ शोक कर रहा है। कभी रोता है ! कभी चिल्लाता है ! कभी गाने लगता है ! कभी चिन्ता करने लगता है ! कभी भय करने लगता है, कभी पागलके समान बकने लगता है, कभी अन्धेके समान ठोकरें खाने लगता है ! शोकका कुछ काम नहीं है, रोनेका कुछ प्रयोजन नहीं है, चिल्लानेसे कुछ लाभ नहीं है, चिन्ता करनेसे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, भय मत कर ! पागलपना छोड़ दे ! अन्धा बनकर ठोकरें मत खा ! यह स्थूल शरीर तेरा नहीं है, सूक्ष्म शरीर तेरा नहीं है, कारण शरीर भी तेरा नहीं है, तीनों शरीर तू नहीं है ! जाग्रदवस्था तेरी नहीं है, स्वप्नावस्था तेरी नहीं है, सुषुप्त्यवस्था भी तेरी नहीं है, जाग्रत् आदि अवस्था तू नहीं है। विश्व यानी जाग्रदवस्थाका अभिमानी तू नहीं है, स्वप्नावस्थाका अभिमानी तैजस तू नहीं है, सुषुप्त्यवस्थाका अभिमानी प्राज्ञ तू नहीं है ! यह जो कुछ तू देख रहा है, उससे तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, तू निस्संग, कूटस्थ, सच्चिदानन्द, निष्कल, निरञ्जन देव है, न तू कर्ता है, न भोक्ता है, न प्रमाता है, किन्तु शुद्ध, साक्षी, निरामय, सनातन, पुराण ब्रह्म है। इन तीनों शरीरोंसे, तीनों अवस्थाओंसे, तीनों जीवोंसे सम्बन्ध छोड़ दे ! इस संसारस्वप्नको मत देख ! अपने स्वरूपको देख, अपने स्वरूपके अज्ञानसे तुझे यह संसार-स्वप्न भास रहा है, नहीं तो संसारका लेश भी तुझमें नहीं है। श्रुति कहती है—'असङ्गोह्ययं पुरुषः', इस श्रुतिके वचनपर विश्वास कर, पूर्ण विश्वास कर, दृढ़ श्रद्धा कर ! संसार-स्वप्नका त्याग कर, जाग जा ! जाग जा !! जाग जा !!!

इस शरीरकी उत्पत्तिसे पहिले तूने इस संसारको नहीं देखा था, शरीरके नाशके पीछे भी तू इस प्रपञ्चको नहीं देखेगा, बीचमें संसार जो तू देख रहा है, वह शरीरके सम्बन्धसे ही देख रहा है। शरीर पहिले नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा, बीचमें दिखाई देता है, इसलिए अन्वय और व्यतिरेकसे यह शरीर ही संसारके दिखाई देनेका कारण है। जैसा आदिमें होता है और जैसा अन्तमें होता है, वैसा ही मध्यमें भी होता है। जब शरीर आदि और अन्तमें नहीं है, तो मध्यमें भी

नहीं है, इसलिए शरीरके सम्बन्धसे दीखनेवाला प्रपञ्च भी आदि और अन्तमें न होनेसे मध्यमें भी नहीं है, तब तू शरीरको अपना मानकर क्यों शोक, मोह, भय और चिन्तामें पड़ा हुआ है। शरीर अचेतन है, तू चेतन है; शरीर दृश्य है, तू द्रष्टा है; शरीर अनित्य है, तू नित्य है; शरीर जन्म लेनेवाला और मरनेवाला है, तू अज और अमर है। जैसे अन्धेरा और उजाला ये दोनों मिल नहीं सकते वैसे ही शरीरसे तेरा मेल नहीं है! अपने अज्ञानसे तूने शरीरसे मेल कर लिया है, इसलिए शरीरके धर्म तू अपनेमें मानता है, नहीं तो शरीरका एक भी धर्म तुझमें नहीं है। शरीर ही जन्म लेता है, शरीर ही जन्म लेनेके कारण हुआ-सा प्रतीत होता है, शरीर ही बढ़ता है, शरीर ही घटता है, शरीर ही बदलता है और शरीर ही मरता है, 'जायते, अस्ति, परिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति' ये छः विकार शरीरके ही हैं, तेरे नहीं हैं, तब तू शरीरको अपना मानकर शरीरके दुःखसे आप क्यों दुःखी होता है। श्रुति कहती है कि यदि पुरुष अपनी आत्माको जान ले कि 'मैं यह आत्मा हूँ' तो वह शरीरके पीछे क्यों दुःखी हो यानी सर्वदा सुखी रहे! विवेक, वैराग्य, शम-दम आदिका अभ्यास करके अपने चेतन, सुखस्वरूप आत्माको शरीरसे भिन्न करके शरीरके दुःखोंसे अपने आत्माको मत तपा, मत शोक कर, मत मोह कर, मत भय कर, मत चिन्ता कर, किन्तु निर्द्वन्द्व हो जा यानी राग-द्वेष, सुख-दुःख, मानापमान आदिसे निर्मुक्त होकर इस संसार-स्वप्नसे छूटकर आपमें ही प्रीति कर, आपमें ही क्रीड़ा कर, आपमें ही सन्तुष्ट रह, आपमें ही तृप्त हो! देहको मत देख, देहकी तरह दिखाई देनेवाले प्रपञ्चको मत देख, अपने तत्त्वमें, अपने स्वरूपमें जाग जा! जाग जा!! जाग जा!!!

जब एक ही ब्रह्म चेतन है, ब्रह्मके सिवा दूसरा चेतन नहीं है, तब उसमें भेद किसी प्रकारसे भी नहीं हो सकता। हाँ, भ्रमसे उसमें भेदकी प्रतीति हो, ऐसा हो सकता है। जैसे रस्सी किसी कालमें सर्प नहीं हो सकती, पूर्वमें रस्सी थी, भ्रमकालमें जब रस्सीमें सर्प दिखाई देता है, तब भी वह रस्सी ही है, सर्प नहीं है और भ्रम दूर हो जानेपर भी रस्सी ही है, वैसे ही सृष्टिसे पूर्व ब्रह्म ही है, सृष्टिकालमें भी ब्रह्म ही है और जब प्रलयमें अथवा सुषुप्तिमें सृष्टि नहीं रहती तब भी ब्रह्म ही है, प्रपञ्च नहीं है। जैसे रस्सीमें रस्सीके न जाननेसे सर्प भासता है, वैसे ही ब्रह्मके न जाननेसे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय यानी जीव, अन्तःकरण अथवा देह और जगत् भासता है। परमार्थसे

ब्रह्म ही है, ब्रह्म सबका आत्मा है, इसलिए जो कुछ अहंकारसे, चित्तसे, बुद्धिसे, मनसे और इन्द्रियोंसे देखने, सुनने, छूने, चखने, सूँघने; जानने और समझनेमें आता है, वह सब कुछ ब्रह्म ही है यानी सब नहीं है, ब्रह्म ही है, क्योंकि सब भ्रमसे कल्पित होनेसे मिथ्या है। चेतन ब्रह्म सच्चा है और वह सबका आत्मा है, इसलिए आत्मा सच्चा है और आत्माके सिवा सब मिथ्या है। मिथ्याको सच्चा माननेवाला सुखी नहीं हो सकता, तब तू मिथ्याको सच मान कर क्यों दुःखी हो रहा है, दुःखी मत हो, मिथ्याको मिथ्या और सत्यको सत्य समझ कर सुखी हो जा ! मोहनिद्रा त्याग दे, मोहनिद्रामें संसार-स्वप्न दिखाई दे रहा है ! जैसे स्वप्नको तू सच्चा नहीं मानता, किन्तु मिथ्या ही मानता है, वैसे ही संसारको भी स्वप्न जान, स्वप्नको त्याग कर स्वस्वरूपमें जाग जा ! जाग जा !! जाग जा !!!

जैसे सीपीके अज्ञानसे सीपी ही चांदी होकर भासती है, वैसे ही ब्रह्मके अज्ञानसे ब्रह्म ही प्रपञ्चरूपसे भासता है ! जिसको तू जगत् समझता है, वह जगत् नहीं है किन्तु ब्रह्म ही है। 'कारणसे कार्यकी सत्ता पृथक् नहीं होती' इस न्यायसे यह प्रपञ्च ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, ब्रह्म ही है। कार्य मिथ्या होता है, वस्तुरूप नहीं होता, क्योंकि नाममात्र यानी कथनमात्र होता है, इसी प्रकार कार्यरूप जगत् मिथ्या है, क्योंकि कथनमात्र है, वस्तुरूप नहीं है, ब्रह्म ही सच्चा है। व्याप्यव्यापकता मिथ्या है, सर्व आत्मा ही है, ऐसी श्रुति शासन करती है, इस श्रुतिके अनुसार जब निर्मल अन्तःकरणवाला पुरुष परमतत्त्वको जान लेता है, तब भेदका अवसर ही नहीं रहता ! मलिन अन्तःकरणवालेको भेद दिखाई देता है, शुद्ध अन्तःकरणवालेको भेद दिखाई नहीं देता, किन्तु एक अद्वितीय परब्रह्म ही दृष्टिगोचर होता है। यदि तुझे भेद दिखाई देता है, तो समझ ले, तेरा अन्तःकरण रजोगुण और तमोगुणके दोषसे मलिन है। मलिन अन्तःकरणको शम, दम, विवेक, वैराग्य, समता, श्रद्धा आदि साधनोंसे शुद्ध कर ले, यानी मनको बाहरके विषयोंमें दोषदृष्टि दिखाकर स्वाधीन कर ले, इन्द्रियाँ जबतक वशमें नहीं होतीं, तबतक मन स्वाधीन नहीं होता, इसलिए मनको वशमें करनेके लिए इन्द्रियोंका निग्रहरूप दम कर, इन्द्रियाँ विषयोंमें राग होनेसे वशमें नहीं होतीं, राग विषयोंको सत्य समझनेसे होता है, इसलिए विवेक करके सत्यासत्यका निर्णय कर ! सत्यासत्यका निर्णय होनेपर वैराग्य स्वयं ही सिद्ध हो जायगा,

क्योंकि मिथ्या वस्तुके लेनेकी कोई इच्छा नहीं करता। जैसे मिथ्या मिठाई खानेकी कोई इच्छा नहीं करता और मिथ्या मिठाई खानेकी इच्छा हो भी नहीं सकती, वैसे ही जब विषयोंका मिथ्यात्व निश्चित हो जाता है, तब उनमें वैराग्य हो जाता है। सब प्रपञ्चमें एक सम ब्रह्मका दर्शन करनेसे समता सिद्ध होती है, इस प्रकार शम-दमादि साधनोंके द्वारा मनको निर्मल बना ले! निर्मल मन होते ही, जैसे किसी दोषके कारण आँख सूर्यके होते असली पदार्थोंको ठीक-ठीक नहीं देखती वही आँख जब अञ्जन आदिसे निर्दोष कर ली जाती है, तब पदार्थ ठीक-ठीक दिखाई देने लगते हैं, वैसे ही ब्रह्म सर्वत्र दिखाई देने लगता है। मनको शुद्ध करके मनरूप आँख खोल दे और स्वस्वरूपमें जाग जा! जाग जा!! जाग जा!!!

सत्त्व आदि तीनों गुण, आकाश आदि पञ्चभूत, विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर समष्टि, विश्व, तैजस, प्राज्ञ व्यष्टि, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तीनों मुख्य देवता, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र आदि अवान्तर देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, आदि सब ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिए सब ब्रह्म ही हैं, ऐसा चिन्तन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और भेदबुद्धि दूर होती है। अनेक प्रकारके नाम, रूप और कर्मका ब्रह्म ही धारण करता है, इस कारणसे नामादि सब ब्रह्मरूप ही हैं, ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं। जैसे सुवर्णसे उत्पन्न हुए, अनेक प्रकारके भूषण सुवर्ण ही होते हैं, वैसे ही ब्रह्मसे उत्पन्न हुए प्रपञ्चको ब्रह्मरूप ही होना चाहिए, इसलिए समस्त जगत्को ब्रह्मरूप देखना चाहिए, ऐसी दृष्टि करनेसे मन बहुत ही शीघ्र शुद्ध हो जाता है। भेददृष्टिसे सब गन्दा होता है। भेद देखनेवालेको भय होता है, क्योंकि अपनेसे किसीको भय नहीं होता है, दूसरेसे ही भय होता है, ऐसा सबका अनुभव है। तब भेद देखना, बड़ी भारी भूल है! चेतन सबमें एक है, पांचों महाभूत भी सबमें एक ही हैं, तब भेद कहाँ है? कहीं भी, कभी भी किंचित् भेद नहीं है। सुषुप्तिमें भेद नहीं होता, इसलिए वहाँ किसीको भय भी नहीं होता! सुषुप्तिके समान जो भाग्यवान् जगत्में भी वर्ताव करता है यानी भेद नहीं देखता, किन्तु सबको ब्रह्मस्वरूप अथवा अपना ही रूप देखता है, उसको भय नहीं होता! जब अभेद देखनेमें प्रत्यक्ष अभयका अनुभव होता है, तब तुझे अभेद देखनेका अभ्यास करके अभय हो जाना ही युक्त है। श्रुति भगवती आदेश करती है कि जो मूढ़ अपनेमें और परमात्मामें

किंचित् भी भेद देखता है, उसको अवश्य ही भय होता है, और जो जीव अभेद देखता है वह निश्चय अभय हो जाता है ! दूसरा कोई है नहीं, एक तू ही है, इसलिए भयरूप स्वप्नको अन्तिम प्रणाम करके निर्भयस्वरूप अपने आत्मा ब्रह्ममें जाग जा ! जाग जा !! जाग जा !!!

जब अपने स्वरूपका अज्ञान होता है, तभी दूसरा-सा दिखाई देता है, जब अज्ञान निवृत्त हो जाता है, तब दूसरा कभी भी नहीं भासता ! अज्ञानको दूर कर, भेदबुद्धिको कर्पूर कर, द्वैत-भांडेको तोड़कर दूर कर, फिर तू सुखी हो जायगा, स्वतन्त्र हो जायगा, आनन्द-भरपूर हो जायगा, दुःख कभी भी दिखाई नहीं देगा; परतन्त्रता भाग जायगी, शोक-मोह आदि अनर्थ मुख छिपा-कर इस प्रकार चले जायँगे, जिस प्रकार गदहेके सींग चले गये हैं ! यह संसार दिखाई दे रहा है, इसमें व्यवहार भी हो रहा है, कोई बड़ा है, कोई छोटा है, कोई बालक है, कोई कुमार है, कोई तरुण है, कोई वृद्ध है, कहीं खाना-पीना हो रहा है, कहीं खेल-कूद हो रहा है, कहीं रोना-पीटना हो रहा है, कहीं मिठाइयाँ बिक रही हैं, कहीं वस्त्राभूषणोंका विक्रय यानी खरीदना-बेचना हो रहा है, कहीं सेव, अमरूद, नाशपाती, नारंगी, आम, जामुन अनेक प्रकारके फलोंका ढेर लगा हुआ है, कहीं चचा-भतीजेका मुकदमा चल रहा है, वकीलों और अहलकारोंकी बन आयी है, मुँह-माँगा मेहनताना ले रहे हैं, शुकराना अलग माँग रहे हैं, जो कोई हार जाता है, वह मर जाता है, जो कोई जीत जाता है, हारेके समान होता है, क्योंकि वह पहले ही भली-भाँति मूँड लिया जाता है, 'भेड़पर ऊन कोई नहीं छोड़ता' इस न्यायके अनुसार जीता हुआ भी हारा हुआ ही है, यह कहना प्रौढोक्ति नहीं है, इत्यादि सब व्यवहार-भी यहाँ हो रहा है, फिर भी यह सब स्वप्न है, मूर्च्छितको, मरेको, सोये हुएको कुछ नहीं दिखाई देता है ! और जिस विवेकी पुरुषकी आँखें, भीतर की आँखें, हृदयकी आँखें खुल गई हैं, उसको तो देखते हुए भी कुछ नहीं दिखाई देता, एक सच्चिदानन्द, स्वयंज्योति, स्वयंसिद्ध परमात्मा ही आर-पार दिखाई देता है ! भाई विवेकके नेत्र खोल, मोहकी नींद मत सो, विचारसे काम ले, अन्धेके समान ठोकरें मत खा ! बहुत बार मर चुका है, अब तो आगे मत मर ! जाग जा ! जाग जा !! जाग जा !!!

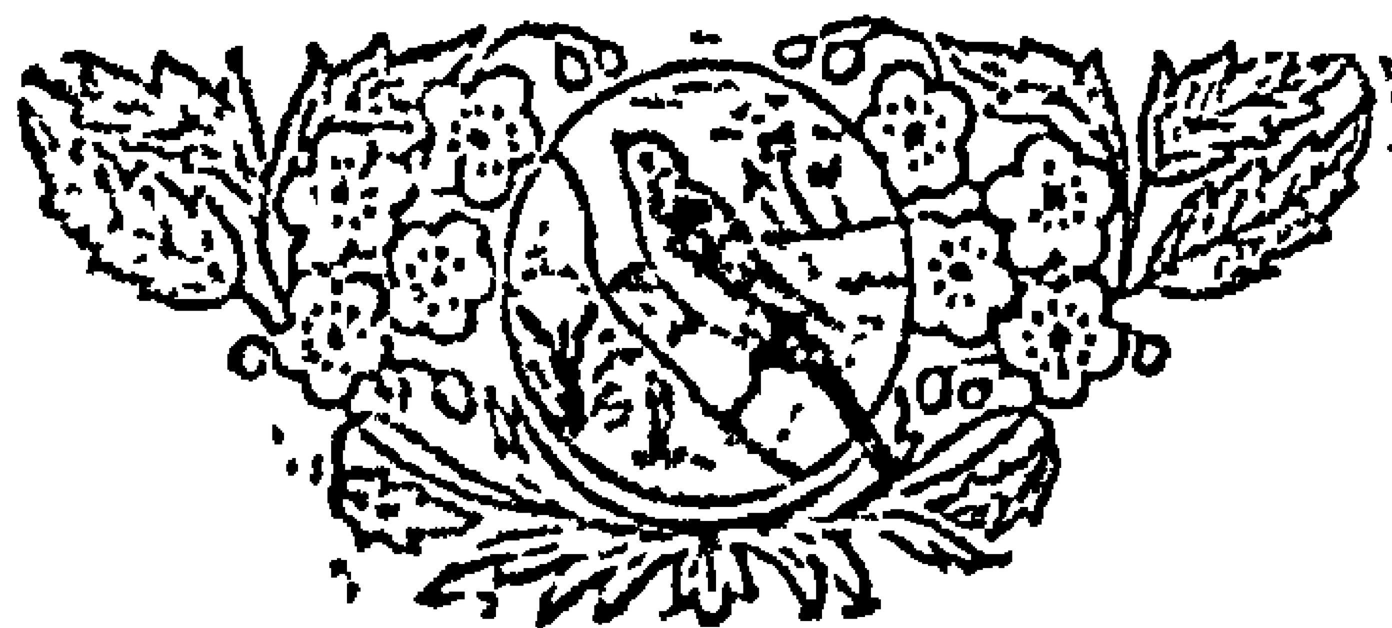
भाई ! अब तो समझ गया होगा, यदि न समझा हो, तो फिर भी समझाता

हूँ, अन्य प्रकारसे तुझे जगाता हूँ, देख ! जाग्रत्‌में स्वप्न नहीं होता, स्वप्नमें जाग्रत् अवस्था नहीं होती, सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही नहीं होते और जब मरे पीछे लेना एक न देना दो, तीनों ही लापता हो जाते हैं, तब यह जगत् सच्चा कहाँ है ! मिथ्या ही है ! सत्यताका इसमें नाम तक नहीं है, स्पष्ट यानी सरासर मिथ्या है, फिर भी तू इसे सच्चा समझता है, यह मूर्खता नहीं, तो और क्या है, पूरी सोलह आने मूर्खता है ! इनको तो तू सच्चा समझता है और अपनेको तू मिथ्या समझता है, तू इन सबका द्रष्टा, तीनों कालोंमें एक रस रहनेवाला, सत्यका सत्य, उजालेका उजला, स्वयंज्योति, स्वयंसिद्ध, गुणातीत, मायातीत, कायातीत है, ऐसे शाश्वत, उदय-अस्तसे रहित अपने स्वरूपको तू नहीं जानता ! दुनियाँभरको जाननेकी इच्छा करता है, अपनेको नहीं जानता, सबको उपदेश देता है, अपनेको उपदेश नहीं देता है, समस्त भारतका अथवा दुनियाँभरके उद्धार करनेका ठेका लेता है, अपना उद्धार नहीं करता, उद्धार करना जानता भी नहीं है, 'उद्धार' शब्दका अर्थ भी तूने कोशमें नहीं देखा है, अथवा किसी सन्त-महात्माके मुखसे नहीं सुना है, जब तूने अपना ही उद्धार नहीं किया है, तब तू किसीका उद्धार कैसे कर सकता है ? कभी नहीं कर सकता ? पहले अपना उद्धार कर ले, पीछे किसीके उद्धार करनेका संकल्प कर ! नहीं तो आप तो डूबेगा ही, दूसरेको भी ले डूबेगा ! मोहरूप कीचड़मेंसे निकल आ, शोकरूप दलदलमेंसे बाहर निकल, चिन्तारूप नदीमें मत डूब, सन्त-महात्माओंका संग कर, दुर्जनोंके संगसे दूर रह, सत् शास्त्र-रूप ऐनक अपनी धुंधली आँखोंमें लगाकर उस ऐनकसे संसारको देख ! जब तू सत् शास्त्ररूप ऐनकसे काम लेगा, तभी तू संसारके और परब्रह्मके तत्त्वको समझ सकेगा, अन्यथा नहीं ! संसारस्वप्नको छोड़कर परमात्मतत्त्वमें जाग जा ! जाग जा !! जाग जा !!! बहुत सोया, अब तो विवेकनेत्र खोल ! जाग जा !! जाग जा !!!

भोला ! यह कौन कह रहा है ? श्रुति माता कह रही है, सन्त-महात्मा कह रहे हैं अथवा कोई बालक कह रहा है ? कोई भी कह रहा हो, युक्ति-युक्त बात बालककी भी क्यों न हो, माननीय है। जिस प्रकार रस्सी सर्प नहीं हो सकती, सीपी चांदी नहीं हो सकती, मृग-तृष्णाका जल सच्चा नहीं हो सकता, स्वप्न किसी प्रकार भी सत्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार

यह दृश्य जगत् भी सच्चा नहीं हो सकता। दृश्य वस्तु मिथ्या ही होती है, इसलिए आँखोंसे देखने वाला, कानोंसे सुनाई देनेवाला, मनसे जाननेमें आने वाला यह प्रपञ्च सच्चा नहीं है, श्रुति भगवती सत्य कहती है। 'यह द्वैत मायामात्र है, अद्वैत ही सच्चा है' 'यहाँ अनेकता कुछ भी नहीं है' 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है' 'सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म है' 'यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियाँ जगत्को मिथ्या और ब्रह्मको सच्चा बता रही हैं, फिर भी तेरी समझमें क्यों नहीं आता ! मूर्खता त्याग दे, विवेकसे काम ले, समझ जा ! समझ जा !! समझ जा !!! अब भी समझ जा, मरनेसे पहले ही मरकर जी जा ! जाग जा ! जाग जा !! जाग जा !!!

कु०—जग जा, जग जा, जाग जा, सोवत हुई अबेर ।
मोह नींद तज जाग झट, अब मत कर रे देर ॥
अब मत कर रे देर, देह-शव-भजना तज रे ।
सबका अपना आप, शम्भु शिव शाश्वत भज रे ॥
भोला ! तज दे भोग, योगमें झटपट लग जा ।
सिर पर ठाढ़ा मृत्यु जाग जा, जग जा, जग जा ॥



शब्दब्रह्मवाद

[ले०—पं० श्रीहाराणचन्द्रभट्टाचार्य—प्रो० गवर्न० सं० कालेज, कलकत्ता]

भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तमें संक्षेपसे चार वाद माने गये हैं—आरम्भवाद, जिसे परमाणुवाद भी कहते हैं, संघातवाद, जिसे पुञ्जवाद भी कहते हैं, परिणामवाद जिसे विकारवाद भी कहते हैं और विवर्तवाद। उक्त वादोंमेंसे, परमाणुको कारण माननेवाले नैयायिक, वैशेषिक आदि, आरम्भवादको मानते हैं। प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकाके (चित्सुखीके) दूसरे परिच्छेदमें और मानमेय आदि अन्य ग्रन्थोंमें भी कहा गया है कि भट्टानुयायी मीमांसक त्रसरेणुको नित्य मानते हैं अतएव वे भी आरम्भवादपर ही निर्भर हैं। आरम्भवादकी प्रक्रिया यह है कि अवयवरूप परमाणु आदि द्रव्य, अपने सदृश अन्य अवयवसे संयुक्त होकर अन्य अवयवी द्रव्यका आरम्भक होता है। इस मतमें अवयवी द्रव्य अपने अवयवसे नितान्त भिन्न माना जाता है। पृथिवी, जल, तेज और वायुके भेदसे चार प्रकारके परमाणु ही समस्त अवयवीरूप कार्यके कारण हैं, यह न्याय और वैशेषिक पक्षका चरम निष्कर्ष है। तन्त्ररहस्यमें 'अभ्युपगमसिद्धान्त' न्यायसे वैशेषिक दर्शनमें सिद्ध ही पदार्थ प्रमेयरूपसे स्वीकार किये गये हैं, इस उक्तिसे और परमाणुवादका खण्डन न दिखाई देनेसे प्रभाकरके मतमें भी आरम्भवाद स्वीकृत है। भट्टानुयायी मीमांसकमें यह विशेषता है कि वे परमाणुओंका स्थान त्रसरेणुओंको देते हैं और त्रसरेणुओंको ही परमाणु कहते हैं। जैन परमाणुओंका 'पुद्गल' शब्दसे निर्देश करते हैं और उन्हें भाँति-भाँतिके मानते हैं। वे कहते हैं कि पृथिवी आदि चार भूत, स्थावर और जंगम ये छः पदार्थ पुद्गलापरपर्याय परमाणुओंसे बने हैं, अतएव उन्होंने भी आरम्भवादपर ही अपनी पक्षपातिता सुतरां व्यक्त की है।

पृथिवी, जल, तेज और वायुके भेदसे चार प्रकारके परमाणुओंका समुदाय ही घट आदि पदार्थ है और समुदाय प्रत्येकसे अभिन्न होनेसे अन्य वस्तु नहीं है, यह संघातवादियोंका मत है। इस मतका अनुसरण करनेवाले सर्वास्तित्ववादी, सौत्रान्तिक और वैभाषिक बौद्ध हैं।

किसी परमार्थरूप वस्तुकी सत्य रूपान्तरकी प्राप्तिको परिणाम कहते हैं। प्रकृतिको जगत्का उपादान माननेवाले सांख्य, पातञ्जल, पाशुपत, माध्व, निम्बार्क, गौडीय, वैष्णव आदिका यह मत है। एक चैतन्यमात्रको जगत्का उपादान माननेवाले भट्टभास्कर, पाञ्चरात्र आदि मतके अनुयायी एवं वल्लभानुयायी वैष्णवोंका भी यही मत है। जड़विशिष्ट चेतनको जगत्का उपादान माननेवाले भास्कर राय,

श्रीकण्ठ, रामानुज आदि भी परिणामवादी ही हैं। क्षणिक विज्ञानके नील, पीत आदि आकारोंको स्वाभाविक माननेवाले साकारविज्ञानवादी योगाचारोंका न तो परिणामवादियोंमें अन्तर्भाव हो सकता है और न वक्ष्यमाण विवर्तवादमें ही अन्तर्भाव हो सकता है, क्योंकि वे विज्ञानके आकारोंको वास्तविक नहीं मानते।

एक अबाधित वस्तुका अज्ञानकी सहायतासे विचित्र मिथ्यारूपसे भान होना विवर्त कहा जाता है, जैसे कि रस्सीका सर्परूपसे भान होता है। यह मत भगवान् शङ्कराचार्यके अनुयायियोंका है। वे लोग मानते हैं कि सत्य ब्रह्मकी ही अविद्याकी सहायतासे जगद्रूपसे प्रतीति होती है। माध्यमिक नामधारी शून्यवादी बौद्ध भी विवर्तवादका ही अवलम्बन करते हैं। उनके मतमें केवल शून्य ही भ्रान्तिवासनारूप आवरणकी महिमासे जगद्रूपसे प्रतीत होता है। निराकार विज्ञानवादी योगाचार भी विवर्तवादी ही हैं। उनके सिद्धान्तमें वस्तुतः ज्ञाता और ज्ञेयके आकारसे रहित क्षणिक विज्ञानोंका अविद्यावासनासे ज्ञातृज्ञेय आदि भेद होनेके कारण विचित्र भिन्न-भिन्न रूपसे अवभास माना गया है।

इस प्रकार विचारित वादोंमेंसे शब्दब्रह्मवेत्ताओंमें अग्रगण्य वाक्यपदीयकार वैयाकरणाचार्य भर्तृहरि किस मतका अवलम्बन करते हैं, इसका विचार किया जाता है। पहलेके दो पक्ष (आरम्भवाद और संघातवाद भर्तृहरिके अभिमत नहीं हैं यह स्पष्ट ही है, क्योंकि उन दोनों पक्षोंमें परमाणु उपादन माने गये हैं। भर्तृहरिजीने परमाणुओंका कहीं स्पर्श भी नहीं किया है। अब रहे विवर्त और परिणामवाद, उन्हींपर विचार किया जाता है।

माधवाचार्यने सर्वदर्शनसंग्रहमें पाणिनीय दर्शनका निरूपण कर सांख्यदर्शनके निरूपणके आरम्भमें कहा है—

'विरोधी परिणामवादके रहते-रहते विवर्तवाद कैसे आवरणीय हो सकता है'। इससे यही ध्वनि निकलती है कि शब्दब्रह्मवेत्ता वैयाकरणोंका अभिमत विवर्तवाद ही है। इससे सुतरां सिद्ध हुआ कि वैयाकरणशिरोमणि भर्तृहरि भी विवर्तवादमें ही निर्भर हैं। इसलिए इस विषयमें विचारकी कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसी किसीको आशङ्का हो सकती है।

इस शङ्काके समाधानको खोजनेके लिए कहीं दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है। देखिए, माधवाचार्यके इस ग्रन्थसे भर्तृहरि विवर्तवादी थे; यह निश्चय हो सकता है, क्योंकि आचार्य वाचस्पतिमिश्रने न्यायकणिकामें (मेडिकल हाल प्रेस, २९३ पृष्ठ) 'ये पुनरभिन्नस्य शब्दब्रह्मणो विवर्तं वा परिणामं वाऽर्थमाचक्षते' इत्यादिसे शब्दब्रह्मवादियोंको परिणामवादी भी कहा है, केवल विवर्तवादी ही नहीं कहा है।

'शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।'

यह वाक्यपदीयपरिणामवादका वचन भी उक्त अर्थमें सहायक है।

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम।'

अनादि और अनन्त जो अविनाशी शब्दतत्त्वरूप ब्रह्म है, जगत्‌के घट, पट आदि विकारसे उसीका विवर्त होता है।

इस पद्यमें स्थित 'विवर्तते' पदके प्रयोगसे भर्तृहरि विवर्तवादी थे, यह निर्णय नहीं किया जा सकता, क्योंकि—

'श्रीलक्ष्मीरमणं नौमि गौरीरमणरूपिणम्।
स्फोटरूपं यतः सर्वं जगदेतद्विवर्तते॥

'वैयाकरणभूषणसार'के मङ्गलश्लोकमें स्थित 'विवर्तते' पदका दर्पणनामक टीकामें 'उत्पद्यते' अर्थ दिखाई देता है। उक्त व्याख्यानके अनुसार 'अनादिनिधनं ब्रह्म' यहाँपर भी 'विवर्तते' पदका 'उत्पद्यते' अर्थ हो सकता है।

इस प्रकार केवल 'विवर्तते' पदके दर्शनसे अतात्त्विक अन्यथाभावरूप विवर्त श्रीभर्तृहरिसम्मत है, ऐसी प्रतिज्ञा नहीं की जा सकती। भगवान् शङ्कराचार्यजीने भी 'रचनानुपपत्ति' अधिकरणमें पूर्वपक्षरूपसे सांख्यसिद्धान्तका उपपादन कर 'त्रिगुणं प्रधानं मृद्वदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना विवर्त्तते' (तीन गुणवाला प्रधान अचेतन ही मिट्टीकी तरह चेतन पुरुषका अर्थ साधनके लिए विचित्र विकारात्मक स्वभावसे विवर्तित होता है) इस प्रकार परिणामवादके तात्पर्यसे 'विवर्त्तते' इस पदका प्रयोग करते हुए विपूर्वक वृत धातु परिणामवाचक है, यह भी सूचित किया है। इससे 'विवर्तते' इस शब्दमात्रके दर्शन होनेसे भर्तृहरिको विवर्तवादी सिद्ध करना नितान्त अशक्य है।

नालन्दा विश्वविद्यालयके महा स्थविर बौद्धदार्शनिकोंमें अग्रगण्य शान्तरक्षितने स्वरचित 'तत्त्वसंग्रहमें' शब्दब्रह्मवादीके मतका दो प्रकारसे उपपादन किया है—वहांपर उन्होंने पहले परिणामवादको लेकर शब्दब्रह्मवादियोंके सिद्धान्तको दिखलाया है—

नाशोत्पादासमालीढं ब्रह्म शब्दमयं परम्।
यत्तस्य परिणामोऽयं भावग्रामः प्रतीयते॥ [तत्त्वसंग्रह १२८]

इसकी व्याख्या महानुभाव कमलशीलने 'तत्त्वसंग्रहपञ्जिकामें' इस प्रकारसे की है—* "पूर्वापरादिविभागरहितमनुत्पन्नमविनाशि यच्छब्दमयं ब्रह्म तस्यायं रूपादिर्भावग्रामः परिणामः प्रतीयते। यथोक्तम्—

* 'पूर्व, अपर आदि विभागोंसे रहित, अनुत्पन्न और अविनाशी जो शब्दमय ब्रह्म है उसीका यह रूपादि भावसमूह परिणाम प्रतीत होता है। जैसा कि कहा है—"अनादिनिधनम्"

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ इति ।

तत्र आदिः—उत्पादः, निधनं—नाशः—तदभावादनादिनिधनम् । अक्षरमिति । अकाराद्यक्षरस्य निमित्तत्वात् । एतेनाभिधानरूपेण विवर्त्तो दर्शितः । अर्थभावेनेत्यादिना पुनरभिधेयविवर्त्तः । प्रक्रियेति भेदाः । ब्रह्मेति नाम सङ्कीर्तनम् । अस्यैव श्लोकस्यार्थं निर्दिशति—"नाशोत्पादासमालीढमिति ।"

और इसी तरह 'अनादिनिधनं ब्रह्म' इस वाक्यपदीयके प्रथम पद्यके परिणामवादमें तात्पर्यका आश्रयण करके शब्दब्रह्मवादियोंके मतको दिखलाया है । इसके आगे यहींपर अर्थात् शब्दब्रह्मपरीक्षाप्रस्तावमें ही विवर्तवादपक्षके अभिप्रायसे भी शब्दब्रह्मवादियोंके मतको दिखलाते हुए वैयाकरणोंके विवर्तवादपक्षके आश्रयणको भी सूचित किया है—

* अथाविभागमेवेदं ब्रह्मतत्त्वं सदा स्थितम् ।
अविद्योपप्लुवाल्लोको विचित्रं त्वभिमन्यते ॥

[तत्त्वसंग्रह १४४]

यहांपर इसकी कमलशीलप्रणीत निम्न लिखित व्याख्या मिलती है—† "अथापि स्यादविभक्तमेव सदा ब्रह्मात्मकं तत्त्वमविकारि परमार्थतोऽवस्थितम् । न तस्य परमार्थेन परिणामः, किन्त्वविद्यातिमिरोपहतबुद्धिलोचना नीलादिभेदेन विचित्रमिव मन्यन्ते । यथोक्तम्—

यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः ।
सङ्कीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते ॥

इत्यादि । तत्र—श्लोकमें, आदि—उत्पाद, निधन—नाश, इन दोनोंका अभाव होनेसे [वह ब्रह्म] अनादिनिधन है । 'अक्षरम्' इत्यादि । अर्थात् अकारादि अक्षरोंका वह निमित्त है । इस 'अक्षर' इत्यादि ग्रन्थसे अभिधानरूपसे विवर्त दिखलाया है । 'अर्थभावेन' इत्यादिसे फिर अभिधेयरूपसे विवर्त दिखलाया है । प्रक्रिया अर्थात् अनेक भेद । 'ब्रह्म' यह नामका सङ्कीर्तन है । इसी श्लोकके अर्थका निर्देश करते हैं—'नाशोत्पाद०' इत्यादि ॥"

* यह सदा विभागरहित ही ब्रह्मात्मक तत्त्व स्थित है । अविद्याके उपप्लवसे इसे संसारी जीव विचित्र-सा देखता है ।

† अविभक्त ही सदा यह ब्रह्मात्मक तत्त्व विकाररहित परमार्थतः अवस्थित है । परमार्थतः उसका परिणाम नहीं है, किन्तु अविद्यारूप अन्धकारसे जिनके बुद्धिरूप नेत्र उपहत हैं वे ही नील आदि भेदसे विचित्र-सा मानते हैं । जैसा कि कहा है—

जैसे विशुद्ध आकाशको तिमिर रोग से उपप्लुत मनुष्य विचित्र मात्राओंसे सङ्कीर्ण-सा समझता है, वैसे ही यह अमृत निर्विकार ब्रह्म अविद्याके कारण कलुषत्व-सा होकर विवर्तसे भेदरूपको प्राप्त हो गया है [वस्तुतः भेद इसमें है नहीं] ।

तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्त्ततः ॥ इति ।

इस ग्रन्थसे 'शब्दब्रह्मवादी' विवर्तवादपक्षावलम्बी हैं, यह साफ-साफ प्रतीत होता है । यहांपर एक बात और विचारणीय यह है कि 'तत्त्वसंग्रहमें' शब्दब्रह्मवादी वैयाकरणोंके सिवा अन्य कोई भी विवर्तवादितया उपन्यस्त नहीं है ।

श्रीमृगेन्द्रागमवृत्तिमें परमोक्षनिरासप्रक्रममें काश्मीरके भट्टनारायणकण्ठने वेदान्तसिद्धान्तका उपक्षेप करते हुए भगवान् भर्तृहरि ही एक विवर्तवादी हैं, यह दिखलाया है । "यथा विशुद्धमाकाशम्" ये पूर्वोक्त दोनों कारिकाएँ भर्तृहरिकी बनाई हुई हैं, यह भी उन्होंने कहा है । देखिए—

'वेदान्तेऽप्येक एवात्मा चिदचिद्व्यक्तिलक्षितः ।'

[श्रीमृगेन्द्रागम ११२]

इस सूत्रकी वृत्तिकार नारायणकण्ठने यों व्याख्या की है—* 'आत्मैवेदं जगत्सर्वम्' । [छा० ७।२५।२], 'नेह नानास्ति किञ्चन' [बृ० ४।४।१९] तथा

---

* 'आत्मैवेदं०' (यह सारा जगत् आत्मरूप ही था), 'नेह नानास्ति किंचन' (यहाँ ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं था), 'एको वशी०' (सम्पूर्ण भूतोंमें रहनेवाला एक ही वह एक विश्वको अनेक प्रकारका बना रक्खा है) इत्यादि श्रुतियोंसे मालूम पड़ता है कि परमात्मा ही सकल चिदचिद्भावोंके आविर्भाव और तिरोभाव स्वरूप, परिपूर्ण छः गुणोंसे युक्त, स्वतन्त्र, एक होता हुआ भी संसारी होता है । विविध मनरूप उपाधिभेदके तत्-तत् स्वभावान्तरका अनुविधान करनेवाला ब्रह्म यदि यथावत् ज्ञात हो जाय, तो मोक्षके लिए होता है, यह वेदान्ती मानते हैं । वही सत्त्वरूप उपाधिमें शान्त-सा, रजोगुणकी अधिकतामें रागी-सा और अज्ञानात्मक अन्धकारमें तो मुग्ध-सा विराजमान है । उससे पृथक् और कुछ भी नहीं है, क्योंकि उसीकी तरह-तरहके वैचित्र्यसे अवस्थितिके असत्य होनेके कारण द्वैतप्रतिभास दो चन्द्रके ज्ञानकी तरह भ्रान्त है । इसी बातको भगवान् भर्तृहरिने कहा है—जैसे विशुद्ध आकाशको तिमिर रोगसे उपप्लुत मनुष्य विचित्र मात्राओंसे सङ्कीर्ण-सा समझता है वैसे ही यह अमृत निर्विकार ब्रह्म अविद्यासे कलुष-सा होकर भेदरूपमें परिवर्तित हो जाता है ['कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्ततः' ऐसा 'तत्त्वसंग्रहपञ्जिका'में पाठ मिलता है, जिसका अनुवाद पहले हो चुका है] ।

इस प्रकार परमात्मस्वरूप यह परब्रह्म अभिन्न ही है । इसका मनके संसारिक धर्म सुख, दुःख आदिके साथ योग है । वस्तुतः परमात्मा तो जलप्रतिबिम्बभेदरूप उपाधियोंसे जैसे अभिन्न भी सूर्य भिन्न-सा प्रतीत होता है वैसे ही अभिन्न होता हुआ भी भिन्न-स भासित होता है । वैसा ही भगवती श्रुति भी कहती है—जैसे ज्योतिःस्वरूप सूर्य भिन्न-भिन्न जलमें प्रविष्ट होकर भिन्न-भिन्न आकारमें दीखता है, वैसे ही एक ही वह परमात्मा सब भूतोंमें उपाधिसे भिन्नरूप प्रतीत होता है ।

'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं विश्वं बहुधा यः करोति'। [कठ० ५।१२] इत्यादि श्रुतिभिः परमात्मैव सकलचिदचिद्भावाविर्भावतिरोभावप्रकृतिभूतः परिपूर्णषाड्गुण्यवैभवः स्वतन्त्रः एकोऽपि सन् संसरति। तत्तद्विविधमनोलक्षणोपाधिभेदस्वभावान्तरानुविधायी यथावदवगतोऽभ्युदयाय भवतीति वेदान्तविदः प्रतिपन्नाः। स एव हि सत्त्वात्मन्युपाधौ शान्त इव रजोबहुले तु रागवानिवाज्ञानात्मके तु तमसि मुग्ध इवास्ते। न तु ततोऽन्यत् पृथक् किञ्चित् अवतिष्ठते। तस्यैव तथा तथा वैचित्र्येणावस्थितेरसत्यत्वाद् द्वैतप्रतिभासस्य द्विचन्द्रादिज्ञानवद् भ्रान्तत्वात्। तथा चाह भगवान् भर्तृहरिः—

यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
सङ्कीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते॥
तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपे प्रवर्त्तते॥

एवं चाभिन्नमेवेदं परं ब्रह्म परमात्मलक्षणम्, मनसां हि संसारधर्मैः सुखदुःखादिभिर्योगः। परमात्मा तु सूर्य इवाम्भःप्रतिबिम्बभेदैरुपाधिभिरभिन्नोऽपि भिन्न इव प्रतिभाति। तथा च श्रुतिः—"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बाथ एकोऽनुगच्छत्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा।" इति।

'अनादिनिधनं ब्रह्म' इस वाक्यपदीयके प्रथम पद्यकी यद्यपि तत्त्वसंग्रहपञ्जिकामें परिणामवादपरक मानकर व्याख्या की गई है, तथापि वाक्यपदीयकी टीकामें पुण्यराजने विवर्त्तवादपरक मानकर व्याख्या की है। पुण्यराजने "विवर्ततेऽर्थभावेन" इस प्रतीकको लेकर "एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्या विभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः स्वप्नविषयप्रतिभासवत्" (तत्त्वसे अच्युत एक ब्रह्मका जो भेदके अनुकरणसे असत्य, विभक्त अन्यरूपका उपग्रह (ज्ञान) है वही विवर्त है, जैसे स्वप्नमें विषयोंका प्रतिभास) ऐसा कहा है। और विस्तारपूर्वक विवर्तवादपक्षमें ही इस कारिकाकी योजना की है।

इस तरह ग्रन्थकारोंने उन-उन स्थलोंमें शब्दब्रह्मवादियोंका परिणामवादी और विवर्तवादी रूपसे उल्लेख किया है। स्फोटनामक शब्दब्रह्मको समझनेवाले वैयाकरणोंकी परिणामवाद अथवा विवर्तवादमें अभिमति है यह असङ्कीर्णरूपसे (साफ-साफ) निर्णय नहीं किया जा सकता। इस प्रकारके प्रस्तुत शास्त्रार्थमें यह निष्कर्ष मालूम पड़ता है—

महाभाष्यमें भगवान् पतञ्जलिने
"ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते" (१।१।७०)

(शब्दोंके दो भेद हैं—ध्वनि और स्फोट। उनमें ध्वनि लक्षित होती है और स्फोट अनुमेय है)।

इस तरह कहींपर स्फोटकी चर्चा की है। परन्तु भगवान् भर्तृहरिने ही वैयाकरणोंमें स्फोटसिद्धान्तको विशेष करके फैलाया है। भर्तृहरिके शिष्योंमें ग्रन्थके व्याख्यानभेदसे दो पक्ष प्रचलित हैं—परिणामपक्ष और विवर्तपक्ष।

भर्तृहरिके सभी शिष्योंमें समयके प्रभावसे परिणामवादियोंके सम्प्रदायके छिन्न-भिन्न हो जानेपर विवर्तवादियोंका सम्प्रदाय अधिक जोड़ पकड़ा। उस समय विवर्तवादियोंके सम्प्रदायका अनुसरण करके पुण्यराजने वाक्यपदीयका विवरण किया था। और कैयट आदिने भी विवर्तवादका ही आश्रयण किया था। सर्वदर्शनकार माधवाचार्यने विवर्तवादका ही शब्दब्रह्मवादियोंमें अधिक प्रचार देख कर सर्वदर्शनसंग्रहके पाणिनीयदर्शनप्रस्तावमें शब्दब्रह्मवादियोंके अभिमत होनेसे उसी विवर्तवादका निरूपण किया है।

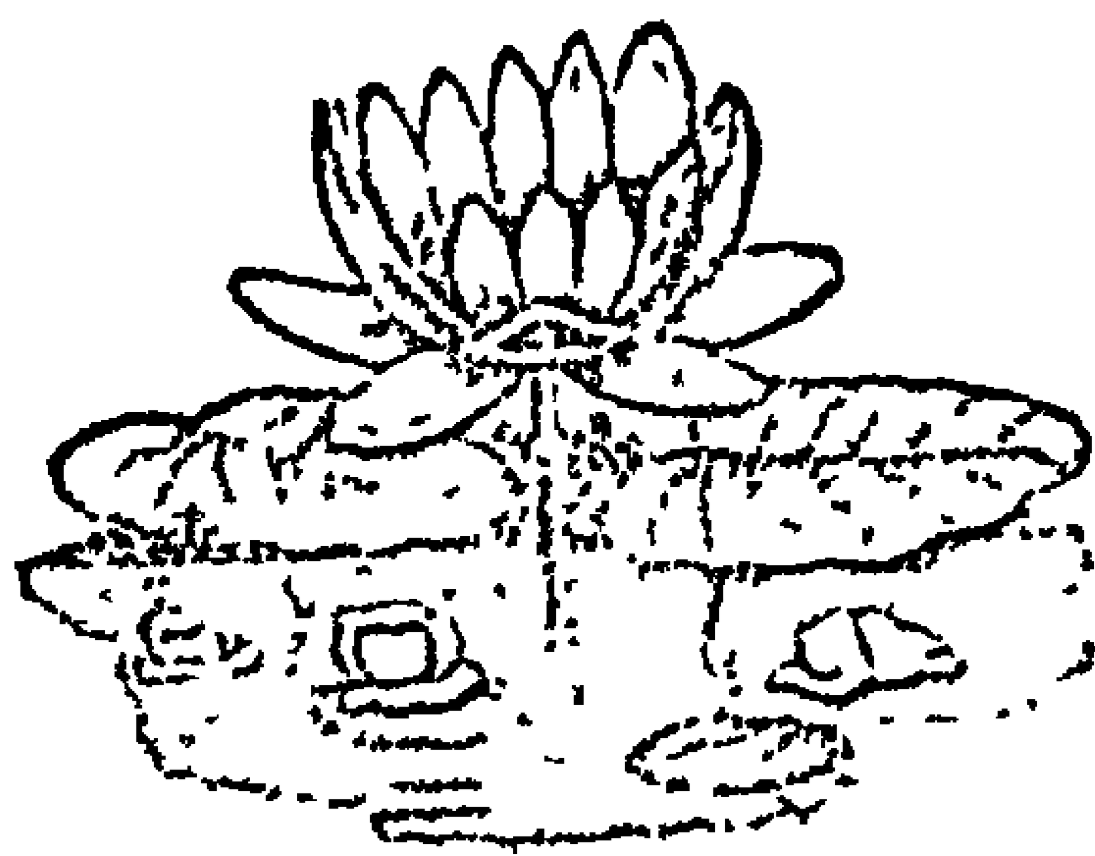
काश्मीरके भट्टनारायणकण्ठने अपने अभ्युदयकालमें भर्तृहरिके शिष्योंमें विवर्तवादपक्षका प्राबल्य देखकर 'भर्तृहरिका विवर्तवाद' ही अभिमत है, ऐसा निश्चय-कर श्रीमृगेन्द्रागमतन्त्रकी वृत्तिमें भर्तृहरिपक्षपरक मानकर विवर्तवादका निरूपण किया है। यद्यपि भगवान् शङ्कराचार्य भी विवर्तवादी हैं और आज कल विवर्तवादियोंमें उनके अनुयायियोंका ही प्राधान्य है, तथापि नारायणकण्ठके समयमें वैसा उनका प्राधान्य नहीं था, किन्तु ऐसी प्रतीति होती है कि भर्तृहरिके सम्प्रदायके विवर्तवादियोंमें ही प्राधान्य था। भर्तृहरि और भगवान् शङ्कराचार्य इन दोनोंका किसी किसी विषयमें मतभेद होनेपर भी विवर्तवादांशमें तो ऐक्यमत ही है।

पहले कहा गया है कि "यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः" इत्यादि ये दोनों कारिकाएँ नारायणकण्ठकी मृगेन्द्रवृत्तिमें भर्तृहरिनिर्मित होनेसे दिखलाई गई हैं। किन्तु कमलशीलने तो किसीके नामसे इन वचनोंका व्यपदेश नहीं किया है। "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्" इत्यादि कारिकाके निर्माताका नामनिर्देश भी कमलशीलने नहीं किया है। लेकिन वह कारिका आजकल वाक्यपदीयके आरम्भमें मिलती है और "यथाविशुद्धमाकाशम्" इत्यादि दोनों कारिकाएँ तो वाक्यपदीयमें कहींपर भी नहीं दिखाई देती हैं। "यथा विशुद्धमाकाशम्" इत्यादि दोनों कारिकाएँ साफ-साफ विवर्तवादकी प्रतिपादिका हैं। उक्त दोनों कारिकाएँ भर्तृहरिके ग्रन्थके भीतर मिलती हैं अतः "अनादिनिधनं ब्रह्म" इसका परिणामवादरूपसे व्याख्यान करना नितान्त असमञ्जस होगा और शब्दब्रह्मवादियोंको जो परिणामवादी बतलाया गया है वह भी निरालम्बन

होगा। इस दशामें एक ही आचार्य भर्तृहरिको सम्प्रदायके भेदसे ग्रन्थव्याख्यान-भेदका कुछ ख्याल न रखकर परिणामवादी और विवर्तवादी दोनों सहसा बतला देना भी कभी नहीं बन सकता। इसलिए भर्तृहरिके शिष्योंमें ही कोई आचार्य विवर्तवादपक्षावलम्बी हो गया, जिसने स्वमतप्रतिपादनके लिए विवर्तवादको कहनेवाली निरुक्त दोनों कारिकाओंकी रचना की। वैसी अन्य कोई कारिकाएँ भर्तृहरिके ग्रन्थमें यद्यपि नहीं मिलतीं तथापि 'ये हरिप्रणीत हैं' ऐसा समझ कर विवर्तवादका समर्थन करनेवाली उन कारिकाओंको अनेक ग्रन्थकारोंने उद्धृत किया है। समयके प्रभावसे उस आचार्यका वह ग्रन्थ आजकल कहीं देखनेमें नहीं आता। उस ग्रन्थके प्रणेता आचार्य भी भर्तृहरिके सम्प्रदायके ही अन्दर थे, अतः भर्तृहरिके नामसे ही वे कारिकाएँ प्रसिद्ध हो गईं।

इस प्रकार भर्तृहरिके शिष्योंमें दो सम्प्रदाय प्रवर्तित हो गये—एक परिणामवादियोंका और दूसरा विवर्तवादियोंका। उन दोनोंमें भी आज कल परिणामवादियोंका सम्प्रदाय बिलकुल छिन्न-भिन्न हो गया है और विवर्तवादियोंका सम्प्रदाय प्रचलित है। परिणामवादियोंकी कोई भी टीका इस समय वाक्यपदीयके ऊपर कहीं नहीं दिखाई देती, अथवा उनके मतका अनुसरण करके किसी ग्रन्थका किसी आचार्यने निर्णय किया हो, यह भी हम लोग कहीं नहीं देखते। इस प्रकार भर्तृहरिके शिष्योंमें परिणामवादियोंका सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है, अर्वाचीन विवर्तवादियोंके सम्प्रदायके प्रबल अभ्युदयसे वह सम्प्रदाय एक-ब-एक नष्ट हो गया, ऐसी सम्भावना की जा सकती है।

इस विषयपर बहुत कुछ कहा जा सकता है, परन्तु लेख न बढ़ जाय और 'अच्युत'के प्रेमी पाठकोंका अमूल्य समय नष्ट न हो, एवं विद्वान् लोग इशारामात्रसे स्वयं बहुत कुछ ऊहा-पोह कर सकते हैं, इसलिए हम इसे यहीं समाप्त करते हैं।



अद्वैतदर्शन

[ले०—पं० श्रीअमृतलालशास्त्री, वेदान्तव्याकरणतीर्थ, साहित्यार्णव]

(चैत्राङ्कसे आगे)

उक्त श्रुतिवाक्योंसे यह निश्चित हुआ कि परमात्मज्ञान ही मृत्युरूप संसार-तरणपूर्वक परमानन्दावाप्तिरूप मोक्षका साधन है। यह सिद्धान्त युक्तिसे भी सङ्गत है, क्योंकि सब प्रपञ्च, द्रष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीन विभागोंमें अन्तर्भूत है, और उसका परमतत्त्व दृक्—चैतन्यरूप परमात्मा ही है। वस्तुतत्त्वज्ञानसे ही मोहकी निवृत्ति होती है। सब प्राणीको वस्तुका यथार्थस्वरूप नहीं जाननेसे और केवल बाह्य इन्द्रियगोचर शब्दस्पर्शादिगुणविशिष्ट रूपके ज्ञानसे ही मोह और राग होता है। प्रपञ्चका परमतत्त्व, नामरूपात्मक विकारोंमें जब तिरोभूत हो जाता है, तब मोहादि मायाविलास उत्पन्न होते हैं; और जब परमात्मतत्त्वज्ञान होता है तब प्रपञ्च अदृश्य हो जाता है और मोह शान्त हो जाता है। आचार्यपादने स्वात्मनिरूपणमें कहा है कि—

"दन्तिनि दारुविकारे दारु तिरोभवति सोऽपि तत्रैव।
जगति तथा परमात्मा परमात्मन्यपि जगत्तिरोधत्ते॥"

जिस प्रकार काठके हाथीमें काठ ढँक जाता है और वह हाथी भी जब उसका कारणरूप काठका ज्ञान हो जाता है तब उस काठसे ढँक जाता है, उसी प्रकार जगत्में परमात्मा और परमात्मामें जगत् तिरोभूत हो जाता है। हाथीको देखकर लड़के राजी होते हैं और यदि कोई उस हाथीको उससे खींच ले, तो वे लड़के क्रुद्ध होते हैं; न मिलनेसे रोते हैं। परन्तु जब उसी हाथीका कारणीभूत काष्ठ ही था तब उस बच्चेको उसमें राग-द्वेष कुछ नहीं होता था। इसी तरह तत्त्वज्ञान-रहित संसारी लोग बालकतुल्य, नामरूपमें मुग्ध होते हैं और तद् द्वारा अनेक कष्ट पाते हैं, अत एव काठक श्रुतिमें—

"पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।"

(अज्ञानी पुरुष बाह्य विषयोंकी तरफ दौड़ते हैं और वे ही मृत्युके फैले हुए पाशमें फसते हैं।)

इस वचनसे बाह्य विषयाभिलाषी बालक कहा गया है, और विषयाभिलाष-का फल मृत्युपाशमें पतन बतलाया गया है।

विषयमुग्ध मनुष्यको मलिन पदार्थमें भी कैसी सुन्दरताकी भ्रान्ति होती है, इसका भर्तृहरिने निरूपण किया है—

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धि जघनं
मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम्॥

स्त्रीके स्तन जो मांसकी पोटली हैं उन्हें सुवर्ण कलशकी उपमा दी जाती है। कफके आगार मुखकी चन्द्रसे तुलना की जाती है; मूत्रादिसे आर्द्र जघनभागको हस्तिकी सूँडका सादृश्य कहा जाता है, इस तरह अत्यन्त निन्द्यरूपको कविजनोंने व्यर्थमें ही कल्पनाबलसे श्रेष्ठ बना रक्खा है।

इसके मोहमें फसकर जीव कैसे कष्ट पाते हैं, यह सर्वजनविदित है। मोहकी महिमा अगाध है इस विषयमें भी भर्तृहरिने अच्छा कहा है—

अज्ञानन्माहात्म्यं पततु शलभो दीपदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येतद्वयमिह विपज्जालजटिला-
न्न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा॥

पतङ्गको अग्निकी सामर्थ्यका ज्ञान न होनेसे वह दीपज्वालामें गिरे, मीन भी अज्ञानसे मत्स्यवेधनसंयुक्त मांस खाय। परन्तु हम लोग विषयोंको विपत्तिके जालसे भरे जानते हुए भी उन्हें नहीं छोड़ते। अपसोस, यह मोहकी महिमा कैसी विचित्र है।

इस महामोहकी आत्यन्तिक निवृत्ति तत्त्वज्ञानसे ही होती है। तत्त्व क्या है, इस प्रश्नके उत्तरमें न्यायदर्शनभाष्यकार वात्स्यायन मुनिने कहा है—"किं पुनस्तत्त्वम्? सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः। सत् सदिति गृह्यमाणं यथा भूतमविपरीतं तत्त्वं भवति असच्चासदिति गृह्यमाणं यथा भूतमविपरीतं तत्त्वं भवति।" इसका तात्पर्य यह है—विपर्ययरहित यथार्थ ज्ञानद्वारा प्रतीयमान सत्य वस्तुका सत्यत्व और असत्यका असत्यत्व ही तत्त्व है, यहांतक भेदवादी और अभेदवादी आचार्योंका मतैक्य है। आगे सत् पदार्थ और असत् पदार्थके निरूपणमें उनमें बड़ा मतभेद हो गया है। न्यायादिदर्शनकार भेदवादी आचार्य, इन्द्रियानुमानादिजन्य प्रतीतिमात्रका अवलम्बन कर व्यवहारदशामें

जिसका बाध नहीं होता है, ऐसे परमाणु, काल आकाश आदिको और घट, पट आदि कार्यको सत्ताविशिष्ट—सत्—मानते हैं। और जिसकी कदापि सत्ता नहीं है, ऐसे शशशृङ्गादिको एवं भ्रान्तिसे प्रतीत होनेपर भी उत्तरकालमें बाधित शुक्ति-रजतादिको असत् मानते हैं।

अभेदवादी आचार्य इन्द्रियानुमानादिजन्य प्रतीतिको अविद्याख्य दोषमूलक होनेसे तत्त्वावेदक नहीं मानते हुए भ्रमप्रमादादिपुरुषदोषरहित अपौरुषेय वेदान्त-वाक्यतात्पर्यविषयीभूत अर्थको ही तत्त्वावेदक मानकर उपक्रमोपसंहारादिषड्-विधतात्पर्यलिङ्गद्वारा श्रुतिवाक्योंके तात्पर्यका निर्णयकर देशकालवस्तुरूप त्रिविधपरिच्छेदरहित निर्विकार स्वयंप्रकाश वस्तुको ही परमार्थसत् कहते हैं। तद्भिन्न सब दृश्य–प्रपञ्चको उक्त त्रिविधपरिच्छेदविशिष्ट होनेसे और तत्त्वज्ञानबाध्य, परप्रकाश्य होनेसे सद्वस्तुमें अध्यस्त—मिथ्या—कहते हैं।

भेदवादी काल आकाशादि अनेक पदार्थोंको सर्वव्यापक सत्य मानते हैं। अभेदवादी एक ही वस्तु को सर्वव्यापक सत्य मानते हैं।

भगवद्गीतामें श्रीकृष्ण परमात्माने अर्जुनके शोक-मोहकी निवृत्तिके लिए ऐसा ही तत्त्वोपदेश दिया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

इस श्लोकमें यह स्पष्ट है। जन्म-विनाशशील देह और घट, पट आदि पूर्वोत्तर कालमें नहीं रहते हैं; केवल उत्पत्तिके अनन्तर उनकी सत्ताका व्यवहार होता है, इसलिए वे सब कालपरिच्छिन्न हैं। और मूर्त होनेसे एकदेशमें ही रहते हैं, सर्वदेशमें उनकी सत्ता नहीं है, इससे वे देशपरिच्छिन्न हैं। एवं स्वगत सजातीयविजातीय पदार्थसे उनका भेद होनेसे वस्तुपरिच्छिन्न भी हैं अतः उनको असत् कहा है। ऐसे असत् पदार्थका भाव = त्रिविधपरिच्छेदशून्य पारमार्थिक सत्ता नहीं है। और आत्मस्वरूपका कोई देश या कालमें अभाव नहीं है, क्योंकि उसके अभावका साधक कोई प्रमाण नहीं है; एवं सर्वदृश्य–प्रपञ्चका अधिष्ठानरूप होनेसे किसीसे उसका भेद भी नहीं है, अतः त्रिविधपरिच्छेदरहित होनेसे वह सत्य है। उसका अभाव=त्रिविधपरिच्छेद कभी नहीं हो सकता है। इन दोनोंका निर्णय तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने किया है, यह इस श्लोकका तात्पर्य है।

एक ही वस्तुके सत्त्व और असत्त्व ये दो स्वभाव नहीं हो सकते। दोमें एकको वास्तविक और दूसरेको औपाधिक या काल्पनिक अवश्य कहना पड़ेगा। जैसे जलका स्वभाव शैत्य ही है। उसमें अग्नि अथवा सूर्यकिरणोंके संयोगसे 'उष्णं जलम्' (पानी गरम है) ऐसी जो प्रतीति होती है वह भ्रमात्मक है, क्योंकि उष्णत्व तेजका ही धर्म है। तेजके संयोगसे तन्निष्ठ उष्णताके द्वारा जलधर्म शैत्यका अभिभव होता है, इससे यद्यपि शैत्यकी प्रतीति नहीं होती है तथापि शैत्य ही जलका स्वभाव निश्चित है। एवं जलमय चन्द्र-मण्डलमें प्रतिबिम्बित सूर्यकी किरणें पृथ्वीपर आती हैं, उनमें शैत्यकी प्रतीति होती है अतएव चन्द्रको शीतांशु कहते हैं; परन्तु शैत्य तेजका धर्म नहीं है, उष्णत्व ही तेजका धर्म है, इसलिए वह प्रतीति भी भ्रमात्मक है। वहां भी चन्द्रमण्डलस्थ जलसंपृक्त सूर्यकिरणका औष्ण्य जलगत शैत्यसे अभिभूत हो जाता है। ऐसी अनेक प्रतीतियाँ भ्रमात्मक होती हैं। वैसे ही दृश्य—प्रपञ्चका स्वभाव असत्त्व ही कहना युक्त है। उसका किसी काल और देशमें सत्त्व, तथा किसी काल और देशमें असत्त्व, ऐसा कहना युक्तिशून्य है। सत्को सर्वदा सर्वदेशमें सत् ही होना चाहिए और असत्को सर्वदा सर्वदेशमें असत् ही रहना चाहिए। सत् कभी असत् नहीं बन सकता है और असत् कभी सत् नहीं बन सकता है। स्वभाव-लोप अशक्य है। स्वभाव अभिभूत अथवा निरुद्ध होता है; परन्तु उसका परिवर्तन नहीं होता है। अतः प्रपञ्चको यदि सत्य कहा जाय, तो उसे सर्वदा सर्वकालमें सत्यरूपमें ही रहना चाहिए; परन्तु प्रपञ्चान्तर्गत सभी पदार्थ विनाशी और परिच्छिन्न हैं, इसलिए प्रपञ्चका स्वभाव अनृतत्व ही कहना आवश्यक है। उस प्रपञ्चके अनृत, जड़ और दुःखरूप होनेपर भी उसमें जो सत्ता, चैतन्य और आनन्दकी प्रतीति होती है वह परमात्माका ही स्वभाव है। और परमात्मामें मायाके बलसे कल्पित तादात्म्यसम्बन्ध होनेसे प्रपञ्चमें सत्तादि प्रतीत होते हैं।

सत्ता क्या है? इसका विचार उपस्थित होनेपर भेदवादी, अर्थक्रियाकरिता (प्रयोजनसंपादकता) अथवा सत्तानामक परसामान्य (जाति) को सत्ता कहते हैं और सत्ताके आश्रयको सत् कहते हैं। परन्तु इस मतमें अनवस्थादि अनेक दोष आते हैं। जब इतर पदार्थमें सद्व्यवहार, अर्थक्रियाकारिता या सत्ताके सम्बन्धसे होता है; तब अर्थक्रियाकारिता या सत्ताका सत्त्व सिद्ध करनेके लिए

दूसरी अर्थक्रियाकारिता या सत्ताका अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। एवं उसके आगे भी भिन्न-भिन्न उक्त धर्मका स्वीकार आवश्यक होगा, यह अनवस्था दोष है। यदि दूसरी अर्थक्रियाकारिता या सत्ता न मानी जाय, स्वयमेव स्वसाधक कहा जाय, तो आत्माश्रय दोष होगा। अतः प्रकाशमानत्व ही सत्त्व कहना आवश्यक होगा। इसमें भी यदि सामान्यतः प्रकाशमान पदार्थको सत् कहेंगे, तो मरुभूमिमें जो मृगतृष्णा-जल प्रतीत होता है, वहां जल प्रकाशमान है किन्तु वास्तवमें जल नहीं है। उस जलसे पिपासा शान्त नहीं होती है, अतः वह मिथ्या है; ऐसा निश्चय होता है। वहाँ सत्यत्वके लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी। इसलिए अबाधित स्वयंप्रकाशत्व ही सत्त्वका निर्वचन है। ऐसा सत्त्व, परमात्माका स्वरूप है, अतः परमात्मा ही केवल एक सत्पदार्थ है।

सामवेदकी छान्दोग्य-उपनिषद्में आरुणि ऋषिने अपने पुत्र श्वेतकेतुको "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादि वचनों द्वारा नामरूपात्मक कार्योंका मिथ्यात्व और कारणका सत्यत्व बतलाया है। और आगे त्रिवृत्करणोपदेशानन्तर "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्" इत्यादि क्रमसे परमकारणमें ही सत्यत्व बतलाया है। और तप्तपरशुग्रहणदृष्टान्तसे मायाकार्य अनृत विकारात्मक प्रपञ्चमें सत्यत्वबुद्धिवालेको अनर्थप्राप्ति और सत्यब्रह्मनिष्ठको मोक्षप्राप्तिका प्रतिपादन किया है।

अतः जो वादी प्रपञ्चके सत्यत्वप्रतिपादनकरनेका दुराग्रह करते हैं उनका मत इन श्रुतिवाक्योंसे और उक्त भगवद्वाक्यसे विरुद्ध होनेसे सर्वथा अनादरणीय है। (क्रमशः)



गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके दार्शनिक विचार

[ले० साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी]

(गताङ्क से आगे)

व्यापक ब्रह्म विरज वागीशा। माया मोह पार परमीसा॥
सो अवतार सुनेउ जगमाँही। देखेउ सो प्रभाव कछु नाहीं॥

यहां भी दिये हुए विशेषणोंसे अद्वैत ब्रह्म ही सूचित है। अतः अर्थवादसे भी अद्वैतवादकी ही पुष्टि होती है।

(६) उपपत्ति—

किसी विशेष बातको सिद्ध करनेके लिए बाधक प्रमाणोंके खण्डन और सिद्धान्तके मण्डनको उपपत्ति कहते हैं। उपक्रमोपसंहारसे तात्पर्यके दोनों किनारोंके स्थिर हो जानेपर बीचका मार्ग उपपत्तिके बलपर ठीक किया जाता है।

अब यह देखना है कि गोस्वामीजीने अद्वैतसिद्धान्तकी उपपत्ति किस प्रकार की है।

ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देखहिं ब्रह्मसमान सब माहीं॥

करके ज्ञानकी परिभाषा की—

झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥

कहकर अज्ञानसे (द्वैत) जगत्की उत्पत्ति कही, अब द्वैतकी निन्दा करके खण्डन करते हैं—

(१) क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।
(२) द्वैतरूप तम कूपपरौं, नहिं अस कछु जतन बिचारौं॥
(३) सेवत साधु द्वैतभय भागे।

जो कुछ द्वैतवर्णन श्रीरामचरितमानसमें है, वह व्यवहारिक सत्य लेकर है।

भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेव परं बलम्।

द्वैतमें गिरे हुए जीव द्वैतका आश्रय करके ही उठ सकते हैं। व्यवहारिक सत्य यही है कि 'माया बस परिछिन्न जड़ जीवकी ईस समान'। अतः 'सेवकसेव्य-भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि' यह भी भलीभाँति उपपन्न होता है। यही सम्बन्ध परिपुष्ट होकर तादात्म्यभावमें परिणत होता है।

तस्यैवाहं, ममैवासौ, स एवाहमिति त्रिधा।

तदीयभाव ही पहली सीढ़ी है, उसके बिना काम चल नहीं सकता। दूसरी सीढ़ी मदीयभाव है। जैसे—

तरै न बिनु सेए मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥

तीसरी सीढ़ी तादात्म्य है। किसी कविने अच्छा कहा है कि—

'दासोऽहमिति मे बुद्धिः पुरासीन्मधुसूदने।
दाकारोपहृतस्तेन गोपीवस्त्रापहारिणा ॥

भुसुण्डिजी भी कहते हैं—

जौ सबके रह ज्ञान एक रस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस ?
परवस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता ॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। विनु हरि जाय न कोटि उपाया ॥

अर्थात् एक रसज्ञान न होना ही जीव बनाये हुए हैं। एक रसज्ञान न रहनेका कारण देते हैं कि वह मायाके परवश है। मायाने भेद कर रक्खा है, वह भेद भी झूठा है। क्योंकि झूठी मायाका किया हुआ भेद कहाँ तक सच्चा हो सकता है। फिर भी वह झूठा भेद ऐसा प्रवल है कि विना हरिकृपाके कोटि उपायोंसे भी नहीं जाता। जैसे—

तबसे मोहि न व्यापी माया। जब ते रघुनन्दन अपनाया ॥

यही शैली अध्यात्मरामायणकी भी है। जिसका वहुत कुछ अनुसरण गोस्वामीजीने किया है।

यही वात वाल्मीकिजी कहते हैं—

'तुम्हरी कृपा तुमहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत-उरचंदन ॥
सो जाने जेहि देउ जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं होई जाई ॥

यहांपर दूसरे तुमहिंका अर्थ—'तुम्हारा' करना हिन्दी व्याकरणकी अनभिज्ञता ही प्रकट करना है। यही वात लोमश, भुसुण्डि-संवाद और ज्ञानदीप तथा भक्तिचिन्तामणिके तुलनात्मक दृष्टान्तमें दिखलाई गई है ॥

भुसुण्डि-लोमश-सम्वाद

पूर्व जन्ममें भगवान् शङ्करसे वर पाकर एक ब्राह्मण बचपनसे ही वैराग्यवान् हुआ।

छूटी त्रिविध इषना गाढ़ी। एक लालसा उर अति वाढ़ी ॥
रामचरनपंकज जब देखौं। तब निज जन्म सुफल करि लेखौं ॥

इसका साधन जाननेके लिये वह मुनियोंके आश्रमोंमें घूमने लगा। पर—

जेहि पूछों सो मुनि अस कहई। ईश्वर सर्वभूतमय अहई ॥

सर्वत्रसे कोरा जवाव मिलता गया कि वह तो चक्षुका विषय नहीं है। वह सर्वभूतमय है, पर—

निर्गुन मत नहिं मोहि सोहाई। सगुन ब्रह्मरति उर अधिकाई ॥

सो उस ब्राह्मणको यह मत न रुचा। अन्तमें वह लोमश ऋषिके पास गया।

उन्होंने उसे परम अधिकारी समझा, पर उसमें मुमुक्षुत्व नहीं था। उसे वे लगे ब्रह्मोपदेश देने, ब्रह्मोपदेशका स्वरूप कहा—

'अज अद्वैत अगुन हृदयेसा।
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥
मनगोतीत अमल अविनासी। निर्विकार निरवधि सुखरासी॥
*सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा। वारिवीचि इव गावहिं वेदा॥

ब्राह्मणमें मुमुक्षुत्व नहीं था, अतः उसके हृदयमें यह उपदेश नहीं लगा।

वह हजार कहता गया कि मेरे हृदयमें सगुणदर्शनकी लालसा बाकी है, यदि वह पूरी हो जाय, तो निर्गुण उपदेश सुनूँ। पर ईश्वरकी प्रेरणा कुछ दूसरी थी, उन्हें भक्तकी परीक्षा लेनी थी। मुनिजी निर्गुण मतपर ही तुल गये। लगे सगुणका खण्डन करने। जिसके जीसे जो बात लग जाती है वह दूसरी बात कभी नहीं सुनता। ब्राह्मण देवता भी अड़ गये। बहुत बड़ा हठ करके सगुणका निरूपण करने लगे। विवाद चल पड़ा। जब मुनिजी रुष्ट होकर ज्ञाननिरूपण करने लगे, तब ब्राह्मण देवताने मन लगाकर तो सुनना दूरकी बात है उनकी बात सुनी ही नहीं, उलटा यह सोचने लगे कि द्वैतबुद्धि (भेददृष्टि) के बिना क्रोध कैसे हुआ? और बिना अज्ञानके भेददृष्टि कैसे हुई? इतने बड़े ज्ञानी होनेपर भी मुनिजीमें यदि अज्ञान बना ही है तो, 'मायावश परिछिन्न जड़ जीवकी ईससमान, अर्थात् जीव और ईश्वरकी क्या बराबरी है?।

आदरके साथ न सुननेसे ऐसी ही गड़बड़ी होती है। मुनिजी ईश्वर और जीवके लक्ष्यांशको लेकर परमार्थदृष्टिसे ऐक्य कहते थे, और वे वाच्यांश लेकर व्यवहार-दृष्टि से विचार करते थे। इन्होंने जो बहुत अवज्ञा की, तो मुनिजी को क्रोध आ गया। काक होनेका साप दे दिया। ब्राह्मण देवता काक होकर मुनिजी को प्रणाम किया और उड़ चले।

तब मुनिजी की बुद्धि भगवत्-प्रेरणासे फिरी, लगे पछताने। रुचिके अनुरूप शिक्षा देनी चाहिए। वह सगुण ब्रह्मका दर्शन चाहता है, ब्रह्मोपदेशसे मुक्ति होगी, पर सगुण ब्रह्मका दर्शन तो होगा नहीं, उसे चाहिए थी दूसरी वस्तु, हम बलपूर्वक दूसरी वस्तु देना चाहते थे—यह मेरी ही भूल थी। निदान पछता कर मुनिजीने काकजी को बुलाया। सगुण ब्रह्मके दर्शनका साधनरूप राम मन्त्र दिया। बालकरूप रामका ध्यान बतलाया। रामचरितमानस कहा, और मुनिदुर्लभ वर भी दिये।

इससे स्पष्ट यह विधि निकलती है कि मुमुक्षुत्वसाधनसम्पन्न ब्रह्मसाक्षात्कार

---

* सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा, यह महावाक्य 'तत्त्वमसि'का अनुवाद है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस श्रुतिका अनुवाद गोस्वामीजीने अद्वैतवादानुकूल किया है।

चाहनेवालेको ब्रह्मका उपदेश दो और सगुणका साक्षात्कार चाहनेवालेको उपासना बतलाओ। इस आख्यायिकासे ब्रह्मवादिनी श्रुति 'तत्त्वमसि,' को हेय कहनेसे तो नास्तिककोटिमें पतन होगा। इस आख्यायिका द्वारा भी पारमार्थिक दृष्टिसे ब्रह्मजीवका अभेद और व्यावहारिक दृष्टिसे भेद कहकर अद्वैतवादसिद्धान्तको ही पुष्ट किया।

ज्ञान-दीपक और भक्तिचिन्तामणि

ज्ञानमार्ग लोमशजीके ब्रह्मोपदेशकी प्रक्रिया है। और भक्तिमार्ग भुसुण्डिजीके इप्सित भक्तिकी प्रक्रिया है। यहाँ ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गका तुलनात्मक विचार किया गया है। पहिले तो ज्ञानमार्गको अकथ बतलाया है। ज्ञानमार्गमें अध्यारोप करके अपवाद किया जाता है। ब्रह्मको 'यद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता।' कहा गया है। अखण्डका खण्ड कहाँ अर्थात् निरंशका अंश कहाँ? फिर भी निरंशसे अंशकी कल्पना करके 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' बतलाया जाता है। यही ज्ञानमार्गका अकथ होना है। उस जीव का अज्ञानसे बन्धन हो गया। जड़ चेतनकी झूठी गाँठ पड़ गई। यदि गाँठ छुटे तो सुखी हो। उसे किसी प्रकार ईश्वरकी कृपासे श्रद्धारूपी गौ मिली। उसने पुण्यरूपी चारा खाकर परम धर्मरूपी दूध दिया। उस दूधसे कठिन साधन द्वारा विमल विरागरूपी मक्खन निकला। जब शुभाशुभ कर्मरूपी लकड़ी जलाकर योगाग्नि प्रकट की गई तब उस मक्खनसे ज्ञान घृत बना। तब तुरीयावस्थारूपी रूईसे बत्ती बनाई गई। चित्तरूपी दियामें घी और बत्ती रखकर दीप जलाया गया। उस दीपकी लौ 'सोहमस्मि' वृत्ति हुई। [तत्त्वमसि' की भाँति 'सोहमस्मि' भी श्रुति है। यहाँ 'सः' का परामर्श 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'से नहीं है। उस वृत्तिसे आत्मानुभव प्रकाश हुआ। उसी उजेलेमें चित् और जड़की गाँठ खोली जाने लगी।] तबसे विषयरूपी वायुका झोका आया और दिया बुझ गया। इतनी बड़ी मेहनत व्यर्थ गई। यदि ग्रन्थि छूट जाती, तो श्रुतिप्रतिपादित अतिदुर्लभ परमपद कैवल्य प्राप्त हो जाता। इधर भक्ति सुकथ है। वेद-पुराणरूपी पर्वतमें रामकथारूपी खान है। उसमें सज्जन मर्मीसे पता लगाकर ज्ञान-विरागकी दृष्टिकी सहायता पाकर सुमति कुदारीसे खोदनेसे भक्ति मणिकी प्राप्ति होती है। पर यह साधन भी कठिन है, क्योंकि पहाड़ खोदना है। पर एक सुलभ उपाय यह है कि भक्तिचिन्तामणिकी प्राप्ति सत्संगसे हो जाती है। फिर तो वही कैवल्य—मुक्ति बिना चाहे जबरदस्ती आती है।

'तुलसी रामभजनकर जो फल सो जरिजाइ'

ऐसे भक्त उसे लेना नहीं चाहते। वे भक्तिको ही फलरूप मानते हैं। यही ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्गका तुलनात्मक विचार है। दोनों मार्गोंका फल एक ही है। जैसे—

ज्ञानहि भक्तिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव-सम्भव खेदा॥

भक्तिमार्गमें भी नयनरूपसे ज्ञानकी आवश्यकता पड़ती है। परन्तु साधनके

सौकर्यसे भक्तिमार्ग ही श्रेष्ठ है। ज्ञानदीप और भक्तिचिन्तामणिके तुलनात्मक दृष्टान्तसे भी यही भाव निकलता है कि यद्यपि 'सोहम्' में प्रचण्ड प्रकाश है। (तादात्म्यभाव होनेसे) तथापि यह वृत्ति ठहरती नहीं। और 'दासोऽहम्' में ठण्ढी रोशनी है (तदीय होनेसे) यह स्थायी है। विषयके झोंके इसका कुछ नहीं कर सकते। उसे भी यह भगवत्-प्रसादरूपसे ग्रहण कर सकती है। ज्ञानमार्ग तलवारकी धार है। उसपरसे पतन होते देर नहीं लगती, और अनन्य भजनमें सचराचर रूपको रामदृष्टिसे देखनेमें अपनेको अलग करना कठिन पड़ जाता है। अतः—

रामभजत सोई मुक्ति गोसाईं। अन इच्छित आवै वरिआई॥

कहा। इस दृष्टान्तसे भी अद्वैतवादकी ही पुष्टि है।

'सोहमस्मि' में जीवका परामर्श माननेसे कल्याणकी कोई सम्भावना ही नहीं रह जायगी, क्योंकि उसके बाद ज्ञानदीपके प्रकरणमें परमेश्वरके संयोगकी कोई बात नहीं आई है, और बिना परमेश्वरके संयोगके कल्याण किसी आस्तिकवादको इष्ट नहीं है। अतः 'सः' से ब्रह्मका ही परामर्श है, यह दृष्टान्त भी अद्वैत-सिद्धान्तका ही पोषक है।

जिन्होंने सेवक-सेव्य-भावमात्रको ही भक्ति मान रक्खा है उन्होंने भक्तिकी परिधिमें बड़ा संकोच कर दिया है। स्वयं सरकारकी उक्ति है कि—

जननी-जनक-बन्धु-सुत-दारा। तनु-धन-भवन-सुहृत् परिवारा॥
सबकर ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध वरि डोरी॥

केवल सेवकभावसे नहीं, सर्वतोभावेन मेरेमें मन लगा दो, फिर तो तादात्म्यभाव ही हो गया। अतः उसकी अवस्था कहते हैं।

'समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरख सोक भय नहिं मन मांहीं॥

इसीलिए विनयमें कहते हैं—

तुलसिदास जग आप सहित जब लगि निर्मूल न जाई।
तब लगि कोटि कल्प उपाय करि मरिअ तरिअ नहिं भाई॥

तथा—सोक मोह भय हरख दिवस निसि-देसकाल तहँ नाहीं।
तुलसिदास येहि दसाहीन, संसय निर्मूलन न जाहीं॥

अतः भक्ति अद्वैतवादकी साधक है बाधक नहीं।

एवं सभी भाँति गोस्वामीजीका तात्पर्यीभूत सिद्धान्त अद्वैतवाद ही सिद्ध होता है फिर जिस भाँति पुनः पुनः माया और जगत्‌को झूठा कहा गया है, उस भाँति एक भी स्थल ऐसा नहीं है जहाँ माया या जगत्‌को सत्य कहा गया हो, तब तो गोस्वामीजीके सिद्धान्तको अद्वैतवाद माननेके सिवा उपायान्तर नहीं है।

यह तो हुई अन्तरङ्ग परीक्षाकी बात, अब बहिरङ्ग परीक्षा भी करके देख लीजिए—

'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।'

यहाँ गोस्वामीजी गुरुको शंकररूप कहते हैं। क्या कोई भी अन्यवादी अपने गुरुको शङ्कर-रूप माननेको तैयार हो सकता है? क्या इस पद से शङ्करसम्प्रदाय ध्वनित नहीं है। क्या कारण है कि ब्रह्मासे लेकर कीटपतङ्ग तकको प्रणाम करनेवाले गोस्वामीजीने किसी सम्प्रदायके आचार्यका उल्लेख नहीं किया?

'गनपति गौरि त्रिपुरारि तमारी। रमारमन-पद बंदि बहोरी॥

कहकर जिस भाँति पञ्चदेवोपासना दिखलाई है उस भाँति क्या अन्य कोई वादी पञ्चदेवोपासनाका स्वीकार करेगा?।

श्रीगोस्वामीजीके समकालीन महात्मा नाभाजीका भी अद्वैतवाद ही रहा। यथा—भक्तमालका मङ्गलाचरण,—

'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।'

यहाँ भक्त, भगवंत, दोनोंको एक कहा। भक्त जीव और भगवन्त ईश्वर, गुरु उपदेष्टा और भक्तिसाधन सबका समानाधिकरण तो केवल अद्वैतवादमें ही हो सकता है। इतना ही नहीं नाभाजीको अद्वैतवाद और भक्तिका सामञ्जस्य इष्ट था। नहीं तो अद्वैतवादियोंके परमगुरु श्रीशङ्कराचार्य्यकी गणना भक्तोंमें न करते। आप लिखते हैं—

'ईश अंश अवतार महि मर्यादा माड़ी सुघट।
कलियुगहु धर्मपालक प्रकट आचारज शङ्कर सुभट॥

और यह भी सुना जाता है कि एक ही सम्प्रदायके ये दोनों महात्मा अनुयायी थे।

इसी भाँति तुकारामजी, समर्थ रामदासजी आदि सभी प्राचीन रामानुरागी महात्माओंका अद्वैत सिद्धान्त था। तब गोस्वामीजीके अद्वैतवादी न होनेमें ही आश्चर्य है?। गोस्वामीजीके सभी जीवनी लिखनेवालोंने माना है कि 'अद्वैतसिद्धि'के लिखनेवाले श्रीस्वामी मधुसूदनजीने 'श्रीरामचरित-मानस' देखकर गोस्वामीजीकी प्रशंसामें यह श्लोक लिखा—

आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसी जङ्गमस्तरुः।
कविता मञ्जरी यस्य रामभ्रमर-भूषिता॥१॥

इन अद्वैतवादियोंके अग्रगण्य महात्माकी प्रशंसाका कोई अर्थ है। उन्होंने भी श्रीरामचरित-मानसमें अद्वैतवाद ही पाया। काशी असीसंगम हरद्वार तीर्थमें श्रीगोस्वामीजीके शरीरत्यागसे भी यही पाया जाता है कि उनका परम ध्येय मुक्ति ही था।

मुक्ति जन्म महिजानि ज्ञान खानि अघहानिकर।
जहँ बस सम्भु भवानि सो काशी सेइअ कस न॥

अतः अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग परीक्षाओंसे यही सिद्ध है कि श्रीगोस्वामीजीका भी अद्वैत ही सिद्धान्त है।

ज्ञान कहै अज्ञान विनु, तमविनु कहै प्रकाश।
निर्गुन कहै जो सगुन विनु, सो गुरु तुलसीदास॥ दोहावली।

महर्षि व्यासजीके तात्पर्यका निर्णय

(चैत्राङ्कसे आगे)

[ले० —पं० श्रीकृष्णपन्त साहित्याचार्य]

जैसे वेदान्तशास्त्रमें 'महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्' इस अधिकरणमें भगवान् व्यासने महर्षि कणादके मतका खण्डन किया है, वैसे ही * वैशेषिक दर्शनमें भी भगवान् कणादने व्यासके अभिमत केवल अद्वैतका खण्डन किया है। देखिए, वैशेषिक दर्शनमें (अध्याय ३ आह्निक २) अपने मतमें आत्मा सुख, दुःख, ज्ञान आदिसे अनुमेय है, यह कहकर वेदान्तीके अभिमत आत्माका खण्डन करनेके लिए 'तस्मादागमिकम्' इस सूत्रसे आत्मा केवल शास्त्रसे जाना जा सकता है। वेदान्त्यभिमत आत्माका अनुवाद कर उसी आत्माकी 'सुख-दुःख-ज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यं सर्वशरीराणाम्' इस सूत्रसे एकताका अनुवाद कर 'नानात्मानो व्यवस्थातः' 'शास्त्रसामर्थ्याच्च' इन दो सूत्रोंसे आत्माकी एकताका खण्डनपूर्वक अनेकता सिद्ध की गई है। ये बातें सूत्रोंके व्याख्यानमें स्पष्टरूपसे प्रतिपादित हैं। सुख, दुःख आदि लिङ्गोंसे ज्ञात आत्मा एक है या अनेक? इस प्रकारका सन्देह उपस्थित होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—सुख, दुःख और ज्ञानकी सब शरीरोंमें समानरूपसे प्रतीति होती है, अत एव प्रतीत होता है कि सब शरीरोंमें एक ही आत्मा है, क्योंकि उसके गमक सुख, दुःख, ज्ञान आदि सर्वत्र तुल्य हैं। कहा भी है—'तल्लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः' (आत्माके अनुमापक सुख, दुःख, ज्ञान आदि लिङ्ग सर्वत्र एक-से हैं।

---

* वैशेषिक कहते हैं कि ह्रस्व और अणुपरिमाण द्व्यणुकसे दीर्घ और महत्परिमाण त्र्यणुककी उत्पत्ति होती है। द्व्यणुकमें रहनेवाले ह्रस्वत्व और अणुत्व त्र्यणुकमें स्वसमानजातीय ह्रस्वत्व और अणुत्वके आरम्भक नहीं होते, किन्तु द्व्यणुकगत त्रित्वसंख्या त्र्यणुकमें महत्त्व आदिकी आरम्भिका है; इसी प्रकार परिमण्डलपरिमाण परमाणुसे अणुपरिमाण द्व्यणुक उत्पन्न होता है। परमाणुगत पारिमाण्डल्यपरिमाण द्व्यणुकमें स्वसमानजातीय पारिमण्डल्यका आरम्भक नहीं है, किन्तु परमाणुगत द्वित्वसंख्या द्व्यणुकमें ह्रस्वत्व आदिकी आरम्भिका है। ऐसी प्रक्रियाको दर्शानेवाले वैशेषिकोंको 'कारणगुण कार्यमें स्वसमानजातीय गुणोंके आरम्भक हैं' यह कहते लज्जा नहीं आती? अत एव उनका उपर्युक्त न्याय न्यायाभास है न्याय नहीं है। अत एव चेतन ब्रह्मसे अचेतन जगत्की उत्पत्तिमें कोई विरोध नहीं है।

विशेष लिङ्गोंका कहींपर अस्तित्व नहीं दीखता, अत एव एक ही आत्मा है)। अब अपना सिद्धान्त कहते हैं—प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न आत्मा हैं, क्योंकि प्रत्येक शरीरमें सुख, दुःख, ज्ञान आदिकी व्यवस्था है अर्थात् कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई ज्ञानी है, कोई मूर्ख है, इस प्रकार पृथक्-पृथक् रूपसे सुख, दुःख आदि प्रत्येक शरीरमें दिखाई देते हैं। एक ही शरीरमें एक ही कालमें सबका ज्ञान नहीं होता। यदि एक ही आत्मा होता, तो एक ही शरीरमें ही सबका अनुसन्धान हो जाता। दूसरा हेतु दिखलाते हैं—शास्त्रमें भी इसी प्रकार समर्थन किया गया है। 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' (ईश्वर और जीव ये दोनों जन्मरहित हैं उनमें ईश्वर सर्वज्ञ और जीव अज्ञ है), 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा' (भोक्ता—जीव, भोग्य—शब्दादि विषय और प्रेरक ईश्वरको जानकर) 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (सुन्दर (नियम्यनियामकभावरूप) गमनवाले, सदा साथ रहनेवाले, समान है अभिव्यक्तिका कारण जिनका, ऐसे दो पक्षी अर्थात् जीव और ईश्वर ज्ञानका अधिष्ठान होनेसे एक ही भूतवृक्षको आलिङ्गित करके रहते हैं), 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमस्मादात्मानो व्युच्चरन्ति' (जैसे अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे ही इस परमात्मासे जीव उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ जीवोंकी अनेकताकी बोधक हैं। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' (जिसने सबसे पहले ब्रह्माकी सृष्टि की है), 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' (सब प्राणियोंके घट-घटमें वास करनेवाला स्वतन्त्र ईश्वर एक है), 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (वह नित्योंका नित्य एवं चेतनोंका चेतन है) इत्यादि एकत्वका प्रतिपादन करनेवाले श्रुति-वाक्य ईश्वरविषयक हैं। इससे सिद्ध हुआ कि प्रतिशरीरमें आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। इत्यादि कणादसूत्रों और उनके व्याख्यान आदिसे आत्माकी एकता ही वेदान्तीको अभीष्ट है, यह कहकर उसका खण्डन किया गया है।

जैसे वेदान्तशास्त्रमें 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इस अधिकरणमें भगवान् व्यासजीने गौतमके मतका खण्डन किया है, वैसे ही न्यायशास्त्रमें भी केवलाद्वैत ही वेदान्तशास्त्रका अभिमत है, ऐसा अनुवाद कर उसका खण्डन किया गया है।

और जैसे वेदान्तशास्त्रमें 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इस अधिकरणमें भगवान् व्यासने पतञ्जलिके मतका खण्डन किया है, वैसे ही योगशास्त्रमें भी केवलाद्वैत ही वेदान्तशास्त्रका अभिमत है, ऐसा अनुवाद कर फिर उसका खण्डन किया

है। देखिए, भोजवृत्तिमें 'स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः' इस सूत्रके व्याख्यानके समयमें कहा है—जो वेदान्ती आत्माकी चिन्मयता और आनन्दमयताको मोक्ष मानते हैं उनका मत ठीक नहीं है, क्योंकि आनन्द सुखरूप है और सुखका सदा ज्ञेयरूपसे ही भान होता है। संवेदनसे (ज्ञानसे) पृथक् हुए बिना ज्ञेय उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए यदि ज्ञान और ज्ञेयको पृथक् पृथक् मानो, तो अद्वैतकी हानि हो जायगी; इत्यादिसे वेदान्तियोंके अभिमत अद्वैतका अनुवाद करके उसका खण्डन किया गया है।

जैसे वेदान्तशास्त्रमें 'फलमत उपपत्तेः' इस अधिकरणमें भगवान् व्यासने जैमिनिके मतका खण्डन किया है, वैसे ही मीमांसाशास्त्रमें भी केवलाद्वैत ही वेदान्तशास्त्रका अभीमत है इस प्रकार अनुवाद कर उसका खण्डन किया गया है। देखिए तर्कपादमें, वार्तिकमें—

अविद्या स्वप्न आदिके समान भ्रान्तिरूप है, उसका कारण क्या हो सकता है, क्योंकि शुद्ध-विद्यास्वभाव पुरुष उसका कारण नहीं हो सकता और दूसरी वस्तु कोई है नहीं, अतः अविद्याकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, फिर यदि अविद्यानिर्मित सृष्टि होती, तो भीतके बिना चित्र बनानेके समान उपहसनीय होती। यदि उस अविद्याका अन्यसे (अदृष्ट आदिसे) सम्बन्ध माना जाय, तो द्वैतवादकी प्राप्ति हो जायगी।

यदि आप अविद्याको स्वाभाविक मानें अतएव उसकी प्रवृत्तिके लिए कारणकी आवश्यकता न समझें, तो पहले तो यही दोष उपस्थित होता है कि विद्यास्वभाव ब्रह्म अविद्यास्वभाव कैसे हो सकता है? क्योंकि एकके परस्पर विरुद्ध दो स्वभाव नहीं हो सकते। और दूसरा दोष यह है कि यदि अविद्या स्वाभाविक है, तो उसका किसीसे उच्छेद नहीं हो सकेगा; ऐसी अवस्थामें मोक्ष होगा ही नहीं। यदि कहें कि, अविद्या स्वाभाविकी होनेपर भी जैसे अग्निके संयोगसे पृथिवीके परमाणुओंकी श्यामता नष्ट हो जाती है वैसे ही ध्यान आदिसे वह उच्छिन्न हो जायगी, तो वह भी नहीं कह सकते, क्योंकि अग्निसंयोगकी नाईं अद्वितीय आत्मा माननेवालोंका ध्यानादि दूसरा उपाय नहीं है जो अविद्याका उच्छेद करे। इत्यादिसे भट्टपादने केवलाद्वैतका अनुवादपूर्वक खण्डन किया है।

शास्त्रदीपिकाके तर्कपादमें,—आत्मा ही जगत् था, वही जैसे बीज वृक्षरूपमें परिणत होता है वैसे ही अपनी इच्छासे आकाश आदि प्रपञ्चके रूपमें परिणत होता

है। चिन्मय आत्मा जड़मय जगत् रूपसे कैसे परिणत होता है, यह नहीं कहना चाहिए; क्योंकि हम वस्तुतः उसका परिणाम नहीं कहते, किन्तु वह परिणत न होता हुआ भी परिणत-सा और एक होता हुआ भी अनेक-सा दर्पणमें मुंहकी भाँति अविद्यासे विवर्तमान अपने चिद्रूपको अचिद्रूप-सा और अद्वितीयको सद्वितीय-सा देखता है। यही यह अविद्यासे उत्पन्न स्वप्नके संसारकी भाँति महद् आदि प्रपञ्चकी सृष्टि है। देखिए, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म ही है), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (यह सब आत्मा ही है), 'नेह नानास्ति किञ्चन' (यहांपर तनिक भी भेद नहीं है) इत्यादि बहुत-से अद्वैतके प्रतिपादक श्रुतिवचन हैं। तथा 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ब्रह्म माया द्वारा नाना रूप होता है) इससे भेदप्रतीति मायिक है, यह स्पष्टरूपसे दर्शाया गया है। 'लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद' (लोग उसका तिरस्कार करते हैं जो लोगोंको अपनेसे पृथक् जानता है) इत्यादिसे अनात्म-दर्शनकी निन्दा 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (वह मृत्यु-परम्पराको प्राप्त होता है जो यहांपर भेद देखता है) इससे भेददर्शनकी निन्दा, 'सब यह अद्वितीय ही ब्रह्म पारमार्थिक है, भेद दृष्टि अविद्याजनित है' इस अर्थको प्रकट करती है। इत्यादिसे पार्थसारथिमिश्रने भी केवलाद्वैत ही वेदान्तशास्त्रका अभिमत है, इसका अनुवाद कर खण्डन किया है।

पाणिनितन्त्रमें (वाक्यपदीयमें) भी भगवान् भर्तृहरिने कहा है—"जिस ब्रह्मतत्त्वमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी कल्पना की गई है वही तत्त्व सत्य है, ऐसा वेदान्तवादियोंका कथन है"।

और जैसे वेदान्तशास्त्रमें 'पत्युरसामञ्जस्यात्' इस अधिकरणमें भगवान् वेद-व्यासने पाशुपतमतका निराकरण किया है, वैसे ही शैवागममें भी भगवान् शिवजीने वेदान्तशास्त्रका अभिमत केवलाद्वैत ही है, ऐसा अनुवादकर उसका खण्डन किया है। देखिए, मृगेन्द्रागमसंहिताके ज्ञानपादके द्वितीय पटलमें—भारद्वाजने प्रश्न किया है—वेदान्त, सांख्य और सदसद्वादार्थिक मतोंमें साधन-सहित मुक्ति कही गई है उसकी अपेक्षा शिवागममें कौन-सी विशेषता है? इसका उत्तर इन्द्र भगवान्ने यों दिया है—"शास्त्रोंके प्रणेताओंके सर्वज्ञ न होनेके कारण उनमें वस्तुसंग्रह स्पष्ट नहीं है और शैवशास्त्रमें सभी उपाय सफल कहे गये हैं।

(अपूर्ण)

गंगा-गौरव

(१)

गिरिवरतनयाके नाथ भूतेश शूली।
सिर चढ़ उनके तू गर्वसे खूब फूली॥
पर तव तन-आभा जूटका ले सहारा।
उस रवि-तनया-सी हो गई श्याम धारा॥

(२)

ऐसी तुझे देख उमा सयानी क्रोधातुरा शीघ्र हुई भवानी।
हो रक्तवर्णा तुझको निहारा है लाल यों माँ! तव अंग सारा॥

(३)

गंगा मानें तुझे या प्रिय रवितनया या तुझे भारती माँ।
तीनोंमें तू रमी है निखिल जगतको है सदा तारती माँ॥
माता तू ही दुलारे सकल भुवनके जन्मसे पाप धोती।
प्राणीकी दग्ध काया तव शुचि जलसे है सदा शान्त होती॥

(४)

सुर, नर, मुनियोंकी संपदा तू अनोखी।
असितमल जनोंकी औषधी दिव्य चोखी॥
मल निज तनका वे हर्षके साथ धोते।
हिल-मिल तुझसे वे मोक्षको प्राप्त होते॥

(५)

माता तेरे तट-निकट जो मृत्युके बाद आता।
पाता भूले न यम-पुरकी यातना जीव माता॥
माता! गाता तव सुयशका गीत भी खूब गाता।
गाता-गाता अमरपुरको विष्णुके धाम जाता॥

(६)

बड़े-बड़े वृक्ष खड़े किनारे कहीं तपस्वी तपको प्रचारें।
कुटी बनी रम्य कहीं बड़ी है कहीं लताएँ हँसती खड़ी हैं॥

(७)

कहीं किनारे तव देव-बाला खड़ी लिए कोमल पुष्पमाला।
नचा रही हाथ बढ़ा रही है हँसी-खुशी-साथ चढ़ा रही है॥

(८)

कल-कल करती तू नाचती घूमती-सी।
हँस-हँस उसके श्री-अंगको चूमती-सी॥
पुलकित चित होती फूलका हार लेती।
सरल हृदयसे माँ! कण्ठमें धार लेती॥

(९)

धनदभवनसे भी उच्च अट्टालिकाएँ।
स्थित तव तट-में ले दीपकी मालिकाएँ॥
मलयमरुत आता है उन्हें यों हिलाता।
जिस तरह् पुजारी आरती साज लाता॥

(१०)

अनेकों कथाएँ मिली हैं तुम्हारी कहें तो कहें क्या? कहो शम्भु-प्यारी।
नदीमें बड़ी हो गुणोंमें बढ़ी हो तभी तो त्रिशूली-जटा पै चढ़ी हो॥

—'श्रीमाली'

कुसुम!

अयि कुसुम! न तेरा मान होता रहेगा।
अरु न मधुरता की शान तेरी रहेगी॥
जब अनिल-झकोरा डालियाँ तोड़ देगा।
सच कह तब तेरी कौन रक्षा करेगा॥

(२)

अलिकुल रसभोगी संग देगा न तेरा।
सहृदय वह माली सिर्फ रोता दिखेगा॥
कुछ दिन इठला ले शौक से 'जी' जला ले।
पर सच कहता हूँ—धूलमें जा मिलेगा॥

—गोपालदत्त त्रिपाठी।



कौनसा देव पूजनीय है ?

(लेखक—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

जिस देवोंके देव महादेवसे यह जगत् उत्पन्न हुआ है, जिसने इस समस्त विश्वको व्याप्त कर रक्खा है और जिसमें यह संपूर्ण प्रपञ्च लीन हो जाता है, फिर भी जिस देवका इस दृश्यसे कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता, वही देव पूजनीय है। न जिसका आदि है, न अन्त है और न मध्य है। जिसका देश, काल अथवा वस्तुसे परिच्छेद नहीं होता, सब पदार्थ जिसके सम्बन्धसे सिद्ध हो जाते हैं, किसी प्रमाणसे जो सिद्ध नहीं होता, वही स्वयंसिद्ध देव पूजनीय है। जिस अलौकिक देवका कोई नाम नहीं है, फिर भी जिस नामसे पुकारो, उसी नामसे बोलता है, कोई जिसका धाम नहीं है, तो भी सब धामोंमें जो विराजमान है, कोई धाम जिससे रहित नहीं है, वही देव पूजनीय है। यह जगत् जिसकी आँखोंमें है, जो जगत्की आंखोंमें है। आँखके बिना ही जो सबको देखता है, श्रोत्रके बिना ही जो सब शब्दोंको सुन लेता है, पैरोंके न होनेपर भी जो मनसे भी तेज दौड़ता है, जिसको कोई पकड़ नहीं सकता और न कोई छोड़ सकता है, वही देव पूजनीय है।

जिस देवका कोई शरीर नहीं है, सब शरीर जिसके शरीर हैं, सब शरीरोंकी जो आत्मा है, सब शरीरोंको नियममें रखता है और सब शरीरोंमें अभिमान करता है, फिर भी जिसमें नियम्यनियामकभाव नहीं है, व्याप्यव्यापकभाव भी जिसमें नहीं है और जीव-ईश्वरभाव भी नहीं है। जो सूर्य होकर विश्वभरको तपाता और प्रकाशित करता है, चन्द्र बनकर देव, मनुष्य, औषधि आदिका पोषण करता है, वैश्वानर बनकर सबके उदरमें रहकर खाये पिये हुए अन्न-जलका पाचन करता है। जिसके आनन्दसे सब प्राणी आनन्दका अनुभव करते हैं, जो आनन्दस्वरूप है, जिसके आनन्द-लेशके अंशसे ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त आनन्दित हो रहे हैं, जिसको जानकर फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता, अर्थात् सब कुछ जान लिया जाता है, जिसको पाकर सब कुछ पा लिया जाता है, कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता, सब कुछ जिसमें है, सब जो है, सबका उपादान कारण है, सबका कर्ता है, फिर भी अशेष-विशेषसे रहित है, एक है, अद्वितीय है, सब उपाधियोंसे वर्जित है, सबका अपना आप है, न पास है, न दूर है, हाजिर हुजूर है, वही देव पूजनीय है।

मैं, तू और सो का जिसमें नाम नहीं है, देश, काल और वस्तुका जिसमें काम नहीं है, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयसे जो दूर है, सब नूरोंका नूर है, सत्त्व, रज और तमका जिसमें लेश नहीं है, जिसमें न अशेप है और न विशेप है, फिर भी जिसका नाम निर्विशेप है। कोई पद, वाक्य, अक्षर उसको बता नहीं सकता है, फिर भी एक नकार अक्षरका ऐसा माहात्म्य है कि उस सत् और असत्से रहितका भी, सब प्रपञ्चका निषेध करके शम, दम, संतोष, क्षमा, विवेक, वैराग्य आदि शुभ गुणोंसे युक्त अधिकारीके मनमें, प्रकाश कर देता है, क्योंकि वह सबका आत्मा यानी स्वरूप है, इसलिए स्थूल, सूक्ष्म और बीज रूप प्रपंचका निषेध होनेपर आप ही शेष रहकर पूर्ण आत्मरूपसे प्रकाश करता है। इस प्रकार अक्षरकी सहायता लेकर भी श्रुति भगवती उस देवका बोध कराती है। जो है भी नहीं है और नहीं भी नहीं है, फिर भी है और नहीं दोनोंका सिद्ध करनेवाला है ही। विद्वानोंका कथन है कि जिसका जानना कठिन है, इतना ही हो, तब तो ठीक है कि उसको कठिनाईसे जान लिया जाय, परन्तु कठिनाई तो यह है कि उसका जानना सहज न हो, तो न सही, परन्तु उसका जानना तो कठिन भी नहीं है। जो देव ग्राह्य भी न हो, उपादेय भी न हो, उसको कोई कैसे जाने? जानना तो अन्यका होता है। अपने आपमें जानना न जानना दोनों ही नहीं बनते! जो अपना आप है, वही देव पूजनीय है।

जिस देवका साक्षात्कार करके दध्यङ् ऋषिने देवताओंका हित करनेके लिए अपनी हड्डियां देनेमें किंचित् भी संकोच नहीं किया था, किन्तु क्षणभरमें उस देवका ध्यान करके इस संघातका त्याग करके उसी देवमें लयको प्राप्त हो गये थे; जिनकी हड्डियोंका वज्रास्त्र बनाया गया था, जिसके प्रतापसे इन्द्रने वृत्रासुरका वध करके देवताओंको अभय किया था। जिस देवके विज्ञानसे पिप्पलाद ऋषिने सुकेशा आदि छः ऋषियोंको प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और लोकोंमें नाम, इन सोलह कलावाले पुरुषका उपदेश किया था, जिसको जानकर आजकल भी मनुष्य, जैसे गंगा आदि नदियां समुद्रमें मिलकर समुद्र ही हो जाती हैं, वैसे ही प्रकृतिपुरुषसे परपुरुषमें लीन होकर परपुरुष ही हो जाते हैं। जिस देवका ज्ञान नचिकेता नामक पांच वर्षके बालकने यमराजके पास जाकर समस्त ब्रह्मांडपर लात मारकर और हिरण्यगर्भके सर्वोत्तम पदकी भी इच्छा

न करके प्राप्त किया था। जिस देवको जानकर याज्ञवल्क्यने जनकराजकी सभामें से सुवर्णसहित गौओंका अनेक विद्वानोंको शास्त्रार्थमें परास्त करके हरण किया था, वही देव पूजनीय है।

जिस देवके समान कोई दूसरा देव धनी और निस्पृह नहीं है, जो देव, हम उसे मानें अथवा न मानें, इसकी स्पृहा नहीं करता, किन्तु जो हमारे न माननेसे ही सिद्ध हो जाता है। कोई तो है ही, जिसके मानने न माननेके लिए हम विवाद करते हैं। यदि कोई न हो, तो किसके होने न होनेके लिए हम विवाद करें? कोई है, जिसका ग्रहण करके विवाद किया जाता है। जो देव सब मजहबवालोंको मान्य है, जिसका कोई मजहब नहीं है, फिर भी जिसके सब मजहब हैं। जिसके न जाननेसे मजहबोंमें भेद दिखाई देता है, जिसके जाननेसे मजहबका, देशका, कालका, मेरा, तेरा इत्यादिका सब भेद मिट जाता है। न अपने मजहब, देश आदिमें राग होता है, न दूसरेके मजहबसे अथवा देशसे द्वेष होता है, किन्तु सर्वत्र सर्वदा सब मजहबोंका अधिष्ठाता, सब देशोंका महाराजा एक ही सनातन देव सबमें दृष्टि आता है, हृदय शान्त रहता है, आधि-व्याधि मिट जाती हैं, तीनों ताप दूर हो जाते हैं, सुख ही सुख संसारमें परिपूर्ण उपलब्ध होता है, सबके सब प्यारे हो जाते हैं, द्वेषी कोई नहीं रहता, सबके सब ईश्वररूप ही दिखाई देते हैं, वही देव पूजनीय है, भजनीय है और माननीय है!

सृष्टिसे पूर्व एक ही सत्य, ज्ञान और आनन्द स्वरूप देव था, दूसरा कोई नहीं था। एक ही निष्काम, आप्तकाम और पूर्णकाम था, ऐसे देवको भी न मालूम किस कारण इच्छा हो गई कि मैं एकाकी हूँ, एकसे बहुत हो जाऊँ, बहुत होकर जगत्का तमाशा देखूं, उसने तीन गुण रच लिये, पांचभूत बना लिये, तीन पांच करके चौदह भुवन बना लिये, फिर भी एकका एक ही रहा, दूसरा नहीं हुआ, तब दूसरा बननेके लिए उसने जैसे सूर्य प्रतिबिम्बरूपसे चमकदार पदार्थोंमें प्रवेश करता है, वैसे ही प्रवेश किया, प्रवेश करते ही चौदह भुवन और उनमें रहनेवाले जीव चेतन हो गये। इस प्रकार एक ही देव अनेक होकर विश्ववाटिकामें ही सैर करने लगा। अब भी कर रहा है, जो भाग्यवान् हैं, वे सन्त महात्माओंकी सेवासे यह जानते हैं कि एक ही देव अपनी मायाशक्तिसे सबमें प्रवेश करके सैर कर रहा है, वे सबमें उसी सम परमात्माका दर्शन करते हैं, ऐसे समदर्शी न

किसीसे राग करते हैं, न द्वेष करते हैं, न किसीको अपना मानते हैं और न किसीको पराया जानते हैं, आनन्दसे जगत्‌की सैर करते हैं। जो मूढ़ सन्त महात्माओंका संग नहीं करते, सत्‌शास्त्रोंका अवलोकन नहीं करते, वे राग-द्वेष करके स्वयं दुःखी होते हैं, अपने अनुयायियोंको दुःखसागरमें डुबाते हैं। जिस देवका ज्ञान सुखका हेतु और अज्ञान दुःखका कारण है, वही देव पूजनीय है।

जिस देवका आर है न पार है, जो करोड़ों ब्रह्माण्डोंका एक आधार है, स्वयं निराधार है, जिसकी माया अपरम्पार है। जैसे समुद्रमें से अनेक तरङ्गें उठकर लीन होती रहती हैं, वैसे ही जिसमें से करोड़ों ब्रह्माण्ड उत्पन्न होकर लीन हो जाते हैं। जो छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़ेमें भी पूर्ण है, फिर भी अपनी मायासे मोहित पुरुषोंको अपूर्ण-सा दिखाई देता है। अनेक होकर भी जो स्वरूपसे अच्युत होनेसे एक-का-एक ही रहता है। जैसे बहुरूपिया अनेक रूप धारण करके अनेक-सा प्रतीत होता है, फिर भी एक-का-एक ही है, वैसे ही जो अपनी मायासे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वरुण, कुवेर, देव, दानव, मनुष्य, पशु-पक्षी अनेक रूपवाला दृष्टिगोचर होता है, फिर भी एक-का-एक ही है। जो अनेक आकारोंमें छिपा हुआ आँखमिचौनी खेल रहा है, जो सूक्ष्मदर्शी उसको ढूँढ लेते हैं, वे आँखमिचौनीके खेलमें उसको ढूँढ लेनेसे जय पाकर आनन्दसे विचरते हैं। जो स्थूलदर्शी हैं, वे उसको पाससे भी पास अपने हृदयमें छिपा हुआ होनेपर भी नहीं ढूँढ सकते। वे जहाँ जाते हैं, हारते हैं, कभी भी उनकी जीत नहीं होती। जो देव अपना आप होनेसे विवेकियोंको परम प्रत्यक्ष है और अविवेकियोंको जो करोड़ों उपाय करनेपर भी दर्शन नहीं देता, वही देव पूजनीय है।

जो देव कहीं तो मथुरा, काशी, बदरिकाश्रम आदि तीर्थोंमें, कहीं इन्द्रादि देवताओंमें, कहीं वामन, नृसिंह आदि अवतारोंमें, कहीं ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट् आदि ईश्वरोंमें, कहीं विश्व, तैजस, प्राज्ञ आदि जीवोंमें, कहीं स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि शरीरोंमें, कहीं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें, कहीं आकाशादि भूतोंमें, कहीं सत्त्व आदि गुणोंमें, कहीं साम आदि वेदोंमें, कहीं इतिहास, पुराण आदिमें, कहीं ब्रह्मसूत्र आदि दर्शनोंमें छिपा हुआ है। बहिर्मुख पुरुष जिसको इन स्थानोंमें ढूँढते हुए हैरान ही हो रहे हैं, परन्तु उसका कहीं पता नहीं लगता, इसलिए बिचारे दुःखका अनुभव कर रहे हैं। अन्तर्मुखी

पुरुष जिसको इन स्थानोंमें नहीं ढूँढता, किन्तु प्राणादिका संयम करके अपने हृदयकमलमें ही ढूँढता है, ढूँढ कर उसको प्राप्त कर लेता है और सर्वदाके लिए सुखी और स्वतन्त्र हो जाता है। जिस देवका दर्शन सुख और स्वतन्त्रताका हेतु है और जिसका अदर्शन दुःख और परतन्त्रताका कारण है, वही देव पूजनीय है।

जो नरपशु मूढ़ पुरुष संसारकी चमक-दमक देखकर अन्धे हो रहे हैं, जिनको सत्य और असत्यका विवेक नहीं है, उनमें से कोई कीर्तिमें, कोई वासनामें, कोई कामनामें, कोई स्त्रीमें, कोई पुत्रमें, कोई धनमें, कोई ऐश्वर्यमें, कोई धर्ममें, कोई अर्थमें, कोई काममें लगे हुए हैं। किसीको मित्र समझते हैं, किसीको शत्रु मानते हैं, किसीसे अनुराग करते हैं और किसीसे द्वेष करते हैं। देहको ही आत्मा समझते हैं, देहके सम्बन्धियोंको ही अपना समझते हैं, लकीरके फकीर हैं यानी माने हुए बिन्दुको सच्चा जानकर नाप-तौलमें ही लगे हुए हैं, ऐसोंको जिस देवकी छाया भी दिखाई देनी कठिन है। और जो विवेकी धीरवर पुरुष दुनियांकी चमक-दमक देखकर मोहित नहीं होते, जिनको सत्यासत्यका विवेक है, वे कीर्ति आदिमें, स्त्री, पुत्र आदि नाशवान् पदार्थोंमें आसक्त नहीं होते। न किसीसे राग करते हैं और न किसीसे द्वेष करते हैं, सबको समान प्यार करते हैं। जिनकी दृष्टिमें शत्रु-मित्र समान हैं, जिनकी दृष्टिमें दूसरा है ही नहीं, एक ही जनार्दनको जो सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा, सबमें देखते हैं, जिनको देहमें आत्माध्यास नहीं है और देहके सम्बन्धियोंमें भी जिनको ममता और मोह नहीं है, ऐसे भाग्यवान् पुरुषोंका जो देव अपना स्वरूप ही है, वही देव पूजनीय है।

भोला! चेत जा, जाग जा, मोहनिद्रा त्याग दे, शोक-तन्द्रा भगा दे, एक ही देव है, एक ही देवने-अनेक रूप धर लिए हैं, सब एक ही शिलके बट्टे हैं, तब क्यों किसीसे राग करता है, क्यों किसीसे द्वेष करता है, एकका ही सबमें दर्शन कर, एकका ही सबमें स्पर्श कर, एक ही को चख, एक ही को सूँघ, एकका ही गान कर, एकका ही ध्यान कर, भेद कहीं भी कभी भी किंचित् भी मत देख, अपने समान सबको प्यार कर, अपने समान सबको सन्मान दे, प्रतिष्ठा मत चाह, बड़े बननेकी इच्छा मत कर, छोटा बनकर दीन भी मत हो। जैसे तेरा देव सम है, वैसा ही तू भी सम रह, स्वप्नमें भी विषम मत हो। समता उस देवका पूजन है, समता उस देवकी भक्ति है, समता

ही ज्ञान है, समता ही योग है। समताके सिद्ध हो जानेसे भक्ति, ज्ञान, योग सब ही सिद्ध हो जाते हैं, समता सिद्ध न हुई तो किया हुआ दान, धर्म, ज्ञान भक्ति सब निष्फल हैं। 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' इस न्यायके अनुसार समता ही तप है, समता ही जप है, समतासे सम परमात्मा देवका दर्शन होता है, अन्य किसी प्रकारसे समब्रह्मका दर्शन नहीं होता। सूर्य सम होकर ही सबको प्रकाश दे रहे हैं, चन्द्र सम होकर ही सबके घरोंमें चांदनी देता है, ऐसा नहीं करता कि ब्राह्मण वेदपाठीके घरमें तो चांदनी दे और श्वपचके घरमें न दे। मेघ भी उपजाऊ और बंजर भूमि नहीं देखता, सबके ऊपर एक-सी ही वर्षा करता है। सर्वत्र सर्वदा समता वर्त रही है, फिर तू सम क्यों नहीं होता? समता धारण कर, सम हो जा, सम शान्त देवका आराधन कर, वही देव पूजनीय है।

सबका सार यह है—

(इन्द्रवज्रा छन्द)

(१)

जो देव सच्चा सम एकसा है, जो सर्वमांही नभ ज्यों भरा है।
प्यारा सभी के उरमें बसा है, सो पूज्य आत्मा सबका सदा है॥

(२)

कूटस्थ चेता मन बुद्धि साक्षी, विश्वेश सच्चित् सुख सिन्धुराशी।
कैवल्यभूमा श्रुतिने कहा है, सो पूज्य आत्मा सबका सदा है॥

(३)

ना नाम जाका सब नाम जाके, ना धाम जाका सब धाम जाके।
जो सर्व भी हो सबसे जुदा है, सो पूज्य आत्मा सबका सदा है॥

(४)

सर्वज्ञसे जो छिपता नहीं है, अल्पज्ञको जो दिखता नहीं है।
आवे न जावे ध्रुव ज्यों डटा है, सो पूज्य आत्मा सबका सदा है॥

(५)

हे ईश पूजा सम शान्त होना, निर्वैर होके सुख नींद सोना।
ना मित्र देखे, नहिं शत्रु देखे, छोटे बड़ेमें शिव एक देखे॥



ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी

(लेखक— पण्डितवर चण्डीप्रसाद शुक्लजी)

पूर्व लेखमें यह दिखलाया गया है कि दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति (मोक्ष) लौकिक उपायसे (गन्ध, माल्य, वनिता आदिके सेवनसे) तथा वैदिक उपायसे (धर्मकलापके सेवनसे) नहीं होती है, वह तो केवल ब्रह्मजिज्ञासासे ही होती है। अब इस लेखमें यह दिखलाया जायगा कि ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी कौन है ? क्या मनुष्यमात्र ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी है या कोई-कोई विशिष्ट ही अधिकारी है ? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् शङ्कराचार्यजीका कहना है कि मनुष्यमात्र ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी नहीं है, किन्तु पूर्व जन्ममें सञ्चित निरभिसन्धि भगवदर्पणबुद्धिसे अनुष्ठित पुण्यपुञ्जसे अथवा इसी जन्ममें अनुष्ठित तथोक्त पुण्यपुञ्जसे जिनका चित्त शुद्ध—मलरहित—हो गया है, जिनके हृदयमें नित्यानित्य वस्तुविवेक, ऐहिक और पारलौकिक विषयोंके भोगमें विराग, शम, दम आदि साधन-सम्पत्ति और मुमुक्षा क्रमसे उत्पन्न हो गई हैं, वे ही पुण्यात्मा महापुरुष ब्रह्मजिज्ञासाके अधिकारी हैं, मनुष्यमात्र अधिकारी नहीं है।

प्रश्न—प्रत्यगात्मा (जीव) नित्य है और शरीर, इन्द्रिय आदि अनित्य हैं, यह विवेक (निश्चय) यदि पुण्योदयसे ब्रह्मजिज्ञासासे पहले ही हो गया हो, तो वह व्यर्थ है, क्योंकि इसी निश्चयके लिए ही ब्रह्मजिज्ञासा की जाती है और वह यदि हो गया है, तो फिर उसके लिए ब्रह्मजिज्ञासा क्यों की जाय ?

उत्तर—यद्यपि ब्रह्मजिज्ञासासे पहले जीव सत्य है और शरीर, इन्द्रिय आदि असत्य हैं, ऐसा विशेषरूपसे निश्चय नहीं होता, यह तो ब्रह्मजिज्ञासाका फल है, अतः उसके बाद ही होता है; तथापि सत्यत्व और असत्यत्व ये दो शब्द इस जड़-चेतनमय संसारमें प्रसिद्ध हैं, अतः उनके अर्थ दो धर्म और उनके आश्रय दो धर्मी अवश्य हैं, ऐसा सामान्यरूपसे निश्चय हो सकता है। नित्यत्व सत्यत्व है, वह जिसमें रहे वह सत्य और उपादेय है। और अनित्यत्व—असत्यत्व है, वह जिसमें हो वह असत्य और अनुपादेय है, क्योंकि 'त्वम्' और 'अहम्' शब्दसे

व्यवह्रियमाण जड़चेतनमय संसारमें जो सत्य है, वह सुखरूप है और उपादेय है एवं जो असत्य है वह दुःखरूप है तथा अनुपादेय है, ऐसा नित्यानित्यवस्तुविवेक पूर्वजन्मके या इस जन्मके पुण्यसे किसी किसीको ब्रह्मजिज्ञासासे पहले भी हो सकता है। वे ही ब्रह्मजिज्ञासाके अधिकारी हैं।

प्रश्न—सब दृश्य स्वप्नके समान असत्य—मिथ्या—ही है, सत्य कुछ भी नहीं है। जब सत्य कुछ भी नहीं है, तब नित्यानित्यविवेक कैसे होगा ?

उत्तर—असत्य-मिथ्या-आरोपित ही होता है और अधिष्ठानके बिना आरोप नहीं होता है, इससे यदि आप असत्यको मानें, तो उसके अधिष्ठान सत्यको अवश्य मानना होगा। 'इदं रजतम्' इस भ्रममें शुक्तिरूप अधिष्ठान प्रत्यक्षसिद्ध है और स्वप्नभ्रममें 'स्वाप्नं वस्तु सदधिष्ठानम्, असत्यत्वात्, शुक्तिरजतवत्', (स्वप्नमें भासमान वस्तु सदधिष्ठान है, असत्य होनेसे, शुक्तिरजतके समान) इस अनुमानसे सिद्ध है।

प्रश्न—जब ब्रह्मजिज्ञासासे पहले ही अधिष्ठान सत्य है और उसमें आरोपित सब जगत् असत्य हैं, यह निश्चय हो गया, तब तो ब्रह्मजिज्ञासा व्यर्थ ठहरी, क्योंकि उसका फल अधिष्ठानका सत्यत्व पहले ही निर्णीत हो चुका।

उत्तर—यद्यपि ब्रह्मजिज्ञासासे पूर्व भी अधिष्ठान सत्य है, यह निश्चय रहता है, तो भी वह अधिष्ठान निर्गुण सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म ही है और उसीमें सब वेदान्तोंका समन्वय है, यह निश्चय नहीं रहता, अतः इन सब बातोंके निर्णयके लिए ब्रह्मजिज्ञासाशास्त्रका आरम्भ आवश्यक है, व्यर्थ नहीं है।

प्रश्न—यदि ऐसा है, तो नित्यानित्यवस्तुविवेकशब्दका प्रसिद्ध अर्थ नित्य—जिसका ध्वंस न हो—प्रत्यगात्मा और अनित्य—जिसका ध्वंस हो—शरीर, इन्द्रिय आदि वस्तुका विवेक—निश्चयरूप अर्थ—क्यों छोड़ते हैं ? इस पक्षमें भी प्रत्यगात्मा क्षेत्रभेदसे भिन्न-भिन्न नहीं है, किन्तु एक और सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप ही है, इत्यादि विशेषके निर्णयके लिए ब्रह्मजिज्ञासाशास्त्रारम्भका समर्थन हो सकता है, फिर 'नित्यानित्ययोर्वसति' ऐसी क्लिष्ट कल्पना कर नित्य—सत्य—और अनित्य—अनृत—अर्थात् मिथ्या, ऐसा अर्थ क्यों किया जाय ?

यदि आप कहें कि नित्यानित्यवस्तुविवेकशब्दका प्रसिद्ध अर्थ माननेपर प्रत्यगात्मा नित्य है, इस बातका पहलेसे ही निश्चय हो जानेसे 'असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' (ब्र० सू० अ० २ पा० ३ सू० ९)* इस अधिकरणमें आत्माके नित्यत्वका साधन निष्फल हो जायगा तथा साधनपादमें कर्मफलके अनित्यत्वका साधन

---

* सतः—ब्रह्मणः असम्भवः—सम्भवः-उत्पत्तिर्न, अनुपपत्तेः—उपपत्तेः—युक्तेः अभावात् (सत् ब्रह्मकी उत्पत्ति नहीं होती है, वह नित्य है, क्योंकि उसके अनित्य होनेमें कोई युक्ति नहीं है।)

भी व्यर्थ हो जायगा, तो हम भी कह सकते हैं कि यदि नित्यशब्दका सत्य और अनित्यशब्दका अनृतरूप बन्ध अर्थ करें, तो ब्रह्मजिज्ञासासे पहले ही बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय आदिके अनृतत्वके सिद्ध होनेसे 'तद्गुणसारत्वात्' इस अधिकरणमें बन्धके अनृतत्वका साधन व्यर्थ हो जायगा। और यदि आप कहें कि बन्धके अनृतत्वके सिद्ध होनेपर भी श्रुतियोंके† परस्पर विरोधके परिहारके लिए 'तद्गुणसारत्वात्' * यह अधिकरण सार्थक है, तो हम भी कह सकते हैं कि श्रुतियोंके‡ विरोधके परिहारके लिए 'असम्भवस्तु' यह अधिकरण भी सार्थक ही है। किञ्च, नित्यानित्यविवेककी असिद्धिके परिहारके लिए जो सूत्रमें 'अतः' शब्द है उसके व्याख्यानके अवसरपर कर्मफलमें नित्यत्वके प्रतिपादक वचनोंकी अपेक्षा कर्मफलके अनित्यत्वके प्रतिपादक वचनोंके प्राबल्यको ही भाष्यकारने युक्तिसे दिखाया है। बन्धके सत्यत्वके प्रतिपादक वचनोंकी अपेक्षा उसके मिथ्यात्वके प्रतिपादक वचनोंका प्राबल्य नहीं दिखाया है, इससे ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध नित्यानित्यविवेक ही भाष्यविवक्षित है, अतः सामान्यरूपसे सत्य और अनृतके सद्भावका निर्धारण (जो बन्धके अनृतत्वमें समाप्त होता है) नित्यानित्यविवेक है, यह जो कहा गया है, वह अयुक्त है ?

उत्तर—इस बड़े प्रश्नका उत्तर यह है कि भाष्यमें नित्यानित्यवस्तुविवेकके प्रदर्शनके बाद नित्य वस्तु ब्रह्मकी प्रेप्साका प्रदर्शन नहीं किया गया है, किन्तु इह अमुत्र फलके भोगमें विरागका प्रदर्शन किया गया है और पीछे नित्य वस्तुकी प्रेप्सासे उसकी प्राप्तिका उपाय कहा गया है, यह क्रम तब ठीक होगा जब कि अनित्यशब्दका अनृत—मिथ्या—अर्थ हो, और यदि अनित्यशब्दका अस्थायी—ध्वंसप्रतियोगी—अर्थ हो, तो भी यह क्रम ठीक नहीं बन सकेगा, क्योंकि विनाशी वस्तुका भोग करनेवाला पुरुष जब उसका त्याग कर देनेपर अविनाशी वस्तुके भोगकी प्राप्ति देखता है तभी उसे त्यागता है। और यदि अविनाशीकी प्राप्ति नहीं देखता, विनाशी वस्तुको नहीं त्यागता है और अनृत वस्तुका भोक्ता पुरुष वस्तुमें अनृतत्वका निश्चय होनेपर चाहे सत्य वस्तुके मिलनेकी सम्भावना हो चाहे

* 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इस श्रुतिके अनुसार जब जीवात्मा महान् है तब उसमें अणुत्वव्यपदेश कैसे होता है ? 'तद्गुणसारत्वात्—तस्याः बुद्धेर्गुणा इच्छादयः सारो यस्य संसारित्वे स तद्गुणसारः तस्मात्' (बुद्धिके गुण—धर्म अणुत्व आदिके अध्याससे जीवात्मामें गौण अणुत्वव्यपदेश है। जैसे परमात्मामें कहीं कहींपर अणुत्व-व्यपदेश होता है।

† 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मु० ३।१।९) 'स वा एष महानज आत्मा' (बृ० ४।४।२२) इन श्रुतियोंके।

‡ 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति' 'न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपयः' इन श्रुतियोंके।

न हो, दोनों दशामें अनृत वस्तुको त्याग ही देता है, कारण कि लोकमें ऐसा देखा गया है कि रजतार्थी मनुष्य यदि रजतभ्रमसे कहींपर रागसे प्रवृत्त हो, तो अपने ज्ञानमें अनृतत्वका निश्चय होनेपर शीघ्र चाहे सत्य रजतके मिलनेकी सम्भावना हो चाहे न हो उससे निवृत्त हो जाता है और पीछे कहींपर सत्य रजतको देखता है, तो उसमें प्रवृत्त भी होता है। इससे नित्यानित्यविवेकके अन्तर्गत नित्यशब्दका सत्य और अनित्यशब्दका अनृत-मिथ्या—ही अर्थ है, यह सिद्ध हुआ। परन्तु यदि लोकप्रसिद्धिके अनुसार वस्तुशब्दका सत्य अर्थ करें, तो नित्यशब्दका स्थिर और अनित्यशब्दका अस्थिर अर्थ करना पड़ेगा और इस परिस्थितिमें भाष्योक्त क्रम नहीं बनेगा, इसीसे आचार्य वाचस्पतिने 'नित्यानित्ययोर्वसति' ऐसा विग्रहकर वस्तुशब्दका यौगिक अर्थ धर्म किया है।

इस नित्यानित्यवस्तुविवेकका (एक अधिष्ठान ही सत्य है देह, इन्द्रिय आदि बन्ध अनृत—मिथ्या—है, इसका) सदा अभ्यास करनेवाले महापुरुषके हृदयमें यह ज्ञान उदित होता है कि इस संसारसागरमें सत्यलोकसे—ब्रह्मलोकसे—लेकर अवीचि नरकपर्यन्त नाना योनियोंमें दिन-रात, मास, ऋतु, अयन आदि कालकी उर्मियोंसे हम तथा सब जीव सदा भ्रमण कर रहे हैं। यह संसार अनित्य, अशुचि और दुःखरूप है इत्यादि।

समस्त संसार अनृत, अशुचि और दुःखात्मक है, इत्यादि ज्ञानसे युक्त उक्त विवेकके अभ्याससे इस लोकमें जो सुखजनक पदार्थ हैं तथा स्वर्गमें जो सुखजनक पदार्थ हैं उन सबमें विराग (अनादरबुद्धि) उत्पन्न हो जाता है अर्थात् प्रथम साधन नित्यानित्यवस्तुविवेकके अभ्याससे द्वितीय साधन वैराग्य उत्पन्न होता है।

प्रश्न—यह ठीक है कि नित्यानित्यवस्तुविवेक प्रभृति साधनचतुष्टयसे सम्पन्न पुरुषमें ही ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न होती है, परन्तु साधनचतुष्टय ही कैसे प्राप्त होगा? जो सुखजनक पदार्थ हैं, उनमें विवेकी पुरुषका भी राग देखा जाता है, उनमें वैराग्य कैसे प्राप्त होगा—जब रागका कारण विद्यमान है, तब उसका अभाव वैराग्य उत्पन्न कैसे होगा?

यदि कहें कि लौकिक सुख दुःखसे सम्भिन्न (मिश्रित) होते हैं, इससे उनमें दुःखके भयसे वैराग्य हो सकता है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सुखमें उत्कट राग होनेसे उसकी प्राप्तिके कारण होनेसे दुःखमें भी राग हो सकता है। ठीक बात तो यह है कि जब हमको सुखजनक सामग्रीका संग्रह करना है, तब जो अवर्जनीय दुःख उपस्थित होते हैं, उनके परिहारके लिए यत्न करना चाहिए। और सुखके नान्तरीयक होनेसे अवश्य प्राप्त दुःखको सहकर सुखजनक पदार्थका उपभोग करना चाहिए। लोकमें देखा जाता है कि धान्यका अर्थी किसान नान्तरीयक

होनेसे धान्यके साथ-साथ पलालका—तृणका—भी पहले ग्रहण कर लेता है, परन्तु पीछे धान्यका ग्रहणकर पलालका त्यागकर देता है। इससे नान्तरीयक दुःखके भयसे ऐहिक या पारलौकिक इष्ट सुखका त्याग उचित नहीं है। क्या मृग खेत चर जायंगे, इस भयसे किसान खेत नहीं बोते ? खेत तो अवश्य बोते हैं, परन्तु मृग चर न जायँ, इसलिए खेतको घेर देते हैं और क्या गृहस्थ भिक्षुओंके भयसे रसोई नहीं बनाते ? रसोई तो अवश्य बनाते हैं, परन्तु भिक्षुओंसे बचानेके लिए कुछ उपाय करते हैं*। और स्रक्, चन्दन, वनिता आदिके संयोगसे जन्य लौकिक सुखके क्षयी और उसके साधनके—अर्थके—आधीन होनेसे कोई अल्पबुद्धि भीरु मनुष्य उसे छोड़ भी दे, यह हो सकता है; परन्तु स्वर्गसुखको कोई बुद्धिमान् कैसे छोड़ सकता है, क्योंकि स्वर्गसुख नित्य है 'अपाम सोममसृता अभूम' (हम सोमयागमें हुतावशिष्ट सोमरसका पान करेंगे और अमृत—मरणरहित—हो जायँगे) इस श्रुतिसे स्वर्गसुख नित्य प्रतीत होता है†। यदि आप कहें कि स्वर्गसुखं क्षयि, कृतकत्वात्, (स्वर्गसुख क्षयी है, क्योंकि वह कार्य है) इस प्रकार क्षयका अनुमान करेंगे, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे 'मृतनरकपालं शुचि, प्राण्यङ्गत्वात्, शङ्खवत्', (मृत मनुष्यकी खोपड़ी पवित्र है, प्राणीका अङ्ग होनेसे, शंखके तुल्य) यह अनुमान 'स्पृष्ट्वा नारास्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत्' इस आगमके विरोधसे आभास है, वैसे ही 'अपाम सोमम्' इस आगमके विरोधसे यह भी अनुमान आभास है। इससे वैराग्यके न होनेसे उक्त साधनचतुष्टय नहीं हो सकता है, अतः ब्रह्मजिज्ञासाका कोई अधिकारी नहीं है, अतः ब्रह्मजिज्ञासाशास्त्रका आरम्भ व्यर्थ है।

उत्तर—इस बड़े प्रश्नका उत्तर यह है कि पाचक और कृषीवल भिक्षुक और मृगोंका परिहार भले ही कर लें, परन्तु सुख-भोक्ता पुरुष अनेक कारणोंसे उपस्थित दुःखोंका परिहार नहीं कर सकता है, क्योंकि अन्य दुःख न भी हों, फिर भी क्षय और साधनपारतन्त्र्य दुःखका सम्बन्ध सुखमात्रमें अपरिहार्य है। लोकमें ऐसा कोई शिल्पी नहीं है जो मधुविषमिश्रित अन्नसे विषको अलग कर मधुयुक्त अन्नको उपभोगके योग्य कर सके। इसीसे इन्द्रादि देवोंको भी दैत्योंके उपद्रवोंसे

* पूर्वपक्षीका आशय यह है कि काम—लौकिक सुख और उसके साधन अर्थसे वैराग्य हो ही नहीं सकता। यदि काम और अर्थसे वैराग्य होता, तो आज जो लाखोंकी संख्यामें गृहस्थ संयोगी वैष्णव और गृहस्थ गोसाई हैं, वे नहीं होते, जिनके पास बड़े-बड़े मकान हैं और लाखोंकी आमदनी है, इसीसे चार्वाक काम और अर्थ ये दो ही पुरुषार्थ हैं, ऐसा मानते हैं।

† इसीसे मीमांसकोंने धर्मको ही परम पुरुषार्थ माना है। विवेक-वैराग्यके अत्यन्त असाध्य होनेसे मोक्षसाधन ब्रह्मजिज्ञासाकी तरफ अणुमात्र भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया है।

जन्य दुःखोंका भोग करना पड़ता है। 'शुनीमन्त्रेति श्वा हतमपि निहन्त्येव मदनः' इस न्यायके अनुसार कोई अपनेको सुखी मान ले, यह और बात है; परन्तु वस्तुतः इस संसारमें सुखी कोई नहीं है। और क्षयिताका अनुमान भी आभास नहीं है, क्योंकि इस अनुमानकी 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' यह श्रुति सहायक है, प्रत्युत इस अनुमान और उक्त श्रुतिके विरोधसे 'अपाम सोमम्' इस श्रुतिमें 'अमृत' पद ही कल्पस्थायी स्थानमें लाक्षणिक है, ऐसी कल्पना हो सकती है। इससे विवेकके अभ्याससे इह लोक तथा परलोकके विषयभोगमें वैराग्य हो सकता है* ।

और विषयभोगसे विराग होनेपर ही शम, दम आदि साधनकी सम्पत्ति होती है, क्योंकि रागादि दोष आदि कषायरूप मदिरा चित्तको उन्मत्त कर देती है और उस मदिरासे उन्मत्त (पागल) मन इन्द्रियोंको ऊँच-नीच विषयोंमें प्रवृत्त करता है और जीवका त्रिविध दुःखोंकी ज्वालासे कराल संसाररूप अग्निमें होम कर देता है और वैराग्यसे जब रागादि कषाय नष्ट हो जाते हैं और उससे जन्य मद उतर जाता है, तब मन अपने-आप पुरुषके वशमें आ जाता है। यह मनकी विजय ही शम कहलाती है, इसीका नाम वशीकरण भी है। और विजित मनमें जो तत्त्वजिज्ञासामें नियोजनकी योग्यता उत्पन्न होती है, उसीको दम कहते हैं। जैसे 'दान्तोऽयं वृषभो युवा हलशकटवहनयोग्यतां नीतः' (यह बैल दान्त है और हल एवं शकटके वहनमें योग्य है) यह व्यवहार होता है, वैसे ही 'दान्तं मनः परमात्मज्ञानसम्पादने योग्यम्' (यह मन दान्त है, परमात्मज्ञानके सम्पादनमें योग्य है) यह भी व्यवहार होता है।

शम-दमादिमें आदिशब्दसे विषयतितिक्षा, विषयसे उपराम और तत्त्वमें श्रद्धा (आस्तिक्य) का ग्रहण करना चाहिए। यह बात श्रुतिमें कही गई है— 'तस्मात् शान्तो दान्त उपरतः तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्' (पूर्वोक्त कारणसे शम, दम, उपरम, तितिक्षा और श्रद्धासे युक्त होकर

---

* यहांपर निष्कर्ष यह है कि यद्यपि 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' (मोक्षमार्ग— विवेक वैराग्य—उस्तरेकी चोखी धार-सा है। थोड़ी-सी चूक होनेपर मृत्युका कारण हो जाता है) तथापि भगवत्कृपासे बुद्धिमान् पुरुष विवेक-वैराग्यको प्राप्त कर सकता है। वे दुःप्राप्य अवश्य हैं, परन्तु अप्राप्य नहीं हैं; इसमें मोक्षशास्त्र और आचार्यसम्प्रदाय प्रमाण हैं, अतः शरीरयात्राके लिए विषयसुख और अर्थका सेवन और चित्तशुद्धिके लिए धर्मका सेवन करना पड़ता है, फिर भी जीवनका परम लक्ष्य ब्रह्मजिज्ञासा ही बनानी चाहिए, परन्तु उस तरफ तबतक अग्रसर नहीं होना चाहिए जबतक साधनचतुष्टय प्राप्त न हो और साधनचतुष्टयकी प्राप्तिके लिए निष्काम कर्मका सेवन और सगुण ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए। जब भगवत्कृपासे साधन चतुष्टयकी प्राप्ति हो जाय, तब ब्रह्मजिज्ञासाकी तरफ अग्रसर होना चाहिए। अन्यथा कदापि नहीं।

आत्माकार मनकी वृत्ति करे)। इनमें उपरति विषयसे चित्तका उपरम—निवृत्ति—है। जब विषयमें वैराग्य—रागका अभाव—हो जाता है तब उससे चित्तका अवश्य उपरम—निवृत्ति—हो जाता है। तितिक्षा—सहन है, जब मनुष्य किसी लक्ष्यकी तरफ अग्रसर होता है, तब कुछ विघ्न अवश्य उपस्थित होते हैं और कुछ दुःख भी भोगना पड़ता है, उसीका सहना तितिक्षा है। जो मनुष्य नान्तरीयक दुःखसे घबड़ाते नहीं हैं, वे ही लक्ष्यको प्राप्त करते हैं। गीतामें लिखा है कि 'विषय और इन्द्रियके सम्बन्धसे दुःख होते हैं, वे अनित्य आगमापायी हैं, उनको सहन करना चाहिए। जिन महापुरुषोंको वे विचलित नहीं करते हैं, वे ही अमृतत्व (लक्ष्य) को प्राप्त करते हैं। श्रद्धा—विश्वास और शुश्रूषा दोनोंको कहते हैं। इनमें देव, शास्त्र और गुरुमें विश्वास और शुश्रूषा दोनों चाहिए। बहुत-से ऐसे मनुष्य हैं, जो ईश्वरमें केवल विश्वास ही करते हैं और ऐसे भी हैं जो विश्वास तो रखते हैं, परन्तु भजन-पूजन नहीं करते। शास्त्र दोनोंका विधान करता है। शास्त्रमें विश्वास आवश्यक है। इसके बिना कुछ नहीं होता है। और गुरुकी शुश्रूषा तो अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि शास्त्र और देव दोनोंमें विश्वास गुरुदेव ही कराते हैं

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

जिस पुरुषकी देव (ईश्वर) में बड़ी भक्ति होती है और जैसी देवमें वैसी ही गुरुमें भक्ति होती है। उसीके हृदयमें वेदान्तमें कथित अर्थ (ब्रह्मतत्त्व) भासता है।

अब यह सिद्ध हो गया कि नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि साधनचतुष्टयसे सम्पन्न महापुरुष ही ब्रह्मजिज्ञासाके अधिकारी हैं और ब्रह्मजिज्ञासा मोक्षरूप पुरुषार्थका प्रथम सोपान है।

——:o:——

श्रीरामचरितमें ग्रीष्म ऋतु

(ले०—साहित्यरञ्जन पण्डित श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

परिवर्त्तन ही संसारका स्वरूप है, यहां कहींपर भी एकरसता नहीं है। जहां किसी समय अगाध जलराशि थी, वहां अब गगनस्पर्शी हिममण्डित पर्वतोंकी श्रेणी विराजमान है, और जहां किसी समय सस्यमालिनी भूमि थी वहां इस समय समुद्र लहरा रहा है। जहां कभी ज्वालामुखी पर्वतकी ज्वालामालाओंसे पास-पड़ोसके देश कम्पित होते थे, वहींकी उर्वरा भूमि आज विदेशके लिए भी अन्नपूर्णा हो रही है और जो देश चार वर्ष पहले धन-धान्यसे सुसमृद्ध था, आज वही देश भूकम्पसे जर्जरित होकर अपने बच्चोंके पालनेमें भी असमर्थ हो रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि परिवर्तनका यह दृश्य दीर्घकालसे दृष्टिगोचर हो रहा है, पर क्या हम दिन-रात परिवर्तनका अनुभव नहीं करते? सुखद शिशिर ऋतुमें कैसा उत्साह रहता है? भगवती प्रकृति में नवीन प्राणका सञ्चार होता है, वृक्षोंके पुराने पत्ते झड़ जाते हैं, नये कोमल पत्ते आपसे आप निकलने लगते हैं, वायुकी कठोर शीतलता मन्द हो जाती है। दस दिनोंमें होली आ जाती है, दसों दिशाओंमें उत्साह ही उत्साह दिखाई पड़ता है।

फिर दृश्य पलटा खाता है, ऋतुराजके पदार्पणसे जगत् पुष्पमय हो जाता है, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु वहने लगती है, चाँदनीकी शोभा देखते ही बनती है, वर्णन नहीं किया जा सकता और आनन्द-मङ्गलका डेरा पड़ जाता है। पर परिवर्तन! तू भी धन्य है।

धीरे-धीरे यह सब सुख-सामग्री असह्य वेदनामें परिवर्तित हो जाती है। भगवान् अंशुमालीकी किरणोंकी बढ़ती हुई प्रखरतासे संसार सन्तप्त हो उठता है, और हठात् मुखसे निकल पड़ता है 'गरमी आ गई'। जो समर्थ हैं, वे इस देशका ही त्याग कर हिमालय अथवा समुद्रतटकी शरण लेते हैं और जो असमर्थ हैं, उनसे भी घरोंमें नहीं रहा जाता, ठण्ढी जगहोंकी तलाशमें व्यस्त हो जाते हैं।

इधर जो गरमी बढ़ी तो मालूम होता है कि संसारमें आग लग गई, मकानोंकी दीवारें जलने लगती हैं, सरित-सरोवरका जल सूखने लगता है, नित्य सींचे जाने-वाले बागोंके पेड़ कुम्हलाने लगते हैं, पशुपक्षी विकल हो उठते हैं। लोगोंके मुख सूखने लगते हैं, भूख मरी पड़ती है, नींद नहीं लगती, लोग घरके भीतर पड़े-पड़े तड़फड़ाने लगते हैं, बाहर भयानक लू चलती है और शरीर झुल-सा जाता है। ऐसे समय मछलियोंकी क्या विकलता कही जाय, जिनका जल ही जीवन है। इसी भाँति

मनुष्यके जीवनमें भी परिवर्तन होता है। जो इस संसारमें आया है, चाहे वह कैसी ही परिस्थितिमें हो, पर समय आनेपर उसे भी असह्य वेदना सहन करनी ही पड़ती है। औरकी कौन कहे, साक्षात् परब्रह्म जब अवतारग्रहण करते हैं और मनुज-चरित्र करते हैं, तो उनके चरित्रमें भी ग्रीष्म ऋतु आती ही है। कुछ सुख-दुख तो सभी ऋतुओंमें रहता है, पर असह्य यातना ग्रीष्म ऋतुमें ही होती है, इसी बातको लक्ष्य करते हुए श्रीगोस्वामीजी कहते हैं।

ग्रीषम दुसह राम बन गवनू। पंथ कथा खर आतप पवनू॥

श्रीरामावतारका प्रारम्भ गोस्वामीजीने शिशिरसे किया है, यथा—

सिसिर सुखद प्रभु जनम उछाहू।

बरनब रामबिवाह समाजू। सो मुद-मंगल-मय रितु राजू॥

अब विवाह भी हो गया, सरकारको भगवती जनकनन्दनीके साथ अवधमें रहते बारह बरस बीत गये, और

सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद मुखचंद निहारी॥

लोग सब सुखी हैं। परिवर्तनशील संसारमें सदा सब प्रकार कोई सुखी नहीं रह सकता, ऋतुराजका भी अधिकार सदाके लिए हो नहीं सकता। ग्रीष्म आ गया, श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

राजभवन सुख बेलसत, सिय सँग राम।
बिपिन चले तजि राज, सुबिधि बड़ बाम॥

[बरवै रा०]

कैसे वनवास हुआ? क्या हुआ? यह तो बड़ी भारी कथा है, और सभी इससे सुपरिचित हैं, पर मुझे तो इस रूपककी व्याख्या करनी है—

'ग्रीषम दुसह राम बन गवनू। पंथ कथा खर आतप पवनू॥'

रामचरितमें रामवनगमन ग्रीष्म ऋतु है। अब ऊपर कहे हुए ग्रीष्मका सब वर्णन रामवनगमनसे मिलाइये।

ग्रीष्मके प्रधान कारण भगवान् अंशुमाली हैं, सो यहाँ

'नारि कुमुदिनी अवध सर, रघुपति-बिरह दिनेश'

सरकारके विरह दिनेशके उदयसे संसार संतप्त हो उठा। महर्षि भारद्वाजजी कहते हैं—

'रामगमन बन अनरथ मूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला'

सूर्य्यका प्रखर ताप न सहकर समर्थ लोग देशके बाहर भाग रहे हैं, यथा—

सहि न सके रघुबर-बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी।

नगरका हाल देखिये—

हाट-बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहु दिसि लागि दवारी॥
बागन बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित-सरोवर देखि न जाहीं॥
हय गय खग मृग जाहिं न जोए। रामवियोग कुरोग बिगोए॥
सूखहिं अधर लागि मुहलाटी। जिअ न जाय उर अवधि कपाटी॥

प्रिय परिजन तो मछली ही ठहरे, ग्रीष्ममें जलके घटनेसे इनकी विकलता तो कही ही नहीं जा सकती। माता कौसल्या कहती हैं:—

अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम करुनाकर धरमधुरीना॥
अस विचारि सोइ करेउ उपाई। सबहिं जिअत जहिं भेंटेउ आई॥

सो बात पूरी न हुई,

'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुमहिं अधीना'

ऐसा वरदान माँगनेवाले, सत्यसन्ध महाराज दशरथने, अल्प जलमें पड़े हुए महामत्स्यकी भाँति अपने शरीरका ही विसर्जन कर दिया।

बन्दौं अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि रामपद।
बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तन तृन इव परिहरेउ॥

अब थोड़ासा 'लू' का भी हाल सुनिये 'पंथ कथा खर आतप पवनू'

पुर ते निकरी रघुबीर वधू धरि धीर धरी मगमें पग द्वै।
झलकीं भली भालकनी जलकी रद सूखि गये अधराधर द्वै॥
पुनि पूछति है चलिवो वा कितो पिय पर्नकुटी करिहौ कितवै।
तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अतिचारु चलीं जल च्वै॥

इतनेमें सुमन्तजी रथ लिये आ पहुँचे, और

'करि विनती रथ राम चढ़ाये'।

वहाँसे रथपर चले, शृङ्गवेरपुरमें निषादसे मिले, उसे भी लू लगी।

ग्रामवास नहिं उचित सुनि, गुहहिं भयो दुख भार।

और वह दुख और भी बढ़ गया, जब राम-सीताको उसने भूमिपर सोते देखा यथा—

भयउ विषाद निषादहिं भारी। राम-सीय महि-सैन निहारी।

गङ्गापार होनेपर तो फिर पैदल चलना पड़ा, यमुनापार होनेपर निषाद-राज भी विदा हुए। अब जो इन तीन मूर्तियोंको पैदल जाते देखता है, वही विकल हो जाता है, कोई पहुँचानेको तैयार हो जाता है—

'मारग अगम भूमिधर भारी। तेहि महँ साथ नारि सुकुवारी।
जहँ लगि जाव तहाँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुमहिं सिर नाई॥

किसीको ज्योतिपशास्त्र झूठा प्रतीत होने लगता है। कहने लगते हैं—

'मारग चलहु पयादेहि पाये। जोतिप झूठ हमारे भाये।

कोई राजा-रानीको दोप लगाता है और कोई ब्रह्मदेवको कोसता है।

कोउ कलस भरि आनहिं पानी। अँचइअ नाथ कहहिं मृदुवानी॥

इस भाँति रात भर दर्शकोंकी यही दशा है। जिसने पैदल जाते देखा, वही विकल हो गया। जो जितना मृदु था उसे लूने उतना ही विशेप कष्ट दिया।

भगवद्भक्तशिरोमणि भगवान् मारुती कहते हैं।

कठिन भूमि कोमल पदगामी। कवन हेतु वन विचरहु स्वामी॥
मृदुल मनोहर सुन्दर गाता। सहत विपिन हिमि आतप वाता॥

और वहाँसे लू (पंथ कथा) वन्द हुई। फिर भगवान् मारुतीने पैदल न चलने दिया— 'लए दोऊ जन पीठ चढ़ाई'।

पंथकथासे तीन काण्ड भरे हुए हैं, संक्षेपमें भी कहना कठिन है, प्रादेशमात्र दिखला दिया गया है।

असह्य होनेसे ही किसी कविने ग्रीष्मका वर्णन विस्तारसे नहीं किया, पर 'विधि प्रपंच गुन अवगुन साना' है। जहां वहुतसे दोप हैं, वहां एक गुण भी रहता है। ग्रीष्ममें ही पहला पानी पड़ता है, जिसे दँवगरा कहते हैं। यहाँसे वर्षाका प्रारम्भ समझना चाहिये। निशिचरोंसे वैर ही रामचरितका पावस कहा गया है, यथा—

वर्षा घोर निसाचर रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी॥

सो यहाँ खरदूपण संग्रामहीं दँवगरा है।

आँधीके साथ पानी आया—

'धूरि पूरि नभ मण्डल रहा। राम वोलाइ अनुज सन कहा॥
लै जानकि हि जाहु गिरिकंदर। आवा निसिचरकटक भयंकर॥

वर्षा भी खूब हुई—

सर-सक्ति-तोमर-परिघर-सूल-कृपान एकहिं वारहीं।
करि कोप श्रीरघुवीर पर अगनित निसाचर डारहीं॥

पहली ही वर्षा वेहन पड़ने योग्य हुई, सुरकुलसालिसुमङ्गलकारणी हुई, यथा—

हरखित वरखहिं सुमन सुर, वाजहिं गगन निसान।
अस्तुति करि करि सुर चले, सोभित गगन विमान॥



शान्तिप्राप्तिके साधन

(ले०—पं० मूलशङ्कर शास्त्री व्यास वेदान्ताचार्य)

वेदान्तका आपाततः श्रवण करनेवाले और उसका अध्ययन करनेवाले यह भली भाँति जानते हैं कि केवल आत्मज्ञानसे ही वह शान्ति प्राप्त होती है, जो चिरस्थायिनी एवं निरतिशयसुखस्वरूप है। उसके प्राप्त होनेपर और कुछ कर्तव्य या प्राप्तव्य नहीं रह जाता, फिर इस दुःखके सागर संसारमें भी नहीं आता, यह जाननेपर भी हम शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं, उसका कारण क्या है ? इसका केवल यही उत्तर हो सकता है कि हम उसके साधनके अनुष्ठानमें कमजोर हैं। शाब्दिक ज्ञान होनेपर भी उसके साधनमें हमारा इतना कम यत्न है कि उस शान्तिको प्राप्त करनेमें हम सर्वथा असमर्थ रहते हैं। प्रत्येक कार्यकी सिद्धिके लिए साधनोंको प्राप्त करना पहले नितान्त आवश्यक है।

कुछ लोग यह कहते देखे जाते हैं कि इस जन्ममें शान्तिकी प्राप्ति भले ही न हो, परन्तु जन्मान्तरमें अवश्य होगी। वे अपनी उक्तिकी पुष्टिके लिए प्रमाणरूपसे वाक्यको भी उद्धृत करते हैं—'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' अर्थात् अनेक जन्मोंके बाद ज्ञानी होकर मुझे प्राप्त करता है, मुझे याने ईश्वरको अर्थात् निरवधिक शान्तिस्वरूप मोक्षको प्राप्त करता है, परन्तु यह कहना तभी ठीक हो सकता है, जब कि शान्ति मिलनेके अव्यभिचरित साधनका अनुष्ठान होता रहे। परन्तु साधनके अनुष्ठानसे जो विहीन हैं, वे उस प्रकारका दावा नहीं कर सकते हैं। अतः शान्तिकी प्राप्तिके लिए साधनानुष्ठानकी आवश्यकता अवश्य होती है। केवल अभिलाषामात्र करके उस वस्तुकी चाह करना अपने उत्तम बहुमूल्य मनुष्य-जीवनका व्यर्थ अतिक्रमण करनामात्र है।

संसारमें ऐसे लोगोंकी भी कमी नहीं है जो जबानी जमा-खर्च करनेमें तो बड़े तेज होते हैं, पर काम कुछ भी नहीं कर सकते, ऐसे लोगोंसे उक्त शान्ति कोसों दूर रहती है।

यह जान चुकनेपर कि साधनानुष्ठान किसी भी वस्तुकी प्राप्तिमें अत्यन्त अपेक्षित है। हमें यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि ऐसा कौन साधन है, जिसका कि अनुष्ठान करनेसे हम भगवत्प्राप्ति या निरवधिक शान्ति प्राप्त कर सकें। व्यवहारमें हमें शान्तिके लिए अनेक साधन उपलब्ध होते हैं, परन्तु उन साधनोंसे नित्य शान्ति नहीं प्राप्त कर सकते। संसारमें धन, जन, पशु, मकान आदि जितने साधन हैं, वे सब-के-सब अन्तमें विनाशी हैं, अतः उनके मिलनेपर भी हम दुःखी ही

रहते हैं। विवेकदृष्टिसे खूब विचार करनेपर सभी प्राणी अर्थात् राजासे लेकर रंक तक दुःखी ही प्रतीत होते हैं, अतः अन्तमें हमें यह मानना जरूरी होता है कि व्यावहारिक धनादि साधन परम शान्तिमें सर्वथा अनुपयुक्त हैं। हाँ, इस प्रसङ्गमें यह विचारना अत्यन्त आवश्यक है कि धनादि भी परम शान्तिके लाभ करानेमें समर्थ हो सकते हैं, परन्तु कब? जब कि उनका उपयोग उक्त शान्तिके ठीक-ठीक साधनान्वेषणमें किया जाय। कि धनादिप्राप्तिके अनन्तर प्रायः हमारी वैसी मति नहीं रहती, बल्कि उसका क्षणिक वासनातृप्तिके लिए ही अधिकतर व्यय किया जाता है। इसमें हमारा अज्ञान कारण हो या अन्य कुछ कारण हो, अन्तिम परिणाममें मरणतक हमारी वासनाएँ बढ़ती जाती हैं और उक्त शान्तिसे हम अपना हाथ धो बैठते हैं।

अब हमें प्रकृत विषयके विवेचनमें उतरना चाहिए कि आखिर ऐसा साधन कौन है, जिसके बलसे परम शान्ति प्राप्त हो सकती है, इस प्रश्नके जवाबमें हमें शास्त्रके ऊपर ही दृष्टि देनी चाहिए। शास्त्रसे ही हम उन साधनोंको जान सकते हैं, क्योंकि वेदादि प्रमाणोंके आधारपर प्रवृत्त हुए शास्त्र केवल निरवधिक शान्तिके मार्ग बतलानेके लिए ही हैं, अतः हम शास्त्र प्रमाणकी उपेक्षा करके यदि स्वकीय बुद्धिसे ही काम लेंगे, तो अवश्य परिणाममें भ्रष्ट हो जायंगे। शास्त्रका लक्षण भी यही मिलता है—'हितशासनात् शास्त्रस्य शास्त्रत्वम्' अर्थात् हितके—हितसाधनके—कथनसे ही शास्त्रमें शास्त्रत्वका व्यवहार होता है।

हितमें भी कुछ ज्ञातव्य है, वह यह कि तीन प्रकारके हित होते हैं—आध्यात्मिक, आधिकभौतिक और आधिदैविक। इन तीनों हितोंके साधनोंका तत्-तत् स्थलमें शास्त्रीय विवेचन मिलता है। यद्यपि शास्त्रकी प्रवृत्ति केवल आध्यात्मिक शान्तिके मार्गोपदेशके लिए ही हुई है, तथापि जिसने शरीर धारण किया है, ऐसे जीवको व्यवहारमें भी उन साधनविशेषोंकी आवश्यकता होती है, जिनसे शरीरधारणमें कोई बाधा न पहुँचे। अतः उनका भी अर्थात् आधिभौतिक और आधिदैविक हितके साधनोंका विवेचन शास्त्रकारोंने उपयुक्त समझा और उचित भी है, क्योंकि जब हमारा शरीर ही न रहेगा, तो हम उस लक्ष्यभूता शान्तिको कैसे प्राप्त कर सकते हैं।

शास्त्रोंमें आध्यात्मिक शान्तिके मार्ग दो प्रकारके बतलाये गये हैं—एक प्रवृत्ति-मार्ग और दूसरा निवृत्तिमार्ग। प्रवृत्तिमार्गको भक्तिमार्गमें स्थान दे सकते हैं, क्योंकि भक्तिमार्ग ही एक ऐसा है, जिससे कि हम अपने लक्ष्य स्थानको किसी प्रकारकी अड़चनके बिना प्राप्त कर सकते हैं। निवृत्तिमार्गके होते हुए भी प्रवृत्ति-मार्ग ऐसा है, जो अपने-अपने व्यवहारमें रहकर उस मार्गसे भगवदनुग्रह प्राप्त कर सकते हैं। हम स्वाभाविकरूपसे विचार कर सकते हैं कि सांसारस्थित जनोंको निवृत्तिमार्गका अनुसरण नहीं हो सकता है, क्योंकि वे जन्मसे ही ऐसे अपने

सम्बन्धियोंके स्नेहपाशमें फँसे हैं कि उनका उनसे विच्छेद करना सर्वथा असम्भव-सा है। हाँ, कोई वैसा विरल पुरुष मिल सकता है, जो किसी पुण्यवश निवृत्तिमार्गके अनुसरणमें तत्पर हुआ हो। परन्तु वैसा निर्दुष्ट दृष्टान्त मिलना इस वर्तमान युगमें कठिन है। इसलिए संसार-प्रपञ्चमें रहकर भगवान्‌की भक्ति करना, यह एक परम साधन है। इस साधनके अनुष्ठानके विना हमें भगवान्‌का अनुग्रह प्राप्त नहीं हो सकता है। और उसके अनुग्रहके विना चिर शान्ति नहीं मिल सकती। संसारमें रहते हुए हमलोग क्या क्या अनर्थ नहीं करते, उन सब अनर्थोंके होनेपर भी हम उस दयालु आनन्दकन्द सच्चिदानन्द परमात्माकी कृपा उसकी भक्तिसे प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि वह दयासागर है। हम उसकी सेवा करते हैं, अतः उसके बदलेमें हमारे ऊपर कृपा नहीं करते, परन्तु अत्यन्त दयालु होनेसे ही वे कृपा करते हैं। यद्यपि वह सभीके ऊपर दया करते ही हैं, तथापि उस दयालुकी दयाका परिचय हमें उसकी उपासना द्वारा ही प्राप्त होता है। हमें सर्वदा उस दयालु भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह कृपा करे। उसकी कृपासे अतिरिक्त किसी प्रकारके फलकी हमें आशा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसकी कृपामें ही हमारा सब कुछ अभीष्ट भरा है। इस विषयमें एक दृष्टान्त महाजनोंसे सुना जाता है—

किसी एक मनुष्यने एक सुन्दर पाषाणके ऊपर आसन लगाकर भगवान्‌की दस हजार वर्ष तक उपासना की। दस सहस्र वर्षकी शुद्ध उपासनासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उसके समीप आकर उसे अपने वास्तविक दिव्यरूपमें दर्शन दिये। वे उस तपस्वीसे कहने लगे कि तुम क्या चाहते हो? भगवान्‌के उस प्रकारके वाक्यको सुनकर वह तपस्वी कहने लगा कि मैंने आपकी दस हजार वर्ष तक उपासना की है, अतः उस मेहनतका नैतिक फल जो मुझे मिलना चाहिए उसे दीजिए, भगवान्‌ने ऐसे शब्दोंके प्रत्युत्तरमें यह कहा कि मैं तुम्हें नैतिक फल अवश्य दूँगा, परन्तु तुम और दस हजार वर्ष तक तपश्चर्या करो। इस उत्तरको सुनकर उस तपस्वीने कहा कि तब और दस हजार वर्षके बाद ही आना था, बीचमें आपने कष्ट क्यों किया? भगवान्‌ने इसका उत्तर दिया कि मैं तुम्हारी इतनी उपासनासे प्रसन्न होकर ही तुम्हें तुम्हारा अभीष्ट देने आया हूँ, परन्तु तुम उससे नैतिक फलकी आशा रखते हो, इसलिए मैं नैतिक अर्थात् नीतिके अनुसार फल देनेको कहता हूँ कि और तुम्हें दस हजार वर्ष तक अधिक तप तपना चाहिए, कारण कि जिस पाषाणके ऊपर आसन लगाकर तुमने उपासना की है, वह पाषाण मेरा है। उसका किराया दिये बिना तुमने उसका उपयोग किया है, अतः व्याजसहित किराया यही है कि तुम्हें अन्य उपासना उतनी करनी होगी। वह तपस्वी इस बातको सुनकर आश्चर्य-चकित हुआ और अपनी असमर्थताके ऊपर ध्यान देते हुए उसने उस आनन्दस्वरूप भगवान्‌की प्रार्थना की कि आप मेरे ऊपर अनुग्रह करें, मैं अत्यन्त तुच्छ और

अज्ञानी हूँ, आपकी असीम सामर्थ्यको नहीं जान सकता। आपसे यदि मैं नैतिक फलकी अभिलाषा करूँगा, तो मैं कभी आपकी प्रसन्नता या अनुग्रह प्राप्त न कर सकूँगा। अतः मेरे ऊपर आपका सदा अनुग्रह रहे। बस, यही चाहता हूँ। दयामूर्ति भगवान् उसका अभीष्ट देकर अन्तर्धान हो गये।

इस कथासे हमें यही समझ लेना चाहिए कि हमारा कर्तव्य वह होना चाहिए, जिससे भगवान् प्रसन्न हों, और इसका साधन केवल भक्ति ही है, अन्य नहीं है। भक्तिके स्वरूपका अन्यत्र किसी समय विवेचन करेंगे। भक्तिसे ईश्वरका अनुग्रह और हमें निरवधिक चिरस्थायिनी शान्ति मिल सकती है। इस शान्तिके मिल जानेसे किसी प्रकारका दुःख रहता ही नहीं है, क्योंकि जितने दुःख होते हैं, वे सब-के-सब विषयोंके सम्बन्धसे ही हुआ करते हैं, यह सर्वजन-साधारण बात है। भगवान्की भक्तिके समयमें अन्तःकरणकी प्रवृत्ति केवल भगवदाकार ही होती है, अतः बाह्य विषयोंसे उसका धीरे-धीरे संसर्ग हट जाता है, फलतः बाह्येन्द्रिय भी शिथिल और अपने स्वाभाविक कार्यकरणमें अशक्त हो जाती हैं। भक्तिके परिपक्व होनेपर ईश्वरानुग्रहके लिए क्षणभरकी भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है, इसी बातको भगवान्ने खुद अपने श्रीमुखसे भगवद्गीतामें कहा है—

'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ ! मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥' इत्यादि।

जब कि बाह्य पदार्थोंसे अन्तःकरण हट जाता है, तभी भगवान्में उसकी तन्मय वृत्ति होती है, फिर वह विषयादिप्रयुक्त दुःखका अनुभव नहीं करता है। उसको केवल भगवान्में अन्तःकरणका सदा सम्बन्ध रखना ही अभीष्ट होता है। अन्तःकरणकी भगवदाकार वृत्तिके परिपक्व हो जानेपर भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त होती है, और सब दुःखोंसे मुक्त हो जाता है अर्थात् चिरकालस्थायी सुखशान्तिमें रहता है, यह उक्त वचनोंका तात्पर्य है। सारी गीतामें आध्यात्मिक शान्तिके मार्गोंका ही निरूपण किया गया है और उसका तात्पर्य भी इसमें ही है। शास्त्रीय एक क्रम है कि प्रत्येक ग्रन्थका तात्पर्य उपक्रमोपसंहारादिसे किया जाता है. इस नियमसे विचार किया जाय, तो भगवद्गीताका आरम्भ 'धर्मक्षेत्रे' शब्दसे हुआ है और उपसंहार 'मतिर्मम' इस शब्दसे हुआ है, इन दोनोंको मिला देनेसे एक अर्धश्लोक अपने हाथमें लगेगा, वह यह है—'धर्मक्षेत्रे मतिर्मम' अर्थात् मेरा (भगवान्का) विश्वास धर्मक्षेत्रमें ही है, अन्यत्र नहीं, क्योंकि धर्मसे ही तो मनुष्य उक्त शान्ति या मोक्ष प्राप्त कर सकता है। प्रकृतमें नवीन धर्मशब्दके आनेसे घबड़ाना नहीं चाहिए, क्योंकि धर्मका ही

विभाग किया है—प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग। ये ही शब्द इस लेखमें पहलेसे प्रस्तुत किये गये हैं। प्रवृत्तिमार्ग—भक्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग—संन्यास। यज्ञ आदि धर्म प्रवृत्तिमार्गमें अन्तर्भूत हो सकते हैं। लेकिन ये सब यज्ञादि इन्हीं दोनोंके लिए किये जाते हैं, क्योंकि अनादि संसारके अनेक दुरितविशेषोंसे अन्तःकरण इतना आक्रान्त रहता है कि उसकी सामर्थ्य उन दो मार्गोंके अनुसरणमें विलीन-सी रहती है। अतः अन्तःकरणमें भगवदाकार वृत्ति प्रस्फुरित हो, इसलिए उसको विमल करना आवश्यक रहता है। जैसे दर्पणमें प्रतिविम्ब ग्रहण करनेकी सामर्थ्य आवे, इसलिए उसकी मलिनताकी निवृत्ति किसी घर्षणादि क्रियाविशेषसे की जाती है वैसे ही अन्तःकरणमें भगवत्प्रतिविम्बका—भगवदाकारवृत्तिका—उद्भव हो, इसलिए उसकी मलिनताकी निवृत्ति यज्ञादि क्रिया द्वारा की जाती है।

इन सब बातोंसे यह फलित हुआ कि हम सांसारिक दुःखोंसे निवृत्त होकर परम शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। यदि हम किसी प्रारब्ध विपाकसे इस जन्ममें अपने लक्ष्यको न पा सकें, तो भी किसी जन्मान्तरमें अवश्य प्राप्त कर सकेंगे, इसी परिस्थितिको समझ कर ही भगवान्ने कहा कि 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' इस श्लोकमें 'बहु' शब्द उपलक्षण है, अर्थात् एक जन्म भी ले सकते हैं। शुभ कर्म करनेवालोंकी दुर्गति नहीं होती, यह संसारमें प्रसिद्ध बात है और शास्त्रमें भी भगवान्ने कहा है कि 'नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' अर्थात् शुभकर्मकर्ताकी दुर्गति तो हो ही नहीं सकती, परन्तु उसका जन्म तो 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' इस वचनके अनुसार पुनः ऐसे ही कुलोंमें होता है जहाँ वह पूर्व जन्ममें आरब्ध अपनी शुभवासनाओंको बढ़ा सके और उनके अनुकूल उपायका अनुष्ठान करता रहे। अतः भक्तिमार्गरूप प्रवृत्तिमार्ग आत्यन्तिक शान्तिका निर्विवाद साधन हो सकता है।

अब निवृत्तिमार्गके ऊपर आ जाइए, निवृत्तिमार्गका भी कुछ अर्थ होता है और वह इस संसारको क्षणिक वैराग्यसे या किसी प्रलोभनसे त्याग देनेसे ही नहीं कहा जाता किन्तु उसके लिए भी कोई क्रम है और उसका भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीने ही अपने साधनपञ्चक नामके स्तोत्रमें दिग्दर्शन किया है, साधनपञ्चकका प्रथम श्लोक यह है—

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम्॥१॥

इस श्लोकमें पहले उन लोगोंके लिए, जिनका वेदके अध्ययनमें निर्दुष्ट अधिकार है, बाल्यावस्थामें वेदाध्ययन कहा गया अर्थात् उपनयन संस्कारका मुख्य प्रयोजन वेदाध्ययन ही है, इसलिए उपनयन संस्कारसे संस्कृत होनेके पश्चात् अपना कर्तव्य समझ कर वेदाध्ययन करे, [इस श्लोकमें वेदशब्द अङ्गसहित वेदके अर्थमें आया है, केवल शुकवत् वेदके पाठमात्रसे उसका अर्थपरिज्ञान नहीं हो सकता है। यदि अर्थका बोध न होगा, तो वेदमें कहे हुए कर्मकलापका अनुष्ठान कैसे हो सकेगा ? इसीसे 'तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्' यह अन्तिम वाक्य भी सुसङ्गत होता है। जिस श्रुतिके आधारपर आचार्यचरण भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने इस वेदाध्ययनका विधान किया है, वह श्रुति इस प्रकार है—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' अथवा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' अर्थात् वेदाध्ययनमें जिनका अधिकार है, उन्हें किसी लौकिक फलविशेषकी अभिलाषा न करके अङ्गसहित—व्याकरण आदि अङ्गोंके साथ—वेदका अध्ययन करना चाहिए, उसके अर्थका परिज्ञान करना चाहिए और उसके बाद तदुक्त कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए, श्रुतिस्थ चकार शब्दसे अनुष्ठानविधिका लाभ होता है। अतः वेदशब्दका प्रकृतमें सांगवेद अर्थ श्रुतियुक्तिसम्मत है।]

सांगवेदके अध्ययनके बाद फिर कहा कि वेदोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करे, उसके बाद कर्मोंके अनुष्ठानसे केवल ईश्वरका आराधन करनेके लिए कहा, फिर काम्य कर्मोंमें कामनाका त्याग कहा, फिर प्राक्तन एवं ऐहिक पापोंका प्रक्षालन कहा, फिर सांसारिक सुखमें दोषोंका अनुसन्धान कहा, फिर आत्मेच्छाका व्यवसाय कहा और फिर अपने घरका अर्थात् संसारका त्याग कहा।

इनमें पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तरके हेतु हैं अर्थात् संसारत्याग आत्मेच्छा व्यवसायके अधीन है, आत्मेच्छाव्यवसाय सांसारिक सुखोंमें जबतक दोषदृष्टि न होगी, तबतक नहीं हो सकता सांसारिक सुखोंमें दोषदृष्टि पापोंके विनाशसे होगी, पापोंका विनाश काम्यकर्मोंमें अनास्थासे होगा, काम्यकर्मोंमें अनास्था ईश्वराराधनसे होगी, कर्मोंके अनुष्ठानके बिना ईश्वराराधन नहीं हो सकता और कर्मानुष्ठान वेदाध्ययनसे ही होगा।

उक्त साधनपञ्चकके श्लोकसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि संसार त्याग करनेमें कितने साधनोंकी आवश्यकता है ? वेदाध्ययन आदि साधनोंके क्रमसे परिगृहीत संसारत्याग याने निवृत्तिमार्ग ही अपने आत्माके परिज्ञानमें कारण है, इसके ज्ञात होनेपर हम विचार करें, तो आजकल बहुधा ऐसे क्रमसे वञ्चित ही आत्मज्ञानके अभिलाषी दृष्टिगोचर होते हैं, अतः निरवधिक शान्ति कैसे हो सकती है ? इसलिए उक्तक्रमपूर्वक गृहीत निवृत्तिमार्ग चिरस्थायिनी शान्तिका प्रयोजक है, यह निर्विवाद है।

यह दूसरी बात है कि यदि पूर्वजन्ममें उक्त क्रम अनुष्ठित हो, तो इस जन्ममें सीधे वैराग्य हो जाय, परन्तु ऐसे शुक आदि थोड़े ही दृष्टान्त दृष्टिगोचर होते हैं, अधिक नहीं। 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत्' (यदि गृहस्थाश्रम आदिका परिग्रह करनेकी इच्छा न हो तो ब्रह्मचर्यावस्थासे ही संन्यास धारण करे) यह श्रुति भी पूर्व जन्मके उक्त क्रमसे जिसको दृढतम संसारत्यागकी इच्छा होती है, उसीके प्रति ब्रह्मचर्य्यावस्थामें संन्यास ग्रहण करनेको कहती है, सर्वसाधारणके प्रति नहीं। इसी अभिप्रायकी 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' (जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन सब छोड़ देना चाहिए) यह दूसरी भी श्रुति समझ लेनी चाहिए।

सर्वसाधारणके लिए तो श्रुतिने साफ-साफ कहा है—

स होवाच याज्ञवल्क्यः।
ब्रह्मचर्य्यं परिसमाप्य गृही भवेत्॥
गृही भूत्वा वनी भवेत्।
वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥ इत्यादि

ब्रह्मचर्यकी समाप्ति करके गृहस्थाश्रमी हो, गृहस्थाश्रमकी समाप्ति करके वानप्रस्थ ग्रहण करे, वानप्रस्थके बाद संन्यासका परिग्रहण करे, यह श्रुतिका अर्थ है। स्मृतिमें भी लिखा है कि—

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥

अर्थात् विधिपूर्वक वेदाध्ययन करनेके बाद गृहस्थाश्रम स्वीकार कर पुत्रोत्पादन करे और अपनी शक्तिके अनुसार यज्ञोंको करके मनको मोक्षकी ओर लगावे।

यदि उक्त प्रकारके तत्-तत् आश्रमोंका परिग्रहण न करके संन्यासकी अभिलाषा करे, तो उसका अधःपतन होता है, जैसे—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथात्मजान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रज्यत्यधः॥

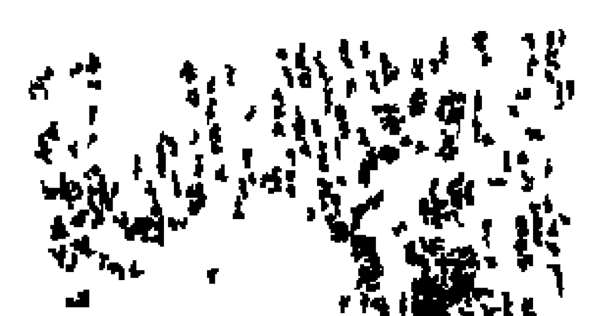
(अपूर्ण)

यह जगत् है या ब्रह्म है ?

(ले०—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

प्राकृत—अरे भाई ! यह प्रश्न ही निरर्थक है, जगत् स्पष्ट भासता है। तब जगत् ही है, ब्रह्म कहीं नहीं है। हाथ कङ्गनको आरसी क्या ? प्रत्यक्षमें प्रमाण क्या ? जगत्में अनेक प्रकारका व्यवहार प्रत्यक्ष दिखाई देता है, कोई मर रहा है तो किसीका जन्म हो रहा है, कहीं रोना माथा-पीटना हो रहा है तो कहीं नाच-गाना हो रहा है, कहीं साबित उड़द, रोटी, भात और कढ़ी बनाई गई है, मन मारकर लोग भोजन कर रहे हैं तो कहीं पूड़ी, हलवा, कचौड़ी, दालमोठ, मुरब्बा, अचार, समोसा, गुलाबजामुन आदि तैयार किये गये हैं, बड़े उत्साहसे सैकड़ों स्त्री-पुरुष भोजन कर रहे हैं। बाजारमें भीड़ हो रही है, कंधेसे कंधा छिला जा रहा है। परेटपर घोड़ोंकी दौड़ है, समूहके समूह तमाशा देखने जा रहे हैं। घुड़दौड़ करानेवालेकी बन आई है, चार रुपयेसे लेकर एक रुपये तकका टिकट है, टिकट-पर-टिकट बिक रहे हैं, रुपयोंका ढेर हो गया है, टिकट बांटनेवालोंको सांस लेनेको भी फुरसत नहीं है। यदि घुड़दौड़का टेका मुझे मिल जाता, तो मैं आज मालामाल हो जाता, उमरकी कमाई एक दिनमें ही आ जाती। परन्तु—'सकल पदारथ हैं जग माँही। भाग्यहीन नर पावत नाही ॥' मेरी यही कहावत है। जगत् सबको दिखाई देता है, ब्रह्मको किसीने आज तक नहीं देखा, इसलिए यह जगत् ही है, ब्रह्म नहीं है, कहीं भी नहीं है, किसी प्रकार भी नहीं है !

कुम्भकार—मेरी समझमें तो यह जगत् नहीं है, ब्रह्म ही है। जैसे मैं एक मिट्टीके अनेक बर्तन और अनेक खिलौने बना देता हूँ, उनके ऊपर अनेक प्रकारके रङ्ग चढ़ा देता हूँ। देखनेवालोंको घड़े, सकोरे, गोल माँट आदि अथवा हाथी, घोड़े, बकरी, गाय, मनुष्य आदि दिखाई देते हैं। किसी-किसी बालकको तो मिट्टी बिलकुल नहीं दिखाई देती, घोड़ा, हाथी आदि ही दिखाई देते हैं। बालक उसे देखकर ऐसा मचल जाता है कि उसके पिताको मुँह-मांगा मोल देना पड़ता है और खिलौना खरीदना पड़ता है। इसी प्रकार ईश्वरने अपनेमें आप ही इस अनेक नाम और आकृतिवाले जगत्का निर्माण किया है। जैसे



खिलौने आदि नाममात्र होनेसे मिथ्या हैं और मिट्टी वस्तुरूप होनेसे सच्ची है, वैसे ही यह नामरूप जगत् ब्रह्ममें कल्पित है और ब्रह्म ही सच्चा है, ऐसा मैंने वृद्ध पुरुषोंसे सुना है और मेरा भी ऐसा ही अनुभव है। इसलिए जगत् नहीं है, ब्रह्म ही है।

सुवर्णकार—ठीक है, मैं भी सुवर्णके अनेक आभूषण बना-बनाकर बेचता रहता हूँ अथवा मजदूरी लेकर जो कोई जैसा आभूषण चाहता है, वैसा ही बना देता हूँ। मुझे सुवर्णकी पहचान है, इसलिए मुझे कभी धोखा नहीं होता। कोई भी मेरे पास आभूषण बेचनेके लिए लाता है, तो मैं उसे सुवर्णके ही दाम देता हूँ। यदि कोई मेरे पास आभूषण खरीदने अथवा बनवानेके लिए लाता है, तो टांकेके दाम भी सुवर्णके बराबर ही लगा लेता हूँ, मजदूरी अलग लेता हूँ। जैसे सुवर्ण एक है, एक ही सुवर्णके अनेक आभूषण बन जाते हैं, वैसे ही एक ही ब्रह्म अपनी मायासे अनेक प्रकारका भासता है। बड़े-बूढ़ोंसे मैंने सुना है कि यह सब जगत् निश्चय ब्रह्म ही है। इसलिए यह जगत् नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है, क्योंकि जगत् आभूषणोंके समान नाममात्र होनेसे मिथ्या है और ब्रह्म सुवर्णके समान वस्तुरूप होनेसे सच्चा है।

जुलाहा—अजी! हमारे गुरुने तो हमको ऐसा उपदेश दिया है कि जैसे पट बाहर-भीतर ऊपर-नीचे तन्तुओंसे ओत-प्रोत है, वैसे ही यह जगत् बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण ब्रह्मसे व्याप्त है। जैसे पट तन्तुओंके सिवा अन्य कुछ नहीं है, वैसे ही यह जगत् ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ नहीं है, ब्रह्म ही है। जैसे पट नाममात्र होनेसे मिथ्या है, वैसे ही जगत् नाममात्र होनेसे मिथ्या है और जैसे तन्तु वस्तुरूप होनेसे व्यवहारमें सच्चा है, वैसे ही ब्रह्म वस्तु होनेसे परमार्थमें सच्चा है। जैसा हमने सुना है, वैसा युक्तियोंसे भी हमने निश्चय किया है। जैसे पट और तन्तुका अभेद है, वैसे ही जगत् और ब्रह्मका अभेद है, क्योंकि जो वस्तु जिससे व्याप्त होती है, वह उससे भिन्न नहीं होती। जैसे पट तन्तुओंसे व्याप्त होनेसे तन्तुरूप ही है, वैसे ही जगत् भी ब्रह्मसे व्याप्त होनेके कारण ब्रह्मरूप ही है, इसलिए जगत् नहीं है, ब्रह्म ही है, ऐसा मेरा निश्चय है।

मल्लाह—भाई! जैसा तू कहता है, ठीक वैसा ही मेरा भी निश्चय है। हमारे पूर्वजने श्रीरामचन्द्रजीके चरण धोकर उनका चरणोदक लिया था, इससे

उसकी बुद्धि शुद्ध हो गई थी। उसीकी शिक्षा आजतक कुल-परम्परासे हम लोगोंमें चली आई है। वह शिक्षा यह है कि जैसे तरंग, बुदबुदे, झाग आदिमें भेद है, वैसे ही जगत्में भोक्ता, भोग्यका भेद है और जैसे समुद्रमें भेद नहीं है, क्योंकि वह जलमात्र है, वैसे ही ब्रह्ममें भेद नहीं है, क्योंकि वह चिन्मात्र है। यह भोक्ता-भोग्यका भेद वास्तविक नहीं है, किन्तु श्रुतिसे, युक्तिसे और अनुभवसे उसका बाध हो जाता है। इसमें—'यहां नाना अर्थात् भेद कुछ नहीं है', 'एक ही अद्वितीय सत् है', 'अद्वैत परमार्थ है, द्वैत मायामात्र है' इत्यादि श्रुतियां प्रमाण हैं। युक्तियाँ तो ऊपर अनेक बताई भी गई हैं। सुषुप्तिमें सबको अद्वैतका अनुभव होता है और योगियोंको समाधिमें अद्वैतका अनुभव होता है, इसलिए द्वैतरूप जगत् नहीं है, अद्वैतरूप ब्रह्म ही है; ऐसा हम लोगोंका दृढ़ निश्चय है।

मुद्रक—भाइयो! आप सबका अनुभव और निश्चय सुनकर मेरे मनमें बहुत ही आह्लाद हुआ है। मैं भी अपने अनुभवका वर्णन करता हूँ। सुनिए, मेरे यहां छापनेका व्यवसाय होता है। मेरे छापेखानेमें अनेक लिपियोंके अक्षर हैं। उन अक्षरोंसे मैं अनेक ग्रन्थ छाप चुका हूँ। उन्हीं अक्षरोंको उलट-पलट कर मैं अनेक पुस्तकें छाप लेता हूँ। ये सब अक्षर लोहेके हैं, लोहा एक है और अक्षर अनेक हैं, क्योंकि यदि अक्षर गला दिये जायँ, तो लोहा ही हो जायं। जैसे लोहेमें अक्षर कल्पित होनेसे अक्षर मिथ्या हैं और लोहा सच्चा है, क्योंकि लोहेके बिना अक्षरोंकी सिद्धि नहीं होती, वैसे ही एक चिन्मात्र ब्रह्म सच्चा है और चिन्मात्र ब्रह्ममें भासनेवाला जगत् मिथ्या है। भाव यह है कि चिन्मात्र ब्रह्म भासक है और देहादि जगत् भास्य है। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त अहंकार, पांच भूत, तीनों लोक, चौदह भुवन ये सबके-सब भास्य हैं। इन सबका भासक ब्रह्म है। जिस ब्रह्मसे जाग्रत् और स्वप्नमें उन सब पदार्थोंका अनुभव होता है और समाधिमें सबके अभावका अनुभव होता है, उस चिन्मात्र ब्रह्मका कौन निषेध कर सकता है? कोई नहीं। इसलिए भास्य जगत् नहीं है, किन्तु भासक ब्रह्म ही है।

सारग्राही—सबका कथन युक्तियुक्त होनेसे मान्य है, फिर विद्वानोंका वचन है कि जबतक अपनी समझमें न आ जाय, तब तक किसीकी बात नहीं माननी चाहिए। जब अपनी समझमें आ जाय, तभी दूसरेकी बात स्वीकार

करनी चाहिए। इस जगत्‌में अन्न और अन्नाद दो पदार्थ हैं। जो खाया जाय, उसको लोकमें अन्न कहते हैं और खानेवालेको विद्वान् अन्नाद कहते हैं। अथवा अन्न नाम भोग्यका है और अन्नाद नाम भोक्ताका है। इन दोनोंको गीताकारने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ नामसे कहा है। और भगवान्‌का वचन है कि सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मैं हूँ। इससे सिद्ध होता है कि क्षेत्र अनेक होते हुए भी क्षेत्रज्ञ एक ही है, इससे एकत्व सिद्ध है, फिर भी विचारने योग्य है कि क्षेत्रज्ञ एक कैसे है, क्योंकि प्रत्येक शरीरमें जब क्षेत्रज्ञ भिन्न प्रतीत होता है, तब वह एक कैसे है?

घटका देखनेवाला घटसे भिन्न होता है, इस न्यायसे देहका जाननेवाला क्षेत्रज्ञ देहसे भिन्न होना चाहिए। स्थूल देहको मैं जानता हूँ, इसलिए स्थूल देहसे मैं भिन्न हूँ। प्राण आदि पाँचों प्राणोंको मैं जानता हूँ, इसलिए उन पाँचोंसे मैं भिन्न हूँ। श्रोत्र आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको मैं जानता हूँ, इसलिए उन पाँचोंसे मैं भिन्न हूँ। वागादि पाँचों कर्मेन्द्रियोंको मैं जानता हूँ, इसलिए उन पाँचोंसे मैं भिन्न हूँ। मन, चित्त, बुद्धि, अहङ्कार इन चारोंको मैं जानता हूँ, इसलिए इन चारोंसे मैं भिन्न हूँ। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंको मैं जानता हूँ, इसलिए इन तीनों अवस्थाओंसे मैं भिन्न हूँ। जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंके अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञको मैं जानता हूँ, इसलिए उन तीनोंसे मैं भिन्न हूँ। उन तीनोंसे दीखनेवाले सब जगत्‌को मैं जानता हूँ, इसलिए इस जगत्‌से मैं भिन्न हूँ। इस जगत्‌के अभावको भी मैं जानता हूँ, इसलिए इससे भी मैं भिन्न हूँ।

यदि कोई शङ्का करे कि अपने जाग्रत् और स्वप्नको तू भले ही जान ले, परन्तु अपनी सुषुप्तिको तू कैसे जानता है, सब जगत्‌को कैसे जानता है और उसके अभावको कैसे जानता है? इसका उत्तर यह है कि जाननेवाला चेतन होता है और ज्ञात अथवा ज्ञेय वस्तु अचेतन होती है। देहसे लेकर अहंकार तक सब जाननेमें आते हैं, इसलिए अचेतन हैं। इसी कारण तीनों अवस्थाएँ और तीनों अवस्थाओंके तीनों अभिमानी विश्व आदि भी अचेतन हैं। जगत् और जगत्‌का अभाव भी इसी हेतुसे अचेतन है। इन सबका द्रष्टा मैं ही एक चेतन हूँ, इसलिए मैं सबका जाननेवाला हूँ। यदि कोई कहे कि जाननेवाला होनेसे तो तू विकारी हो जायगा, तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि मुझ चेतनके सिवा सब वस्तु अचेतन होनेसे मिथ्या ही है। मुझ चेतनके बिना

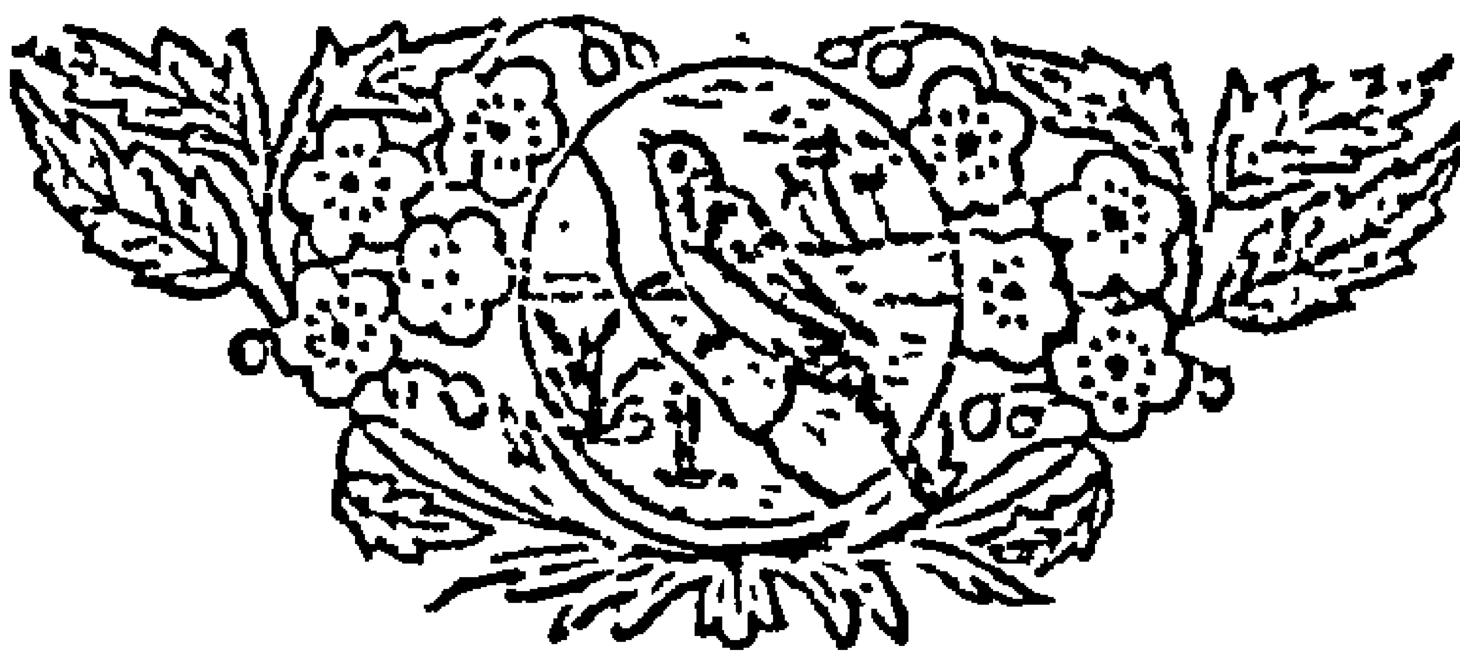
किसी अचेतन वस्तुकी सिद्धि नहीं होती, और मुझसे सबकी सिद्धि होती है; इसलिए इनकी सिद्धि करना यह भी मेरा देखना अथवा जानना है। भाव यह है कि मैं चेतन सर्वदा सर्वत्र विद्यमान हूँ। बुद्धि आदिसे आध्यासिक सम्बन्ध करके मैं सब जगत् और जगत्के अभावको देखता हूँ। नहीं तो मैं स्वस्वरूपमें स्थित हूँ। सबकी सिद्धि मुझसे होती है, इसलिए मैं ही एक सच्चा हूँ, मेरे सिवा सब मिथ्या है, मैं ही अपनी मायासे अन्नाद, क्षेत्रज्ञ अथवा भोक्ता हो जाता हूँ, परमार्थसे एक ही हूँ।

जब इस प्रकार श्रुति और युक्तिसे एक ब्रह्म ही सिद्ध है, ब्रह्मके सिवा दूसरी वस्तु नहीं है, तब शोक और मोह कैसा ? शोक और मोहका कुछ काम नहीं है। विद्वानोंका वचन है कि सबमें ब्रह्मभाव करना, यही चतुर मनुष्योंकी चतुराई है और देहभाव करना, यही मूढ़ पुरुषोंकी मूढ़ता है, क्योंकि श्रुति कहती है कि 'दूसरेसे भय होता है, एकमें भय नहीं होता, किन्तु अभय होता है' इसलिए अभयाभिलाषीका यह कर्तव्य है कि नित्य निरन्तर एक ब्रह्मको ही सर्वत्र देखे। यही सुखका मार्ग है, यही श्रेयका पन्थ है, यही शान्तिका उपाय है। इसके सिवा सुख, श्रेय और शान्तिका अन्य उपाय नहीं है।

हे मन ! जब एक देखनेमें अभय है और भेद देखनेमें भय है तब तू भेद क्यों देखता है ? एक अपने आत्माको ही सबमें देख, दूसरे किसीको मत देख ! श्रुति कहती है कि 'जो किसीको अपनेसे भिन्न देखता है, वह उसका तिरस्कार करता है यानी इस भेददर्शीको कभी भी स्वस्वरूपका ज्ञान न हो—ऐसा शाप देता है'। इस शापके कारण भेददर्शीको कभी स्वस्वरूपका बोध नहीं होता और स्वस्वरूपका बोध न होनेसे जन्ममरणरूप संसारकी निवृत्ति और परमानन्दरूप ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिए हे मन ! तू सर्वदा सूर्य, चन्द्र, वायु, जन्म और मृत्युमें एक अपनी आत्माको ही देख, सबमें अपना ही दर्शन कर, न किसीसे रागकर, न किसीसे द्वेष कर, न किसीकी कामना कर और न किसीपर क्रोध कर। न किसीसे भय खा, न किसीको भय दिखला, न चिन्ता कर, सर्वदा शान्त रह, दान्त रह, तितिक्षु बन, क्षमावान् हो, धैर्य धारण कर, संतोषका अवलम्बन ले, तृष्णा त्याग दे, आशा छोड़ दे, स्पर्धा मत कर, सम रह और समदर्शी बन। जिस किसीने शान्ति पाई है, इन्हीं उपायोंसे पाई है। एक, असङ्ग, विद्वान्, सद्घन, आनन्दघन,

अद्वितीय, सर्वोपाधिवर्जित, मायातीत, छायातीत, गुणातीत, कायातीत, निरञ्जन, निष्कल, प्रशान्त, अपनी आत्माका ही अनुसन्धान कर। एक आत्माके सिवा दूसरा कोई नहीं है। जो कुछ दीखता है, मरीचिका-जलके समान, वंध्याके पुत्रके सदृश अथवा स्वप्नकी सृष्टिके समान मिथ्या है। आत्माके अज्ञानसे भासता है, आत्माके ज्ञानसे लुप्त हो जाता है, इसलिए है ही नहीं। न होता हुआ ही तेरी मूर्खतासे दिखाई दे रहा है। बाहर देखना छोड़ दे, समाहित होकर अपने भीतर देख, थोड़े कालमें तुझे एक आनन्दस्वरूप आत्माका अनुभव होने लगेगा। आत्माका अनुमान होते ही संसार उड़ जाता है, स्वप्नमें भी दिखाई नहीं देता। है ही नहीं, तो दीखे कहाँ से? केवल आत्माके अविवेकसे भासता है और विवेकसे छिप जाता है, इसलिए हे मन! बाहर मत देख, भीतर ही देख। सच कहा है—

कुं०—बाहर ईश्वर ढूँढता, भीतर नाहीं मूढ़।
बाहर ईश्वर ना मिले, भीतर है सो गूढ़॥
भीतर है सो गूढ़, मिले फिर बाहर कैसे।
घरमें धन हो गुप्त, बाह्य ना पावे जैसे॥
भोला! तज दे मोह, त्याग मद ममता मत्सर।
भेद बुद्धि दे छोड़, देख शिव भीतर-बाहर॥



अद्वैतदर्शन

(गताङ्कसे आगे)

(लेखकः—पं० अमृतलालशास्त्री, वेदान्तव्याकरणतीर्थ, पेटलाद)

पूर्व लेखमें यह प्रतिपादन किया गया है कि परमात्मा ही 'सत्' पदार्थ है, प्रपञ्च असत् है। उसमें ईश्वरकी सत्ताका स्वीकार करनेवाले आस्तिक दर्शनकर्ताओंमें किसीको भी परमात्माके परमार्थ सत्यत्वमें विप्रतिपत्ति (विरुद्ध मत) नहीं है, किन्तु प्रपञ्चके सत्यत्व और असत्यत्वके विषयमें अवश्य विप्रतिपत्ति है। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक और पूर्वमीमांसा इन पांच दर्शनोंके निर्माता क्रमशः कपिल, पतञ्जलि, गौतम, कणाद और जैमिनि महर्षि एवं वेदव्यासप्रणीत ब्रह्मसूत्रके व्याख्याता मध्व, रामानुज आदि आचार्यगण दृश्य प्रपञ्चकी भी पारमार्थिक सत्ताका स्वीकार करते हैं। पूज्यचरण श्रीगौड़पादाचार्य तथा श्रीमच्छङ्कराचार्य प्रभृति आचार्यगण प्रपञ्चको असत् या मिथ्या कहते हैं।

इस तरह विप्रतिपत्तिका विषय होनेसे यह विषय अवश्य विचारणीय है।

किसी दृश्य वस्तुकी सिद्धि लक्षण और प्रमाणसे होती है। प्रपञ्चान्तर्गत भेदवादिसम्मत सब पदार्थोंके लक्षणोंके खण्डनका यौक्तिकशिरोमणि श्रीहर्ष पण्डितने खण्डनखण्डखाद्यमें विस्तारसे निरूपण किया है। यहां लेखविस्तारके भयसे मैं उसका उल्लेख नहीं करता हूँ।

प्रपञ्चकी सिद्धि किसी प्रमाणसे नहीं हो सकती है, इस विषयमें खण्डनकारकी एक अच्छी संग्रहात्मक उक्ति यह है—

'नात्यापत्त्या प्रमामात्रात् ते तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः।
तद्धियस्तद्दुरीकारे स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु ॥'

ज्ञानमात्रसे तत्-तत् पदार्थ स्वीकार करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इस पक्षमें सब विशेष ज्ञानोंमें ज्ञानत्वके अनुगत होनेसे एक पदार्थका ज्ञान होनेपर सब पदार्थोंकी सिद्धि हो जानेकी आपत्ति है। यदि घटके ज्ञानसे घटका स्वीकार माना जाय, अर्थात् तत्तद्विषयविशेषित ज्ञानसे तत्तद्विषयकी सिद्धि है, ऐसा माना जाय, तो आत्माश्रयदोषकी आपत्तिका वारण कौन करेगा? अर्थात् आत्माश्रय दोष दुर्वार होगा।

अतः घटज्ञानमें विशेषणरूपसे घट प्रविष्ट है, इसलिए घटकी सिद्धि घटके ज्ञानसे होती है; ऐसा कहना उचित नहीं है। और यह भी विचारणीय है कि तत्तद्विषयक प्रतीतिमात्रसे पदार्थकी पारमार्थिक सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि स्वप्नमें, जादूमें, रोगादिकृत इन्द्रियदोपकालमें अनेक अयथार्थ पदार्थोंका अवभास होता है, यह सर्वानुभव सिद्ध है। वहां तत्तत् पदार्थकी प्रतीतिके कालमें तत्तत् पदार्थकी सत्ता निश्चित ही होती है। परन्तु स्वप्नादिकी निवृत्ति होनेपर उनमें से किसीकी वास्तविक सत्ता नहीं थी, वे पदार्थ आभासमात्र ही थे, ऐसा निश्चयात्मक बाधज्ञान होता है। एवं अविद्यादोपकी महिमासे प्रपञ्चान्तर्गत सब जीवोंको पृथिव्यादि भूत और देह, घट आदि भौतिक पदार्थ सत्य दीख पड़ते हैं, इस प्रतीतिके बलसे उनकी वास्तविक सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती।

इस विषयमें जादूगरके तमाशेका दृष्टान्त सङ्गत है, क्योंकि जब कोई जादूगर, लोगोंकी बड़ी भीड़में जादूका खेल दिखलाता है, अनेक विचित्र पदार्थ प्रदर्शित करता है और कितने लोगोंकी जेबमें सैकड़ों रुपये या नोट भर देता है; तब वे लोग उन रुपयोंको बजाते हैं, सिक्के देखते हैं, उनकी ध्वनि और राजा-रानीका सिक्का ठीक प्रसिद्ध रुपयोंके तुल्य ही दीखता है। उस समयमें कुछ भी वैषम्य मालूम नहीं पड़ता है। परन्तु जब वे लोग जादूके प्रदेशसे बाहर चले जाते हैं, तब सारी जेब खाली हो जाती है।

वैसे ही भूलोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त यह सब प्रपञ्च महामायावी नटराज महेश्वरकी जादूसदृश मायाका ही प्रदर्शन है। उसके अभ्यन्तरवर्ती जीव इस विश्वरूप इन्द्रजालमें दृश्यमान पदार्थोंको सत्य समझें, यह बात स्वाभाविक है।

जादूमें धन, स्त्री, पुत्र आदिके मिलनेसे अनभिज्ञ जनको क्षणभरके लिए कुछ आनन्द अवश्य मिल जाता है, परन्तु वे सब पदार्थ जादूगरकी इच्छाके अधीन हैं। जिस समय वह चाहे उसी समय खींच लेता है। उसमें आनन्द मानना बड़ी अज्ञानता और मूढ़ता है। जादूका खेल दिखलानेवाला सज्जन जादूगर पहले ही यदि यह कह दे कि मैं जो चीज बतलाता हूँ, वह सब तमाशाका दृश्य है, इसमें सत्यताबुद्धि नहीं करनी चाहिए तो विवेकी बुद्धिमान् पुरुष तमाशा देखता हुआ खुश होता है, उसमें प्राप्त पदार्थोंसे हर्ष नहीं करता और उनके नाशसे शोक भी नहीं करता।

दार्ष्टान्तिकमें भी महामायावी परमेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रने स्पष्ट कहा है—

'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ! ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां द्रष्टुमर्हसि ॥'

सभी भूत मायायन्त्रारूढ हैं, यह भी भगवान्‌ने ही कहा है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥'

इन भगवद्वचनोंको न जाननेवाले अथवा जानकर भी अनादि अविद्याकी वासनाके बलसे इन वचनोंका अन्यथा अर्थ समझनेवाले ही प्रपञ्चकी पारमार्थिक सत्ताका प्रतिपादन करते हैं ।

वेदान्तशास्त्र दृश्य अनात्म पदार्थोंसे आसक्ति हटानेके लिए 'एकमेवाद्वितीयम्', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इत्यादि वचनों द्वारा दृश्य प्रपञ्चका बार-बार मिथ्यात्व उद्घोषित करता है ।

विषय नश्वर होनेके कारण बहुत कालतक रहकर भी अन्तमें अवश्य नष्ट हो जाते हैं, इससे उनका वियोग निश्चित है । जिस समय वे हमारा त्याग करेंगे, उस समय हमें अत्यन्त दुःख होगा । यदि हमीं उनका त्याग करें, तो त्यागजन्य सन्तोष अपूर्व सुखप्रद होगा ।

इस लोकके भोगसाधन स्त्री, धन आदि प्राणवियोग होनेपर साथ नहीं दे सकते, यह तो सुप्रसिद्ध बात है—

'धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्या गृहद्वारि जनः श्मशाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥'

सिकन्दर नामक एक बहुत बड़ा बादशाह हो गया है । उसने मृत्युके पूर्व अपने सम्बन्धियोंसे कह दिया था कि मेरी मृत्युके बाद जब मेरे शरीरको दफ़न करनेके लिए ले जाओ, तब ऐसा उपाय अवश्य करना जिससे कि 'मेरे दोनों हाथ खुले हुए सब लोग देख सकें जिससे जनताको यह ज्ञान हो जाय कि इतना बड़ा बादशाह भी मृत्युके बाद खाली हाथ जा रहा है !'

इस प्रकार ऐहलौकिक भोग्य पदार्थोंकी नश्वरता या उनसे वियोग प्रत्यक्षसिद्ध है और यज्ञादिजन्य पारलौकिक स्वर्गादि भोगकी भी नश्वरता अनुमान और आगमप्रमाणसे सिद्ध है। कृतकत्वरूप हेतुसे उनके भी अनित्यत्वका अनुमान किया जाता है। और श्रुति भी—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (जैसे यहां कृष्यादि कर्मसे सम्पादित धान्यादि पदार्थ क्षीण होते हैं, वैसे ही परलोकमें पुण्यसे सम्पादित देवादिशरीर और स्वर्गीय भोग भी क्षीण हो जाते हैं।)—इस प्रकार आमुष्मिक भोगकी नश्वरताका प्रतिपादन करती है। निरुक्तकार यास्काचार्यने वार्ष्यायणि आचार्यके मतसे अनित्य भावमात्रके छः विकार बतलाये हैं—'जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यतीति षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः।'

इस तरह अनेक विकार और अवस्थावाले पदार्थोंमें किस रूप या अवस्थाको सत्य कहना, ऐसी विप्रतिपत्ति होनेपर तत्त्वज्ञ महापुरुषने कहा है—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥

सत्त्व आदि गुणभूत कार्य पदार्थोंका परम तत्त्व—स्वरूप—दृष्टिगोचर नहीं होता है, और जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह सब माया ही है; तुच्छ है।

(क्रमशः)

झूला

मुकुट झोका ले रह्यौ यमुनाके तीर।
झूलत श्यामा श्याम कदमतर, चलि रही त्रिविध समीर॥
झोकनसो डरपति अति राधे लिपटत श्याम-शरीर।
लेत भुजन बिच हँसि-हँसि मोहन हरत सकल भव पीर॥
चहुँ दिसि ते घिरि आये बदरा गरजत गगन-गँभीर।
गावत गीत मल्हार सखी सब रिमि-झिमि बरसत नीर॥
भींजत लखि पिय तिनहिं उढ़ावत श्रीराधे निज चीर।
ता छनकी शोभा जु श्यामकी कहि न सकत हौं बीर॥
करत परस्पर केलि दोऊ मिलि लखि हिय धरत न धीर।
झूलै 'दास हरी' हू श्याम सँग तोर लाज जंजीर॥

—'दास हरि'

अच्युतकी महिमा

[ले०—महात्मा पं० श्रीफूलाशङ्करजी महाराज, खम्भात]

अहा ! 'अच्युत' शब्द कितना सुन्दर और व्यापक अर्थका वाचक है । जो जीव इसका उच्चारण या स्मरण करता है, उसको च्युत होनेका भय कभी रहता ही नहीं । ऐसे अभयदान देनेवाले अच्युतकी शरण भला किसको प्रिय न होगी ? अच्युतपदको प्राप्त हुए 'अच्युत' मुनिकी (प्रभुकी) शरणसे और उनके उपदेशसे अच्छे-अच्छे राजा और प्रतिष्ठित धनवान तन, मन और धनसे निष्काम कर्मयोगमें इतासक हो गये । गरीबसे गरीब, रोगी और प्राक्तन दुष्कृतकर्मोंके प्रभावसे कुमार्गमें प्रवृत्त प्राणी, चाहे वे स्त्रियाँ हों या पुरुष, जिन्होंने अच्युतके उपदेशके लिए अपने हृदयमें स्थान दिया, अपने-आपमें संतोषको पाकर निरभिमानी एवं पापाचरणसे मुक्त हो जाते हैं और अपने जीवनको सत्त्वगुणप्रधान दिव्यप्रवाहमें बहाने लग जाते हैं । अर्जुन-जैसा वीर और समर्थ योद्धा भी शोक-मोहमें फँसकर युद्धके समय अपने शस्त्रोंकी उपेक्षा कर, दीन-हीन बनकर, अच्युतके चरणोंमें गिरकर दीनतासे कहने लगा—हे भगवन् अच्युत ! मेरी बुद्धि और मन इतने असमंजसमें पड़ गये हैं कि अब मुझे क्या करना चाहिए, यह मेरी समझमें नहीं आ रहा है, क्या मुझे युद्ध करना चाहिए या यहाँसे भाग जाना चाहिए यानी इस अनर्थसे भरे हुए संसारका त्यागकर संन्यासी बन जाना चाहिए ? मैं आपकी शरणमें हूँ, भगवन् ! कृपाकर मेरा मोह नष्ट कीजिए । भगवान् 'अच्युतने' अपने श्रीमुखसे उसको गीताका दिव्य उपदेश सुनाया और उसका मोह नष्ट कर दिया । अर्जुन अपने कर्तव्यमें आरूढ़ हुआ और रागद्वेष आदिसे मुक्त होकर उसने अच्युतके उपदिष्ट मार्गमें दृढ़ रहकर अच्युत पद प्राप्त किया ।

जिन्होंने अच्युत-तत्त्वको करकमलवत् अपरोक्ष किया है, वे ही अपनी शरणमें आये हुए जीवोंको अभय बननेका सुगम मार्ग बतला सकते हैं और अच्युतपुरीके अमर धाममें प्रवेश करा सकते हैं । इस विनश्वर और अनर्थपूर्ण संसारमें रहनेवाले जीवको दो वस्तुओंका मिलना अत्यन्त कठिन है, एक तो अच्युत पदको प्राप्त हुआ कोई मुनि और दूसरी शरीरको अमर बनानेवाली कोई चीज अर्थात् संजीविनी या अमृत अथवा अमरफल । इन दोमें से एकाध वस्तु किसी पुण्यात्माके ही हाथ लग सकती है । कदाचित् हाथ लग भी जाय, तो पहले उसे पहचानना ही कठिन है । यदि किसी तरह पहचानी भी जाय, तो पूर्वजन्मके संस्कारसे उसका उपयोग करना तो कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव है ।

इस विषयमें एक दृष्टान्त हम लोगोंके सुननेमें आता है, वह यह कि पूर्व-जन्मके किसी पुण्यपुञ्जके परिपाकसे ख्यातनामा भर्तृहरि राजाको किसीने अमर-फल (वह फल, जिसके खानेसे पुरुषका कभी मरण ही नहीं होता) दिया। उस फलको पाकर उसने विचार किया कि यह फल मैं अपनी प्रिय रानीको दूँ, जिससे उसका मरण न होगा और मेरे जीवनमें उससे कभी वियोग भी नहीं होगा। इसके बाद स्त्रीमें अत्यन्त अनुरक्त उस राजाने अपनी पिङ्गला नामकी रानीको वह फल दे दिया। रानीके पास वह फल गया। वह उसके गुणोंको राजाके मुखसे सुन चुकी थी। रानी किसी अन्य पुरुषमें आसक्त थी, अतः उसने वह फल उस पुरुषको अमर बनानेके लिए दे दिया। वह पुरुष भी अन्य वेश्यामें आसक्त था, इसलिए उस पुरुषने उस फलको अपनी प्रिय वेश्याको दे दिया। वेश्याने एकान्तमें विचार किया कि मैं वेश्या हूँ, यदि इस अमर फलको खा जाऊँगी, तो मेरा भविष्यमें जीवननिर्वाह कैसे चलेगा? यदि इस फलको यहाँके राजा भर्तृहरिको दे दूँ, तो मुझे बहुत पारितोषिक मिलेगा और उसके अमर हो जानेसे अनेकोंकी रक्षा भी होगी। राजाके दरबारमें जाकर साष्टाङ्ग प्रणाम करके वेश्याने उनके चरणोंमें उस अमर फलको अर्पण किया। आखिरकार वह जहांसे आया था वहीं घूमते-घूमते पहुँच गया। राजा उस फलको देखकर बड़े विस्मयमें पड़ गया। अन्तमें रहस्यसे भी भली-भाँति परिचित हुआ और सांसारिक विषयोंकी तृष्णारूपी जंजीरको तोड़कर उस अमर फलको खा गया और अच्युत पदको प्राप्त हुए गुरुजीकी शरणमें चला गया।

इससे हम कदाचित् वैसी वस्तुको प्राप्त करें, तो भी पूर्व जन्मके दुरदृष्टसे उसका उपयोग नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार अच्युत मुनीश्वर भगवान् श्रीकृष्णके मुखचन्द्रसे निकले हुए अभयप्रद उपदेशको उक्त अमरफलके समान अनधिकारी और विषयासक्त पुरुष पाकर ग्रहण नहीं कर सकते हैं, किन्तु निरन्तर अच्युतशब्दार्थका जिन्होंने अनुशीलन किया है, वे ही उसके दिव्योपदेशसे इस संसारके मोहका भेदन कर दुस्तर संसाराब्धिसे तर जाते हैं। इसीसे हमको कहना पड़ता है कि अहा हा! 'अच्युत' शब्द कितना सुन्दर और व्यापक अर्थका वाचक है।



मानसमें पावस

(ले०—साहित्यरत्न पण्डित श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

वर्षा घोर निसाचर रारी । सुरकुल सालि सुमङ्गलकारी ।

पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजीने श्रीरामचरितमानसके 'निसाचर रारी' प्रसङ्गको वर्षा ऋतु माना है । यद्यपि वर्षारम्भ ग्रीष्म ऋतुके मध्य अर्थात् आषाढ़से ही हो जाता है, कविकुल-मुकुट कालिदास 'आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम्' लिखते हैं, दो एक पानी आषाढ़में पड़ ही जाता है, तथापि वर्षा ऋतुमें गणना श्रावण और भाद्रपदकी ही है ।

इसी भाँति खरदूषणवध तथा अशोकवाटिकासंहारमें निशाचररारिरूपी वर्षा दो चार हुई, पर वह आषाढ़की वर्षा थी, सावन-भादोंकी नहीं । इसीलिए कविने 'वर्षा घोर निसाचर रारी' कहा । संक्षेपतः लङ्काकाण्डका युद्ध ही सावन भादोंकी वर्षा है । चारों फाटक, कुम्भकर्ण तथा मेघनादका युद्ध सावनकी वर्षा है, और रामरावणयुद्ध भादोंकी वर्षा है ।

मैं यह नहीं कहता कि मेरे वाक्य आर्षवाक्यकी भाँति प्रमाण मान लिये जाँय, बल्कि यह प्रार्थना है कि श्रीरामचरितमानस खोल कर मिलान कर लिया जाय । ७ दोहोंमें चारों फाटककी लड़ाई है, ७ दोहोंमें कुम्भकर्ण लड़ा है और मेघनादकी तीनों लड़ाइयाँ ८ दोहोंमें कही गई हैं । अतः ७ + ७ + ८ = २२ दोहे हुए, और २२ दोहोंमें केवल रामरावण युद्ध हुआ । इसी गणनाके आधारपर मैंने सावन-भादोंका विभाग किया ।

पहली घटा सावनकी उठी । लङ्काके शहरपनाहके बुर्जोंपर निशाचरी सेना आ डटी । सोनेके बुर्जोंपर काले-काले निसाचरोंकी कैसी शोभा हुई, उसका वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

कोट कँगूरन्ह सोहहिं कैसे । मेरुके सृंगन जनु घन बैसे ।

अब लड़ाई प्रारम्भ होती है—

ढाहे महीधर सिखर कोटिन्ह विविध विधि गोला चले ।
घहरात जिमि पविपात पर्वत जनु प्रलयके बादले ॥'

तोपोंका दगना और वीरोंका सिंहनाद ही बादलोंका गर्जन है, यथा—

पवनतनयमन भा अति क्रोधा । गर्जेउ प्रलयकाल सम जोधा ॥

मेघनाद माया विरचि, रथचढ़ि गयउ अकास।
गर्जेउ प्रलयपयोद जिमि, भा कपि कटकहिं त्रास ॥ इत्यादि।

इस भाँति लड़ाइयाँ होती रहीं, रक्तसे रणाङ्गणके खाई-खन्दक सब भर गये।

भरेउ गाड़ भरि भरि रुधिर, ऊपर धूरि उड़ाय।
जनु अङ्गाररासिन पर मृतकधूम रह्यो छाय ॥

श्रावण समाप्त होते न होते, मघा लग गया। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

सक्ति सूल तरवारि कृपाना। अस्त्र सस्त्र कुलिसायुध नाना ॥
डारै परसु परिघ पाखाना। लागे वृष्टि करै बहु बाना ॥
रहेउ दसहु दिसि सायक छाई। मानहु मघा मेघ झर लाई ॥

मघाकी उपमा मघाके समयमें ही दी गई। आगे चलकर भी वाण वर्षा बहुत है, पर मघासे उपमा नहीं दी गई। मेघनाद वधके साथ श्रावण समाप्त हो जाता है, रक्षापूर्णिमा हो जाती है। जबतक मेघनाद जीवित था तब तक लङ्का अजेय थी। मेघनाद वधके साथ ही लङ्का जेय हो गई। फलतः देवताओंकी रक्षा हो गई, अतः स्तुतिमें कहते हैं:—

जय अनन्त जय जगदाधारा। तुम प्रभु सब देवन निस्तारा ॥

यही रक्षापूर्णिमा है। भाद्रपदमें रामरावणसंग्राम है। शास्त्रोंने भाद्र-कृष्ण चतुर्दशीके दिनकी नदीकी बाढ़को प्रमाण माना है, अतः भादोंमें ही शोणित नदीकी बाढ़ कही है। इसी स्थलपर वर्षाका पूरा रूपक कहा है, घटा आई, बिजली चमकी, बादल गरजा, इन्द्रधनु उगा, वृष्टि हुई, वज्रपात हुआ, झड़ी बध गई, पर्वतोंसे झरने बहे और सब मिलकर नदी हो गये—

देखि चले सनमुख कपिभट्टा। प्रलयकालके जनु घनघट्टा ॥
कर कृपान तरवारि चमकहिं। दहु दिसि जिमि दामिनी दमकहिं ॥
गज रथ तुरग चिकार कठोरा। गर्जत मनहु बलाहक घोरा ॥
कपि लंगूर विपुल नभ छाए। मनहु इन्द्रधनु उएउ सोहाए ॥
उठी धूरि मानहु जलधारा। बान बुन्दि भई वृष्टि अपारा ॥
दुहु दिसि पर्वत करहिं प्रहारा। वज्रपात जनु बारहिं बारा ॥
रघुपति कोपि बान झर लाई। घायल भे निसिचर समुदाई ॥
स्रवहि सयल जिमि निर्झर वारी। सोनित सरि कादर भयकारी ॥

इसके बाद नदीका पूरा रूपक है। दोनों किनारे, रेत, भँवर, जलजन्तु आदि सभीका वर्णन है, यथा—

छं०—कादर भयङ्कर रुधिर सरिता बाढ़ि परम भयावनी।
दोउ कूल दल रथ रेत चक्र अवर्त बहति भयावनी॥
जलजंतु पदचर गज तुरग खर विविध वाहनको गनै।
सरसक्ति तोमर सर्प चाप तरंग चर्म कमठ घने॥

दो०—वीर परे जनु तीर तरु, मज्जा बह जनु फेन।
कादर देखत डरहिं उर, सुभटनके मन चैन॥

इतना ही नहीं, नदीमें बाढ़ आनेपर इन्द्रद्युम्नका नहान लगता है। कहीं आधे जलमें मुर्दे रख दिये जाते हैं, कहीं मछलीका शिकार होता है, कहीं स्त्रियां नावर खेलती हैं, कहीं कजली होने लगती है, सो रुधिरसरिताके सम्बन्धमें सभी कुछ दिखाया गया है, यथा—

मज्जहिं भूत पिसाच बेताला। प्रमथ महा झोटिङ्ग कराला॥
कँहरत भट घायल तट गिरे। जहँ तहँ मनहु अर्ध जल परे॥
खैंचहिं गीध आंत तट भये। जनु बंसी खेलहिं चित दये॥
बहु भट बहहिं चढे खग जाहीं। जिमि नावरि खेलहिं सरि माहीं॥
जोगिनि भरि भरि खप्पर संचहिं। भूत पिसाच वधू नभ नंचहिं॥
भटकपाल कर ताल बजावहिं। चामुण्डा नाना विधि गावहिं॥

भाद्रपदकी अन्तिम वर्षा रावणवध कहते हुए लिखते हैं—

प्रतिमा स्रवहिं पविपात नभ अतिवात बहु डोलत मही।
बरषहिं बलाहक रुधिर कचरज असुभ अति सक को कही॥
उतपात अमित बिलोकि सुर नर नाग बोलहिं जय जये।
सुर सभय जानि कृपाल रघुबर चाप सर जोरत भये॥

यहां 'वर्षा घोर निसाचर रारी' समाप्त हो गई, परन्तु बिना आश्विनमें हस्तका जल पाये 'सुरकुल सालि' का पूरा मङ्गल नहीं होता, अतः हस्तकी वृष्टि कह कर वर्षाका प्रकरण समाप्त करते हैं, यथा—

दो०—कृपादृष्टि करि वृष्टि प्रभु, अभय किये सुरवृन्द।
भालु कीस सब हरखे, जय सुखधाम मुकुन्द॥



प्रतिबिम्बवाद और अवच्छिन्नवाद

[लेखक—स्वामी विज्ञानहंसजी महाराज, काशी]

जीवतत्त्व और जीवकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका विज्ञान मनुष्यके जानने योग्य सब विषयोंमें परम आवश्यक विषय है। जबतक जीव अपना स्वरूप न समझ जाय, तबतक न वह अपनी उन्नति कर सकता है और न मुक्ति पा सकता है, अतः जीवतत्त्व समझनेकी आवश्यकता सर्वोपरि है। किन्तु जीवतत्त्वको समझनेके लिए जिन सब विज्ञानोंके विचारनेकी आवश्यकता है उनकी विचारशैलियोंमें सन्देह डालनेवाले जो विषय हैं, उनका निराकरण करना आवश्यक है। इस समय जीवतत्त्वकी निरूपणशैलीमें प्रायः दो साम्प्रदायिक मत बहुत प्रचलित हैं। उन दोनोंमें से एकका नाम अवच्छिन्नवाद है और दूसरेका नाम प्रतिबिम्बवाद है।

इन दोनों वादोंके विषयमें उचित शङ्का-समाधान किया जाता है।

यद्यपि जीवतत्त्वके साथ इन वादोंका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, तथापि इनके समझ लेनेके बाद शङ्काओंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं रहेगी; अतः इन वादोंके स्वरूपका दिग्दर्शन कराया जाता है। जीवात्माके विषयमें जितने प्रकारके वाद भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक शास्त्रोंमें पाये जाते हैं, उन सबको दो विभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। जैसे एक—

'जीव ही ब्रह्म है 'जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः'।

जीव और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है, इसलिए ब्रह्मके समान जीव भी नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वभाव है।

और दूसरे पक्षके अनुसार जीव और ब्रह्म पृथक्-पृथक् वस्तु हैं। जीव दुःखत्रयके अधीन है और ब्रह्म क्लेशविहीन है। जीव अनित्य, अशुद्ध, अबुद्ध और अमुक्त है, ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है, जीव नियम्य है, ब्रह्म नियामक है और जीव व्याप्य है, ब्रह्म व्यापक है।

इन दोनों वादोंकी पुष्टिमें वेदान्तदर्शन, श्रुति और शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके प्रमाण भी मिलते हैं। वेदान्तदर्शनके अनुसार इन दोनों वादोंका नाम अवच्छिन्नवाद और प्रतिबिम्बवाद रक्खा गया है।

अवच्छिन्नवादके विषयमें वेदान्तदर्शनका यह सूत्र है—

'अंशो नानाव्यपदेशात्'

जीवात्मा परमात्माका अंशरूप है। जिस तरह सर्वव्यापक आकाशके एक

होनेपर भी घट, पट आदि उपाधिभेदके अनुसार घटाकाश, पटाकाश आदि उसकी संज्ञा होती है; किन्तु वास्तवमें घटाकाश और महाकाशमें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है, उसी तरह केवल अन्तःकरणरूप उपाधिके योगसे एक ही ब्रह्म नाना जीवरूपमें व्याप्त हो रहा है ।

प्रतिबिम्बवादके विषयमें वेदान्तदर्शनका यह सूत्र है—

'आभास एव च' २।३।५० ॥

जीवात्मा परमात्माका अंश नहीं है केवल आभासमात्र है । जिस तरह आकाशमें स्थित सूर्य या चन्द्रका प्रतिबिम्ब जलमें पड़ता है । वह प्रतिबिम्ब सूर्य या चन्द्रकी तरह दिखाई देनेपर भी वास्तवमें सूर्य या चन्द्र नहीं है; उसी तरह अन्तःकरणपर परमात्माका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही जीवात्मा है, वह वास्तवमें ब्रह्म नहीं है ।

इन दोनों मतोंकी पुष्टिमें श्रुति आदि अनेक प्रमाण शास्त्रोंमें पाये जाते हैं । जैसे अवच्छिन्नवादके विषयमें अथर्ववेदमें—

'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः ।'

कैवर्त, दास्यकर्मकारी और द्यूतकारी ये सभी ब्रह्म हैं । श्वेताश्वतर-उपनिषद्में—

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।'

ब्रह्म स्त्री है, ब्रह्म पुरुष है, ब्रह्म कुमार और कुमारी है और वृद्धरूपमें दण्ड लेकर ब्रह्म ही चलता है । संसारमें नानारूप धारण करके ब्रह्म ही सर्वत्र विराजमान है ।

मुण्डकोपनिषद्में—

'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षरात् विविधाः सौम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥'

जिस तरह सुदीप्त अग्निसे हज़ारों चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी तरह अक्षर ब्रह्मसे नाना प्रकारके जीव उत्पन्न हो होकर फिर उसीमें लीन हो जाते हैं ।

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।'

श्रीमद्भागवतमें—

'मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहु मानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥'

सभी जीवोंको सम्मानके साथ प्रणाम करना चाहिए, क्योंकि ईश्वर ही जीव-रूपमें सर्वत्र व्याप्त है। अवच्छिन्नवादके पोषक इत्यादि अनेक प्रमाण शास्त्रोंमें पाये जाते हैं।

इसी तरह प्रतिविम्ववादके विषयमें भी प्रमाणोंका अभाव नहीं है। जैसे ब्रह्मविन्दूपनिषद्में—

'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा वहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥'

एक ही ब्रह्म समस्त जीवोंमें अवस्थान कर रहा है। जलमें चन्द्रविम्वकी तरह समस्त जीवोंके अन्तःकरणमें उसका प्रतिविम्व है, वही जीवात्मा है। और भी—

'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वा-
नपो भिन्ना वहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो
देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥'

जिस तरह सूर्य एक होनेपर भी अलग-अलग जलमें प्रतिविम्वित होकर अनेक-सा दीखता है उसी तरह अद्वितीय ब्रह्म अन्तःकरणरूप उपाधिमें प्रतिविम्वित होकर अनेक होता है। अन्तःकरणमें पड़ा हुआ उसका प्रतिविम्व ही जीव है। इत्यादि अनेक प्रमाण प्रतिविम्ववादविषयक हैं। केवल इतना ही नहीं, वल्कि इन दोनों वादोंके बीचमें अनेक परस्पर विरुद्ध तर्क, शङ्का और उसके समाधान भी दीख पड़ते हैं।

अवच्छिन्नवादके विषयमें यह शङ्का होती है कि जव जीवात्मा परमात्माका ही अंश है, तो जीवात्मा नियम्य और परमात्मा नियन्ता, इस प्रकारका विभाग नहीं हो सकता; किन्तु संसारमें देखा जाता है कि परमात्मा सर्वथा ही जीवोंका नियन्ता है। इस शङ्काके समाधानमें यह कहा गया है कि यद्यपि जीवात्मा परमात्माका अंश है, तो भी परमात्माकी उपाधि माया उत्कृष्ट है और जीवात्माकी उपाधि अविद्या निकृष्ट है, इसलिए उत्कृष्टोपाधिसम्पन्न ईश्वर निकृष्टोपाधिसम्पन्न जीवात्माका नियन्ता हो सकता है।

संसारमें भी उत्कृष्टशक्तिसम्पन्न मनुष्य निकृष्टशक्तिसम्पन्न मनुष्यका नियन्ता देखा जाता है। और यह भी विचारणीय है कि केवल अविद्याजनित उपाधिके वलसे ही जीवात्मा और परमात्माके वीचमें इस तरहका नियम्य-नियामकभाव है, यह भाव वास्तविक नहीं है; इसलिए ज्ञान द्वारा आत्माका साक्षात्कार होनेपर यह भाव आमूलचूल नष्ट हो जाता है। इसीलिए पूज्यपाद सुरेश्वराचार्यने कहा है—

'ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः।
सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः॥'

जीवात्मा ईशितव्य और परमात्मा ईशिता है, इस तरहका सम्बन्धज्ञान केवल जीवात्माके स्वरूपके अज्ञानसे ही होता है। स्वरूपका ज्ञान होनेपर अज्ञान विनष्ट हो जाता है। अज्ञानका नाश होनेपर इस तरहका नियम्य-नियामकभाव नहीं रहता।

द्वितीय शङ्का यह होती है कि यदि जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं, तो जीवके दुःखसे ब्रह्मको भी दुःखित होना चाहिए, सो नहीं होता। इसके उत्तरमें श्रीभगवान् वेदव्यासजीने वेदान्तदर्शनमें कहा है—

'प्रकाशादिवन्नैवं परः' २।३।४६ ॥

जिस तरह सूर्यरश्मियोंके उपाधिवश सरल और वक्र आदि होनेपर भी सूर्य तत्तद्भावापन्न नहीं होता है, उसी तरह अंशभूत जीवके दुःखित होनेपर भी ब्रह्म दुःखित नहीं होता।

तीसरी शङ्का यह होती है कि जब जीव ब्रह्मका ही अंश है, तो शास्त्रोंमें जीवके लिए विधि और निषेधका उपदेश क्यों किया गया है? इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें निम्नलिखित सूत्र है—

'अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्' २।३।४८ ॥

देहसम्बन्धको लक्ष्य करके इस प्रकार विधि और निषेधोंका उपदेश किया गया है। जैसे अग्नि एक होनेपर भी श्मशानाग्नि हेय है और होमाग्नि उपादेय है, वैसे ही यहाँपर भी समझना चाहिए।

चौथी शङ्का यह होती है कि यदि जीव ब्रह्म ही है, तो कर्मोंका सांकर्य क्यों नहीं होता? अर्थात् एक जीवका कर्म अन्य जीवके साथ क्यों नहीं मिल जाता? इसके उत्तरमें वेदान्तदर्शनमें सूत्र है—

'असन्ततेश्चाऽव्यतिकरः' २।३।४९ ॥

और इसके भाष्यमें भगवान् शङ्कराचार्यने लिखा है कि 'उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम्। उपाध्यसन्तानाच्च नास्ति जीवसन्तानः। ततश्च कर्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति ॥'

जीव उपाधितन्त्र है। जब उपाधियाँ भिन्न-भिन्न हैं और वे परस्पर मिश्रित नहीं हो सकतीं तब जीवोंके कर्म और कर्मफल कैसे मिश्रित हो सकते हैं? अवच्छिन्नवादके विषयमें इस प्रकारके अनेक सन्देह और उनके निराकरण शास्त्रोंमें पाये जाते हैं।

अवच्छिन्नवादकी तरह प्रतिबिम्बवादके विषयमें पहले यह शङ्का होती है कि संसारमें देखा जाता है कि आकारवान् वस्तुका ही प्रतिबिम्ब होता है। दर्पणमें जो मुखका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसका कारण यह है कि मुख आकारवान् वस्तु है।

नीरूप वस्तुका प्रतिबिम्ब नहीं होता। आत्मा नीरूप है, इसलिए अन्तःकरणपर आत्माका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता।

इस शङ्काके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि रूपवान् द्रव्य प्रत्यक्षगोचर होता है, इसलिए उसका प्रतिबिम्ब भी प्रत्यक्षगोचर होता है। नीरूप द्रव्य प्रत्यक्ष-गोचर नहीं होता, इसलिए उसका प्रतिबिम्ब भी प्रत्यक्षगोचर नहीं हो सकता है, अतः नीरूप द्रव्यका प्रतिबिम्ब होता ही नहीं, ऐसा समझना ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुके अस्तित्वमें केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं है। अप्रत्यक्ष होनेपर भी प्रमाणान्तरसे सिद्ध होनेके कारण जिस प्रकार नीरूप द्रव्यके अस्तित्वका स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार अप्रत्यक्ष होनेपर भी श्रुत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध होनेके कारण आत्माके प्रतिबिम्बका भी स्वीकार किया जा सकता है।

दूसरी बात यह भी है कि नीरूप द्रव्यमात्रका प्रतिबिम्ब नहीं होता, ऐसी कल्पना ठीक नहीं है, क्योंकि अनेक नीरूप द्रव्योंका प्रतिबिम्ब देखा जता है। जैसे शब्द नीरूप है, परन्तु शब्दका प्रतिबिम्ब होता है। रूपवान् वस्तुका प्रतिरूप जैसे प्रतिबिम्ब है वैसे ही ध्वनिका प्रतिरूप प्रतिध्वनि भी ध्वनिका प्रतिबिम्ब है। ध्वनि बिम्ब है, प्रतिध्वनि प्रतिबिम्ब है। रूपादिका प्रतिबिम्ब दृश्य होनेके कारण जिस तरह चाक्षुषप्रत्यक्षविषय है, उसी तरह शब्दका प्रतिबिम्ब श्रोतव्य होनेके कारण श्रावणप्रत्यक्षविषय है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि नीरूप द्रव्यका भी प्रतिबिम्ब होता है। अतः नीरूप शब्द और आकाशके प्रतिबिम्बकी तरह नीरूप आत्माका भी प्रतिबिम्ब अन्तःकरणपर पड़ सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रतिबिम्बवादके विषयमें यह शङ्का और होती है कि आत्मा जब सर्वव्यापी है, तो अन्तःकरणमें भी आत्मा पहलेसे ही विद्यमान है। अतः अन्तःकरणमें आत्माका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता है, क्योंकि जिसपर जिस वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ेगा उन दोनोंके बीचमें व्यवधान न होनेसे प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है।

आत्मा और अन्तःकरणके बीचमें कोई व्यवधान नहीं है, इस शङ्काके समाधानमें यह कहा जा सकता है कि यह कोई अवश्यम्भावी नियम नहीं है कि जिसका जिसपर प्रतिबिम्ब पड़े उन दोनोंके बीचमें व्यवधान रहना ही चाहिए, क्योंकि नियमका व्यभिचार भी देखनेमें आता है—जैसे जलमें आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ता है। सर्वव्यापी होनेके कारण जलमें आकाशके पहलेसे विद्यमान रहनेपर भी जलमें आकाशका प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, इसलिए व्यवधानकी कल्पना ठीक नहीं है।

कोई-कोई कहते हैं कि जलमें जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह आकाशका नहीं है, किन्तु आकाशमें व्याप्त सूर्यकी किरणोंका है; ऐसी शङ्का करनेवालोंको समझना

चाहिए कि सूर्यकी किरणें आकाशमें सर्वत्र ही व्याप्त रहती हैं, इसलिए यदि केवल सूर्यकिरणका ही प्रतिबिम्ब होता, तो दूरस्थ विशाल आकाशके प्रतिबिम्बका दर्शन ही न होता था, परन्तु विशाल कटाहके मध्यभागकी तरह उसका प्रतिबिम्ब दीखता है, अतः जलमें जो प्रतिबिम्ब दीखता है, वह आकाशका ही प्रतिबिम्ब है, सूर्य-किरणोंका नहीं। इसलिए सिद्ध हुआ कि जिस तरह नीरूप और व्यापक आकाशका प्रतिबिम्ब जलमें पड़ सकता है, उसी तरह नीरूप व्यापक आत्माका भी प्रतिबिम्ब अन्तःकरणमें पड़ सकता है। वही—अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित चैतन्य—जीवात्मा है।

इस तरहसे अवच्छिन्नवाद और प्रतिबिम्बवादके सिद्धान्तोंको लेकर अनेक प्रकारके वाद-विवाद, जल्प तथा वितण्डाकी भी अवतारणा की जाती है। जिसके परिणामस्वरूप अनेक परस्पर विरोधी साम्प्रदायिक मतोंकी भी सृष्टि हुई है।

अतः इन दोनों वादोंका समन्वय तथा समाधान करते हुए जीवात्माके वास्तविक तत्त्वका यथामति निरूपण करनेका प्रयत्न किया जाता है।

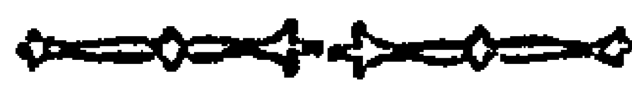
जीवभावके विकाशके समय पुरुष और प्रकृतिका किस प्रकार सम्बन्ध हो जाता है? इसपर अन्तर्दृष्टिकी सहायतासे संयमपूर्वक देखनेसे यही सिद्धान्त निश्चित होता है कि वास्तवमें वेदान्तदर्शनोक्त प्रतिबिम्ब और अवच्छिन्नवाद दो पृथक्-पृथक् मत नहीं हैं, किन्तु अविद्यासंचलित जीवात्माके विद्याराज्यकी ओर अग्रसर होनेकी दो क्रमोन्नत अवस्थामात्र हैं।

अन्तःकरण द्वारा जीवात्माकी प्रथम विकाशदशामें आत्मज्योति अविद्यान्धकारगाढ़ताके कारण इतनी तरलरूपसे प्रतिफलित होने लगती है कि उसे चिदाभास या चित्प्रतिबिम्बके सिवा और कुछ भी नहीं कह सकते और वही आत्मज्योति प्रकृतिराज्यमें जीवकी उन्नतिके साथ-साथ अविद्यान्धकारसे निर्मुक्त होकर अपनी ज्ञानमयी और प्रभामयी छटाको इस प्रकारसे दिखाने लगती है कि साधक जनोंको व्यापक चिन्मयस्वरूपके साथ उसके अंशांशिभावका सदा अनुभव होने लगता है।

अतः प्रतिबिम्बवाद और अवच्छिन्नवाद पृथक्-पृथक् मत नहीं हैं; किन्तु जीवात्माके क्रमोन्नतिमार्गमें परिदृश्यमान दो अवस्थामात्र हैं।

इसके सिवा प्रतिबिम्बशब्दके ऊपर जो इतना झगड़ा किया जाता है कि निराकार और व्यापक वस्तुका प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है? यह भी सर्वथा अज्ञानमूलक वृथा झगड़ा है, क्योंकि मन और वाणीसे अगोचर वस्तुको लौकिक शब्द और लौकिक दृष्टान्तके द्वारा समझाते समय दृष्टान्त और दार्ष्टान्तकी

सर्वाङ्गीण समता कभी नहीं देखनी चाहिए, क्योंकि लौकिक संसारमें ऐसा कोई भी दृष्टान्त नहीं है कि जिसके द्वारा अलौकिक आत्माका यथार्थ स्वरूप समझाया जा सके। अन्तःकरणके ऊपर व्यापक तथा नीरूप आत्माकी जो सत्ता प्रतिफलित होती है उसको ठीक-ठीक लौकिक रीतिसे प्रतिविम्ब नहीं कह सकते हैं। केवल इतना ही कह सकते हैं कि अन्तःकरणपर जिस प्रकारसे चित्सत्ताका विकाश होता है वह यदि लौकिक दृष्टान्त तथा शब्द द्वारा कहा जाय, तो लौकिक जगत्का प्रतिविम्बशब्द तथा शब्दद्योत्य भाव ही कथञ्चित् उस अलौकिक सत्ताके भावको प्रकट कर सकता है, यही प्रतिविम्ब कहनेका वास्तविक तात्पर्य है। इस तरहसे अनुभवगम्य विचार द्वारा प्रतिविम्बवाद तथा अवच्छिन्नवादके सिद्धान्तका निर्णय करनेसे कोई भी साम्प्रदायिक विरोध तथा वादकी संभावना नहीं रहेगी और जीवात्माके विषयमें सम्यक् ज्ञान प्राप्त होकर अविद्यान्धकारसे जीवकी मुक्ति हो सकेगी।



कामना

यदि नटवर आते गर्वसे फूलती मैं
निधड़क झुलवापे मौजसे झूलती मैं।
इस उपवनमें जो मैं उन्हें देख लेती
कसक हृदयकी मैं तो मिटा आज देती ॥ १ ॥

हरि हरि कह रातोंको गवाँती यहीं मैं
दिनकर-किरणोंको भी विताती यहीं मैं।
पर समझ न पाती क्यों न आते दुलारे
सखि, इन नयनोंके सामने कृष्ण मेरे ॥ २ ॥

—श्रीगोपालदत्त त्रिपाठी



शान्तिप्राप्तिके साधन

(ले०—पं० मूलशङ्कर शास्त्री व्यास, वेदान्ताचार्य)

(गताङ्कसे आगे)

द्विजकुलमें उत्पन्न हुआ पुरुष वेदोंका अध्यन किये विना, पुत्रोंको उत्पन्न किये बिना और शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक यज्ञादिका अनुष्ठान किये बिना यदि मोक्षकी इच्छा करता है, तो वह अधःपतनको प्राप्त होता है।

मधुसूदन सरस्वतीने एक स्थलमें तत्त्वज्ञानकी प्रक्रिया प्रायः उक्तानुसार ही बतलाई है—

निष्कामकर्मानुष्ठानं त्यागात् काम्यनिषिद्धयोः।
तत्राऽपि परमो धर्मो जपस्तुत्यादिकं हरेः॥
क्षीणपापस्य चित्तस्य विवेके योग्यता यदा
नित्यानित्यविवेकस्तु जायते सुदृढस्तदा
इहामुत्रार्थवैराग्यम्.....................
एवं सर्वपरित्यागात् मुमुक्षा जायते दृढा।
क्षीणदोषे ततश्चित्ते वाक्यात् तत्त्वमतिर्भवेत्
साक्षात्कारो निर्विकल्पः शब्दादेवोपजायते।

काम्य और निषिद्धके परिवर्जनपूर्वक निष्काम कर्मोंके अनुष्ठानसे चित्तमें रहनेवाले विविध पापोंका विनाश होता है। निष्काम कर्मोंके अनुष्ठानमें भगवान् सच्चिदानन्दका जप या स्तुति अधिक श्रेष्ठ है। पापोंके विनाशसे चित्तमें विवेक योग्यता प्राप्त होती है, फिर नित्य वस्तु और अनित्य वस्तुका विवेक (भेद) ज्ञान होता है। तदुपरान्त ऐहलौकिक और पारलौकिक फलोंके उपभोगसे वैराग्य होता है। इस प्रक्रियासे सब पदार्थोंके परित्यागसे मुक्ति पानेकी इच्छा होती है, अनन्तर निर्दुष्ट चित्तमें 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस वेदान्तमहावाक्यसे निर्विकिल्प बोध अर्थात् स्वतः परिशुद्ध ब्रह्मका ज्ञान होता है, यह उक्त श्लोकोंका अर्थ है।

निष्काम कर्मोंके अनुष्ठानके विषयमें कुछ लोगोंको ऐसा सन्देह होता है कि मनुष्य किसी कामनाके बिना कर्मोंका अनुष्ठान ही कैसे कर सकता है ? जैसे कोई लकड़हारा, जिसका जंगलसे लकड़ियोंको लाकर शहरमें बेचना काम है और उसीके द्रव्यसे वह अपना निर्वाह करता है, उससे यदि कहा जाय कि तुम किसी द्रव्यकी

अभिलाषाके बिना लकड़ी लानेका काम करो, तो वह कैसे कर सकता है। यदि कथञ्चित् करे, तो उसका और उसके कुटुम्बका जीवन निर्वाह कैसे हो सकता है? ठीक है, परन्तु जो उस प्रकारकी शङ्का करनेवाले हैं, उन्हें निष्काम कर्मानुष्ठानके विधानका परिज्ञान शास्त्रीय रीतिसे नहीं है, यही कहना होगा, क्योंकि शास्त्रोंमें जिन कर्मोंका निष्काम वृत्तिसे अनुष्ठान करनेके लिए कहा गया है, वे लौकिक कर्म नहीं हैं, किन्तु अलौकिक हैं। यदि शास्त्र लौकिक कर्मोंका अनुष्ठान बतलावे, तो ऐसे शास्त्रोंमें प्रामाण्य ही नहीं हो सकता, क्योंकि प्रामाण्य उसमें रहता है, जिसमें अनधिगत अर्थात् किसी शब्दातिरिक्त प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा ज्ञात न होनेवाले और अबाधित—उत्तर कालमें बाधक ज्ञानसे निवृत्त न होनेवाले—विषयका परिज्ञान करानेकी शक्ति हो। शरीर या कुटुम्बके निर्वाहके लिए व्यवहारमें जिन-जिन व्यावहारिक कर्मोंका अनुष्ठान अपेक्षित है, उन कर्मोंका व्यावहारिक फल तो अवश्य होना चाहिए, अतः निष्काम कर्मोंके अनुष्ठानके विधानसे अलौकिक कर्मोंका ही अनुष्ठान अभिप्रेत है। अलौकिक काम्य आदि कर्मोंके अनुष्ठानसे उनका फल जन्मान्तरमें मिलता है, इसलिए उन कर्मोंके फलोपभोगके लिए दूसरे जन्मको धारण करनेको नितान्त आवश्यकता रहती है। फलतः जन्मचक्रप्रवाह कभी विश्रान्तिको प्राप्त नहीं होगा और मोक्ष अर्थात् निरवधिक शान्ति दूर-की-दूर जाती रहेगी, अतः काम्य सोमादि कर्मोंके अनुष्ठानका परित्याग शास्त्रकारोंने उपयुक्त समझा। 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' इत्यादि गीतास्मृतिमें भी काम्यादि कर्मोंके बिना केवल चित्तशुद्धिके कारण कर्मोंका ही अनुष्ठान कहा गया है। इसलिए जिनको पुण्यपुञ्जवश मोक्षकी दृढतर इच्छा हुई हो, उन्हें अपने अन्तःकरणकी परिशुद्धिके लिए ही कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए, किसी फलकी अभिलाषा करके नहीं। चित्तगत विक्षेपादि दोषोंका निराकरण होनेके पश्चात् क्रमशः वैराग्य द्वारा निवृत्तिमार्गका अनुसरण यथोचित रीतिसे पुरुष कर सकता है।

साधनपञ्चकमें भी आगे जाकर इसी बातपर विशेष रूपसे जोर दिया गया है, साधनपञ्चकस्तोत्रमें छः श्लोक हैं, उनमें पाँच श्लोक तो एक प्रकारसे तत्त्वज्ञानके साधनरूपसे स्थित हैं, क्योंकि उनमें तत्त्वज्ञानोपयुक्त साधनोंका ही कथन किया गया है। और छठा श्लोक फलश्रुति है। इस स्तोत्रके अर्थपरिज्ञानपूर्वक पाठ करनेसे यह ठीक रूपसे विदित हो जाता है कि निरवधिक शान्तिके लिए हमको किन-किन साधनोंकी आवश्यकता है।

(अपूर्ण)



यहाँ अच्छा बुरा कुछ नहीं है।

(ले०—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

भाई मन ! मूढ़ न बन, हो जा चेतन। किसीके स्वभावकी और किसीके कर्मकी प्रशंसा या निन्दा न किया कर। संसारमें अनेक प्रकारके मनुष्य हैं, अनेक प्रकारका उनका स्वभाव है, किसीका स्वभाव शान्त है, किसीका घोर है, किसीका मूढ़ है, कोई ईश्वरका भजन करता है, कोई धर्ममें रत है और किसीको अधर्म प्रिय लगता है। इस प्रकार मनुष्योंके स्वभाव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं। तू उनके स्वभावों और कर्मोंपर क्यों ध्यान देता है, व्यर्थ ही दूसरोंके संस्कार अपने ऊपर लेकर अपनेको क्यों दूषित बनाता है ? दूसरोंकी बला अपने सिरपर क्यों लेता है ? देख, यह प्रपञ्च सच्चा नहीं है, एक ब्रह्म ही सच्चा है, वही तेरा आत्मा है यानी तेरा स्वरूप है। उसीका अनुसन्धान किया कर। दूसरोंकी निन्दा या स्तुति करनेसे यह मिथ्या संसार भी सच्चा प्रतीत होने लगेगा और तू अपनी निष्ठासे भ्रष्ट हो जायगा। ब्रह्मनिष्ठा ही तेरा स्वार्थ है, वह तेरा कर्तव्य है, उसीको किया कर, दूसरेके गुणोंको अथवा दोषोंको न देखा कर। दूसरा कहीं है ही नहीं, अपनी मूर्खतासे तूने संसार खड़ा कर लिया है यानी संसारमें गुण या दोष देखनेसे ही नहीं होता हुआ भी संसार भासने लगता है। इसलिए पराये स्वभावोंको और पराये कर्मोंको देखना छोड़कर अपनी आत्माकी तरफ मुंह मोड़ कर, आवागमनके पाशको तोड़कर सुखी और शान्त हो जा, मान जा, मेरा कहना मान जा, अपनी टेढ़ी चाल छोड़ दे, सीधे मार्गपर बेखटके होकर चल। यहां अच्छा बुरा कुछ नहीं है।

देख, यह जगत् ब्रह्मका विवर्त है यानी ब्रह्म ही अज्ञानियोंको जगत्‌रूपसे भासता है, इसलिए परमार्थरूपसे जगत् है ही नहीं। जब जगत् है ही नहीं, तो इसमें क्या भद्र और क्या अभद्र ? न इसमें कुछ भद्र है, न कुछ अभद्र है यानी जगत्‌में भला बुरा कुछ नहीं है। आँखोंसे जो कुछ दीखता है, वाणीसे जो कुछ कहा जाता है और मनसे जिसका ध्यान किया जाता है, वह सब मिथ्या है। भाव यह है कि जब वस्तु आँखोंसे दीखती है, वाणीसे कही जाती

है और मनसे उसका ध्यान किया जाता है, तब उसकी प्रतीति होने लगती है, यदि आँखसे न देखें, वाणीसे न कहें, कानोंसे न सुनें, जिह्वासे न चखें, नाकसे न सूघें, त्वचासे स्पर्श न करें और मनसे ध्यान न करें, तो वस्तुकी प्रतीति ही नहीं होती। इसलिए वस्तु है ही नहीं। यदि तू कहे कि यदि संसार है ही नहीं, तो भय क्यों होता है, तो इसका उत्तर यह है कि मिथ्या पदार्थोंसे भी कार्यकी सिद्धि देखी जाती है। छाया यानी प्रतिबिम्ब, प्रतिध्वनि और आभास, इनसे जैसे प्रयोजनकी सिद्धि होती है, वैसे ही मिथ्या देहादिसे भी भय आदि कार्य होते हैं। यदि तू कहे कि सृष्टि आदि द्वैतका तो श्रुतियोंने वर्णन किया है, तब वे मिथ्या कैसे हैं? इसका उत्तर यह है कि श्रुति सृष्टि आदिका वर्णन नहीं करती, किन्तु अविवेकियोंको प्रतीत होनेवाले जगत्‌का अनुवाद करके अद्वैत ब्रह्मका बोध कराती है। इसलिए आत्माके सिवा दूसरा पदार्थ नहीं है। और बिना कारणके ही आत्मामें प्रपञ्च प्रतीत होता है, क्योंकि गुणमय होनेसे यह समस्त प्रपञ्च मायामय है। जो गुणमय होता है, वह मायामय ही होता और जो गुणमय नहीं होता, वह मायामय नहीं होता, जैसे आत्मा गुणमय नहीं है, तो मायामय भी नहीं है, इसलिए इस मायामय जगत्‌में अच्छा बुरा कुछ नहीं है।

इस प्रकार इस जगत्‌को मायामय जानकर जो विवेकी पुरुष इसको सत्य नहीं मानते, वे न तो किसीकी स्तुति करते हैं और न किसीकी निन्दा करते हैं; किन्तु नित्य निरन्तर अपने स्वरूप ब्रह्मका ही अनुसन्धान करते हैं। तू भी ब्रह्मवेत्ताओंका अनुकरण कर, न किसीमें गुण देख और न किसीमें दोष देख, किन्तु समदर्शी होकर सूर्यके समान समभावमें स्थित होकर सर्वदा सर्वत्र विचर। यदि यह बात तेरी समझमें नहीं आती, तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे, अनुमान प्रमाणसे, शास्त्र प्रमाणसे और अपने अनुभवसे इस जगत्‌को, आदि अन्तवाला होनेसे, मिथ्या समझकर निसङ्ग होकर विचर। देख, जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, वह मिथ्या ही है, जैसे घट, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे घट अवयववाला होनेसे नाशवान् है, वैसे ही पृथिवी आदि समस्त भूत अवयववाले होनेसे नाशवान् हैं और नाशवान् होनेसे मिथ्या हैं, यह अनुमान प्रमाण है। शब्द प्रमाण इस प्रकार है— 'यहां नाना यानी अनेक कुछ नहीं है', 'इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ'

इत्यादि श्रुतियोंमें आकाश आदिका जन्म सुनाई देता है, जो उत्पन्न होता है, वह नाशवान् होता है और जो नाशवान् है, वह मिथ्या है, इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणसे संसारका मिथ्यात्व सिद्ध है। अपने अनुभवसे भी यह सब संसार दृश्य होनेसे मिथ्या है, जो दृश्य होता है, वह स्वप्नके समान मिथ्या ही होता है। इस प्रकार हजारों प्रमाणोंसे जगत्को मिथ्या जान कर, असङ्ग होकर सूर्य और चन्द्रके समान रागद्वेषरहित होकर विचर। यहां अच्छा बुरा कुछ नहीं है।

मन—अजी! आपकी बात मैं समझ गया, संसार मिथ्या है, परन्तु मैं आपसे यह पूछता हूँ कि यह संसार आत्माका है या देह का? आत्मा विषयी होनेसे चेतन है और देह विषय होनेसे अचेतन है। चेतन प्रकाशके समान है, अचेतन अंधेरेके समान है, जैसे प्रकाश और अन्धकार एक जगह नहीं रह सकते, वैसे ही चेतन और अचेतन एक जगह नहीं रह सकते। एकत्र न रहनेसे उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता। तब यह संसार किसका है, आत्माका है या देहका? दीखता तो है ही।

भाई! यह संसार तुझे ही भासता है, क्योंकि जैसा तू कहता है, ऐसा तुझे ज्ञान नहीं है। तेरे कहनेसे ही सिद्ध होता है कि तू आत्माको नहीं जानता। यदि तुझे आत्मा और अनात्माका विवेक होता, तो तुझे अपनेमें संसार नहीं भासता। तुझे संसार भासता है, इसलिए तुझे आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान नहीं है। भाई! जबतक तुझे अपनेमें संसार दिखाई दे, तबतक नित्य निरन्तर आत्मा और अनात्माका विचार किया कर। सिवा आत्मविचारके अन्य सब व्यापार त्याग दे। आत्मतत्त्व बहुत ही सूक्ष्म होनेसे दुर्विज्ञेय है। जब-तक समस्त व्यापारोंका त्याग करके तू नित्य निरन्तर आत्मानुसन्धान नहीं करेगा, तबतक तुझे अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं होगा। जबतक आत्मस्वरूपका दृढ़ ज्ञान नहीं होगा, तबतक संसारका दिखाई देना बन्द नहीं होगा। जबतक संसार दिखाई देता रहेगा, तबतक रागद्वेष निर्मूल नहीं होंगे। जबतक रागद्वेष निर्मूल न होंगे, तबतक शान्ति कोसों दूर है। इसलिए सर्वदा आत्मानुसंधान किया कर, अन्य समस्त व्यापारोंको छोड़ दे। यहां अच्छा बुरा कुछ नहीं है।

भाई मन! जबतक तू देह, इन्द्रिय और प्राणको अपना स्वरूप मानेगा

और जबतक तू अपने आत्माको नहीं जानेगा, तब तक असत्—मिथ्या—संसार भी सुख-दुःख, जन्म-मरण रूप फल देता रहेगा। कभी भी संसारसे तेरी मुक्ति न होगी, इसमें संशय नहीं है। जैसे जबतक मनुष्य जागता नहीं है, तबतक स्वप्नका अनर्थ नहीं जाता, बना ही रहता है, वैसे ही जबतक तू अपने स्वरूपको नहीं जानेगा, यानी अपनी आत्माको नहीं जानेगा, तबतक तू जन्ममरणरूप संसारसे नहीं छूटेगा, बराबर जन्म-मरणके चक्रमें फंसा रहेगा। इसलिए देहादिमें आसक्त न होकर स्वस्वरूपका अनुसंधान किया कर। संसारके किसी पदार्थका ध्यान मत कर। तूने बार बार विषयोंका ध्यान कर यह संसार खड़ा कर लिया है। यदि तू विषयोंका ध्यान न करे, तो तीन कालमें भी कहीं, कभी भी संसार नहीं है। किसी विद्वान्ने सच कहा है कि विषयोंका ध्यान करना ही संसाररूप बंधन है और विषयोंका ध्यान न करना ही कैवल्य स्वराज्य है।

देख, तू ने सुना ही है कि 'तूष्णीमवस्था परमोपशान्तिः' यानी चुपचाप बैठनेमें परम शान्ति है। तब तू चुपचाप क्यों नहीं बैठता? चुप हो जा, कोई क्रिया मत कर, संकल्प-विकल्प करना छोड़ दे, तेरा चलना ही तेरी मृत्यु है, यदि तू न चले, तो तू अमृत ब्रह्म ही है। देह, इन्द्रिय, प्राण आदिकी क्रिया रोककर एक बार अपने स्वरूपका अद्भुत स्वाद चख ले, फिर तेरे लिए संसारके सब पदार्थ फीके पड़ जायँगे, किसीमें स्वाद नहीं आवेगा, क्योंकि किसीमें कुछ स्वाद है ही नहीं। तेरे आनन्दसे ही समस्त संसार आनन्दित हो रहा है। एक बार स्थिर होकर स्वस्वरूपको जान ले, फिर तुझे चलना अच्छा नहीं लगेगा। स्वस्वरूपको जाननेके अनन्तर यदि तू चलेगा भी, तो तू अपने स्वरूपको न भूलेगा। अपनेको और अपने रचे हुए संसारको तू सच्चा नहीं मानेगा किन्तु एक खिलौना समझेगा। खिलौना समझनेसे संसार तेरे दुःखका हेतु नहीं होगा, किन्तु विनोदका हेतु हो जायगा। इसलिए एक बार स्थिर होकर अपनेको पहिचान ले और फिर जगत् रूप खिलौनेके साथ खेल। यहां अच्छा बुरा कुछ नहीं है।

संसार खिलौना है, जो इस खिलौनेको खिलौना समझते हैं, उनका जीवन सुखमय हो जाता है, उनको कहीं दुःख दिखाई नहीं देता और जो इसको खिलौना नहीं समझते, किन्तु सच्चा समझते हैं, वे यहां सुखी नहीं रहते किन्तु

सर्वदा चिन्तातुर और दुःखी ही रहते हैं। बच्चे खेलते समय अनेक प्रकारके खिलौने यानी घर आदि मिट्टीके बनाते हैं, जबतक चाहते हैं, खेलते हुए विनोद करते हैं और अन्तमें फिर उन घर आदिको धूलमें मिला देते हैं। धूलमें मिलाते समय भी उनको दुःख नहीं होता, प्रत्युत विनोद ही होता है। तू भी बालक है, तूने अपने खेलने और विनोद करनेके लिये यह जगत् रूप खिलौना बनाया है, इस खिलौनेके साथ जबतक तेरी इच्छा हो, खेल और विनोद कर। इस खिलौनेको सच्चा क्यों मानता है? सच्चा मत मान, खिलौना मान, सुखसे इसके साथ खेल। जबतक खेलनेकी इच्छा हो तब तक आनन्दसे खेल, जब खेल पूरा हो जाय, तब शान्त होकर बैठ जा। फिर खेलनेकी वासना मत कर, क्योंकि यदि खेलनेकी वासना रही, तो फिर शरीर धारण करना पड़ेगा और यह शरीर मोहित करनेवाला है। यदि तू मोहित हो गया है फिर जन्मेगा और मरेगा, इसलिए स्वरूपका अनुसंधान करता हुआ वासनारहित होकर खेल। यहां अच्छा बुरा कुछ नहीं है।

हे मन! गुणोंका संग करनेसे तू गुणमय हो गया है। यदि तू गुणोंका संग करना छोड़ दे, तो तू निर्गुण ही है। यह पिण्ड और ब्रह्माण्ड सब गुणोंका रचा हुआ है, गुणोंका संग करनेसे यह ब्रह्माण्ड तुझमें भासता है, ये गुण मायामय हैं, मायामय होनेसे मिथ्या हैं। इसीलिए गुणोंसे रचे हुए पिण्ड और ब्रह्माण्ड भी मिथ्या हैं। इन सबका अपवाद करके अन्तमें जो अवशिष्ट रहता है उसको तू अपना आत्मा जान कर सुखी हो जा। जो कोई भाग्यवान् सब प्रपञ्चका अपवाद यानी बाध करके स्वस्वरूप ब्रह्ममें स्थित होता है, उसको मायाके गुण स्पर्श नहीं करते। जैसे आकाश वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका स्पर्श नहीं करता, इसी प्रकार शोक, मोह, हर्ष, भय, क्रोध, स्पृहा, जन्म, मरण आदि देहके धर्म आत्माका स्पर्श नहीं करते। परन्तु तुझे आत्माका ज्ञान नहीं है, इसलिए तू इन धर्मोंको अपनेमें मानता है, इसलिए जबतक तू पूर्ण शुद्ध नहीं हो जाता, तबतक इन गुणोंका संग मत कर यानी देह, इन्द्रिय, प्राण आदिको अपना आत्मा मत मान। गुणोंमें राग करना ही तेरी अशुद्धि है, इसलिए गुणोंमें यानी गुणोंके कार्य विषयोंमें राग मत कर, यही कल्याणका मार्ग है, अन्य नहीं है।

जब-जब विषयोंमें राग हो, तब-तब सुखस्वरूप अपनी आत्माका ही अनुसंधान किया कर। आत्मानुसंधानके सिवा संसारसे तरनेका अन्य उपाय

नहीं है। इस आत्माको नहीं जाननेसे ही यह संसार भासता है इसके अज्ञानसे ही अनेक मतमतान्तर हो गये हैं और इसके अज्ञानसे ही परस्पर मनुष्य राग-द्वेष करते हैं, एक दूसरेके शत्रु हो जाते हैं। यह देशी है, यह विदेशी है, इस भेदका कारण भी इस आत्माका अज्ञान ही है। आत्माका यदि ज्ञान हो जाय, तो न कोई अपना है और न कोई पराया, सब अपने ही हैं। जब सब अपने ही हैं, तो राग कैसा और द्वेष कैसा! इस आत्माका विज्ञान न होनेसे ही असत्य संसार सत्य-सा प्रतीत होता है, इसीसे मिथ्या जगत्को सच्चा जानकर एक दूसरेसे लड़ते हैं, झगड़ते हैं, विना सूत और पूनींके ही लट्ठम लट्ठा करते हैं, यानी है कुछ नहीं और परस्पर झगड़ा करके दुःखी तो सब हो ही रहे हैं। यह महान् आश्चर्य है।

आश्चर्य भी कुछ नहीं है, ईश्वरकी माया प्रबल है, बड़े बड़ोंको मोहित कर देती है! सुवर्णका हिरन न तो कभी हुआ और न कभी होगा, फिर भी सीता-हरण और रावणका मरण तो हो ही गया। हे मन! विचार कर, वारम्बार विचार कर, भली भाँति विचार कर, जैसे कदलीके वृक्षमें सार नहीं है, वैसे ही ज्यों ज्यों विचार किया जाता है, इस थोथे प्रपंचमें सार कुछ नहीं निकलता, फिर भी इस निस्सारको मूढ़ पुरुष संसार यानी सम्यक् सार कहते हैं, यही आश्चर्य है! सच कहा है—

लट्ठम लट्ठा देखकर, भोला किया विचार।
कारण पाया रारका, एकमात्र अविचार॥
एकमात्र अविचार, दुःखका कारण पाया।
कीन्हा तत्त्वविचार, भेदभ्रम दूर पलाया॥
भोला! नाहीं सूत, नहीं मलमल ना लट्ठा।
तो भी दिन अरु रात, होत है लट्ठम लट्ठा॥



जीवतत्त्व

(ले० स्वामी श्रीविज्ञानहंसजी, काशी)

भगवती श्रुतिने जीवतत्त्व समझनेके लिए अनेक सुन्दर मन्त्र कहे हैं—

'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' ॥ (का० ३।१)

इस शरीरमें दो चेतनसत्ताएँ हैं, उनमें से एक अपने किये हुए कर्मोंके फलका भोग करती है और दूसरी कर्म्मफलोंका भोग कराती है। दोनों ही हृदयाकाशमें—बुद्धिगुहामें—प्रविष्ट हैं। उनमें से एक संसारी और दूसरी असंसारी है। ब्रह्मवेत्तागण और गृहस्थगण उन दोनोंको छाया और आतपकी तरह परस्पर विभिन्न कहते हैं। जीवात्माके साथ ब्रह्मका अविद्याग्रस्तदशामें जो पार्थक्य रहता है, वह इस मन्त्र द्वारा बतलाया गया है।

इसी तरह मुण्डकोपनिषद्में भी कहा है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥' (३।१।१)
'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः अनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥' (३।१।२)

अर्थात् सुन्दर दो पक्षी एक ही वृक्षमें अधिष्ठित हैं; वे दोनों परस्पर सखा हैं, उनमें से एक स्वादु फल खाता है और दूसरा न खाता हुआ केवल बैठे-बैठे देखता है। एक ही वृक्षमें पुरुष अर्थात् जीव निमग्न होकर, ब्रह्मभावके अभावसे मोहाच्छन्न होकर शोक करता है, परन्तु जिस समय दूसरे अर्थात् ब्रह्मभावको देखता है, उस समय उसकी महिमा जानकर शोकातीत पदको प्राप्त हो जाता है।

इस श्रुतिमें जीव और ब्रह्मको परस्पर सखा कह कर दोनोंकी एकजातीयताका प्रतिपादन किया गया है। परन्तु जबतक अविद्यान्धकार द्वारा जीवका ब्रह्मत्व प्रच्छन्न रहता है, तबतक उसे बन्धन प्राप्त रहता है और वह अपनेको ब्रह्मसे भिन्न समझता हुआ शोकार्त रहता है, यह भी कहा गया है और जीवका शोकनाश अर्थात् त्रिविध दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति अपने सखा ब्रह्मसे अपनी अभिन्नताको जानकर ही होती है, ऐसा भी इस श्रुतिमें कहा गया है। इसी तरह श्वेताश्वतरमें भी कहा है—

'अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' ॥१।८॥
'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' ॥१।९॥

जीव और ब्रह्ममें से एक अज्ञ है, दूसरा प्राज्ञ है। एक अनीश है और दूसरा ईश अनीश आत्मा जीव प्रकृतिके साथ भोक्तृभावके द्वारा बद्ध होता है, परन्तु ब्रह्मको जानकर समस्त मायिक बन्धनसे मुक्त हो जाता है। इस तरहसे ब्रह्मसत्ताके साथ जीवसत्ताका सत्तारूपसे कुछ भी भेद न रहनेपर भी अविद्याविमोहित अवस्थामें जीव और ब्रह्मकी पृथकता बतलाई गई है।

यह पृथकता जीव जितना ही विद्याकी उन्नतिके साथ-साथ अविद्यानिर्मुक्त होकर अपने स्वरूपको प्रकट करता जाता है, उतनी ही घटती जाती है और अन्तमें जब अविद्या और विद्या दोनोंसे ही जीव पृथक् होकर अपने पूर्ण स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, तब वह ब्रह्मके साथ अपनी एकताको जानकर सच्चिदानन्दमय पूर्ण-भावमें अवस्थान कर लेता है।

अतः व्यावहारिक दशामें ब्रह्मके साथ जीवका उपाधिभेदजनित पार्थक्य सिद्ध है और इसी जीवदशागत पार्थक्यको समझानेके लिए वेदान्तदर्शनमें कई-एक सूत्र भी दिये गये हैं। यथा—

इतरव्यपदेशात् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः (ब्र० सू० २।१।२१)
अधिकन्तु भेदनिर्देशात् (ब्र० सू० २।१।२२)
अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् (ब्र० सू० ३।४।८)

इनमें से प्रथम सूत्र पूर्वपक्षका और अन्य दो सूत्र उत्तरपक्षके हैं। प्रथम सूत्रमें यह सन्देह किया गया है कि यदि जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, तो जीव ही सृष्टिका कर्ता हुआ। सृष्टिकर्ताने स्वयं ही बन्धनागार देहकी सृष्टि क्यों की? निर्मल सृष्टिकर्ताने मलयुक्त देहमें प्रवेश क्यों किया? यदि प्रवेश ही किया तो दुःखकर वस्तुके बदले सुखकर वस्तुकी सृष्टि क्यों न की? अतः जीवको ब्रह्म कह देनेसे उसमें हितका अकरण और अहितका करण नामके दो दोष लगते हैं। इस तरह पूर्वपक्ष कर उत्तरपक्षके सूत्रोंमें कहा गया है कि ऐसा नहीं है, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्म जो जीवसे अधिक (भिन्न) है, उसने ही जगत्की सृष्टि की है, जीव जगत्का स्रष्टा नहीं है, क्योंकि जीव उससे भिन्न है, अतः ब्रह्ममें हिताकरणादि दोष नहीं लग सकते हैं।

जीवसे ईश्वर अधिक है, क्योंकि वेदान्तवाक्यके अनुसार वे असंसारी कर्तृत्वादि संसारधर्म्मोंसे रहित अपहतपाप्मा आदि विशेषणसे विशेषित है। श्रुतिने-भी ब्रह्मको जीवसे अधिक कहा है, इस तरह जीवकी बन्धनदशाकी ओर लक्ष्य करके वेदान्तदर्शनने ब्रह्मसे जीवको पृथक् कहा है।

ब्रह्म और जीवका यह भेद स्वरूपगत नहीं है, किन्तु उपाधिगत है, क्योंकि अंशी और अंश, विम्ब और प्रतिविम्ब, छाया और कायाके बीचमें स्वरूपगत भेद नहीं हो सकता है, केवल उपाधिजनित भेद है, इसलिए इन सूत्रोंके भाष्यमें श्रीभगवान् शङ्कराचार्यने कहा है—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृ० २।४।५),
'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः (छा० ८।७।१),
'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१),
'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः' (बृ० ४।३।३५)

इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति । ननु अभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः 'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः । कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ सम्भवेताम् ? नैप दोपः, आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसम्भवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात् । अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवंजातीयकेन अभेदनिर्देशेनाऽभेदः प्रतिबोधितो भवति, अपगतं भवति तदा जीवस्य सांसारिकत्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वम् ।'

आत्माका ही दर्शन, श्रवण और मनन करना चाहिए, आत्माका अन्वेपण करना चाहिए एवं उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए । हे सोम्य ! उस समय जीव ब्रह्मके साथ संयुक्त होता है । देही—आत्मा अर्थात् जीव, प्राज्ञ आत्मा अर्थात् ब्रह्मके द्वारा संवेष्टित है, इत्यादि वचनों द्वारा श्रुतिने कर्ता और कर्मका भेदनिर्देश करके कहीं-कहीं ब्रह्मको जीवसे अधिक बतलाया है और 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंके द्वारा भी कहीं-कहीं अभेद निर्देश किया है । अतः जीव और ब्रह्म में भिन्नत्व और अभिन्नत्व दो विरुद्ध भाव कैसे हो सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि इस प्रकारके विरुद्ध भावका समन्वय होना असम्भव नहीं है, क्योंकि जैसे महाकाश और घटाकाश परस्पर भिन्न भी हैं और अभिन्न हैं, वैसे ही जीव और ब्रह्म भी परस्पर भिन्न और अभिन्न हैं । जिस समय 'तत्त्वमसि' आदि अभेदप्रतिपादक उपदेशों द्वारा जीव और ब्रह्मकी अभिन्नताकी उपलब्धि हो जाती है उस समय जीवका संसारित्व और ब्रह्मका स्रष्टृत्वभाव नष्ट हो जाता है, अतः सिद्ध हुआ कि जीव और ब्रह्म स्वरूपतः अभिन्न हैं । उनमें भेद केवल अविद्योपाधिके कारण ही है, वास्तविक दोनोंमें कोई भेद नहीं है । ब्रह्ममें सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभाव सुव्यक्त हैं । जीवमें ये तीनों भाव मायाके द्वारा आच्छन्न हैं, अतः वे जीवमें अव्यक्त या ईपद्व्यक्त हैं ।

जीवके ऊपरसे मायाका आवरण ज्ञान द्वारा जितना तिरोहित होता जाता है, उतना ही सत्, चित् और आनन्द भाव उसमें व्यक्त होते जाते हैं और जिस समय मायाका आवरण एका-एक जीव परसे तिरोहित हो जाता है, उस समय उसके सत्, चित् और आनन्द भाव पूर्णरूपसे व्यक्तताको प्राप्त हो जाते हैं । उसी समय

जीव कह सकता है कि 'सोऽहम्' 'अहं ब्रह्मास्मि' (वह मैं हूँ), (मैं ब्रह्म हूँ)। इसलिए श्रुतिने कहा है—

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।' (मुण्ड० ३।२।९) 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'।

(जीव ब्रह्मको जानकर ब्रह्म ही हो जाता है, ब्रह्म होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।)

वेदान्तशास्त्रसे आत्माकी जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार दशाओं-का वर्णन है, उनमें से जाग्रत्-दशामें स्थूल प्रकृतिके साथ और स्वप्न-दशामें सूक्ष्म प्रकृतिके साथ आत्माका आभिमानिक सम्बन्ध रहता है जिससे प्रथम अवस्थामें स्थूल संसारके और द्वितीय अवस्थामें सूक्ष्म संसारके भोक्तारूपसे आत्मा अविद्योपाधि द्वारा ग्रस्त रहता है।

तुरीय अवस्थामें प्रकृतिसम्पर्कका परिहार करके ब्रह्मके साथ मिलकर ब्रह्म-भावमें आत्माका अवस्थान होता है। इस प्रकार स्वरूपमें अवस्थितिके बाद आत्माकी प्रकृतिकी ओर पुनरावृत्ति नहीं होती है, परन्तु सुषुप्ति अवस्थामें स्थूल एवं सूक्ष्म प्रकृतिको छोड़कर प्रतिबिम्बभूत जीवका बिम्बभूत ब्रह्मके साथ जो एकभावमें अवस्थान होता है, वह नित्य नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिके अनन्तर जाग्रद् दशाके उदय होते ही जीव पुनः संसारकी ओर प्रत्यावर्तन करता है, इसलिए वेदान्तदर्शनमें सूत्र है—

'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च' (।३।२।७),

'अतः प्रबोधोऽस्मात्' (३।२।८),

महर्षि वेदव्यासके ये दो सूत्र श्रुतिसम्मत हैं।

'य एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिन् शेते' (बृ० २।१।१७),

'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१),

'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' (छा० ६।१०।२),

'सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं

न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छा० ८।३।२),

अर्थात् हृदयके अन्दर जो आकाश अर्थात् ब्रह्म है उसमें जीव सोया रहता है। उस समय जीव सत् अर्थात् ब्रह्मके साथ मिलित होता है। सकल जीव इस प्रकारसे प्रतिरात्रि सुषुप्तिमें ब्रह्मलोकको प्राप्तकर प्रातःकाल वहांसे लौट आते हैं। अविद्यारूप उपाधिके कारण जीवको इस प्रकार ब्रह्मलोक गमनकी बातका स्मरण नहीं रहता है। जीवके इस मिलनके साथ विच्छेद लगा हुआ है, इसलिए यह मिलन आत्यन्तिक सुखप्रद नहीं है। इसी कारण प्राणसखा निखिलानन्दनिकेतन ब्रह्मके साथ फिर सम्मिलनके लिए जीव सदा ही लालायित रहता है।

जब जीवकी यह हार्दिकी इच्छा परिपूर्ण होती है, तभी वह ब्रह्मसे मिलकर उसके साथ अपने एकत्वकी साक्षात् लब्धि करता है।

'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' (ब्र० सू० ४।१।३),

'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिमहावाक्यैस्तत्त्वविद् आत्मत्वेनैव ब्रह्म उपगच्छन्ति तथा 'तत्त्वमसि' इत्यादिमहावाक्यैस्स्वशिष्यान् ग्राहयन्त्यपि'

अर्थात् तत्त्वज्ञानी मैं ब्रह्म हूँ, इत्यादि महावाक्यों द्वारा जीव और ब्रह्मकी एकताका अनुभव करते हैं और 'तू ही ब्रह्म है' इत्यादि महावाक्य द्वारा शिष्यको जीव और ब्रह्मकी एकताका अनुभव कराते हैं। इस तरह अवस्थाकी प्राप्ति जीवको कैसे होती है, इस पक्षके उत्तरमें श्रीभगवान् वेदव्यासजीने वेदान्तसूत्रमें लिखा है—

'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' (३।२।५)

'देहयोगाद् वा सोऽपि' (३।२।६)

इनके भाष्यमें श्रीभगवान् शङ्कराचार्यजीने लिखा है—

'कस्मात् पुनर्जीवः परमात्मांश एव सन् तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यो भवति। सोऽपि तु ज्ञानेश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद् देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद् भवति। अस्ति चात्र चोपमा—यथा चाग्नेर्दहनप्रकाशनसम्पन्नस्यापि अरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतो यथा वा भस्माच्छन्नस्य। अतोऽनन्य एवेश्वराज्जीवः देहयोगात्तिरोहितज्ञानैश्वर्यो भवति। तत्पुनस्तिरोहितं सत् परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृततेव दृक्शक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात् संसिद्धस्य कस्यचिदाविर्भवति न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम्। कुतः? ततो हि ईश्वराद्धेतोरस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः। ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद् बन्धस्ततः स्वरूपपरिज्ञानात्तु मोक्षः।'

यदि जीव ब्रह्मका अंश है तो उसमें ज्ञानैश्वर्यका अभाव क्यों देखनेमें आता है? देहके सम्बन्धसे। देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिके साथ संयुक्त होनेसे जीवका ईश्वरभाव तिरोहित हो जाता है। जिस तरह काष्ठगत अथवा भस्माच्छादित अग्निकी दहन और प्रकाशन शक्ति तिरोहित हो जाती है, उसी तरह जीव ईश्वरसे पृथक् न होनेपर भी देहके योगसे अनीश्वरभावको प्राप्त हो जाता है। जिस तरह तिमिररोगसे ग्रस्त नष्टदृष्टि मनुष्यकी दृष्टिशक्ति औषधिके गुणसे पुनः उसे प्राप्त हो जाती है, अनायास प्राप्त नहीं होती है, ठीक उसी तरह तिरोहितशक्ति जीव ब्रह्मके अभिध्यानमें यत्नशील होकर उसके प्रसादसे सिद्धि लाभ करनेपर अपने तिरोहित ऐश्वर्यको पुनः प्राप्त करता है, क्योंकि ईश्वरसे ही जीवका बन्ध और मोक्ष होता है अर्थात् ईश्वरस्वरूपके अज्ञानसे बन्ध और ज्ञानसे मोक्ष होता है। यही जीव और ब्रह्मका औपाधिक भेद और स्वरूपतः एकताका ज्ञान ब्रह्मस्वरूपप्राप्तिका उपाय है। जिसके ब्रह्मवेत्ता श्रीगुरुदेवसे प्राप्त होनेपर साधक सर्वथा परिच्छिन्न साम्प्रदायिक भावोंसे मुक्त होकर आत्मसाक्षात्कारका लाभ करते हैं और जिसके प्राप्त होनेपर उन साधकोंकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है, संशयजाल छिन्न हो जाता है और अनादि संसारचक्र निरस्त हो जाता है एवं उन्हें पर धाम प्राप्त हो जाता है।

(अपूर्ण)

—:o:—

ब्रह्मजिज्ञासाका स्वरूप

(ले० पण्डितप्रवर श्रीचण्डीप्रसादजी शुक्ल)

विवेक, वैराग्य, शम-दम आदि साधनसम्पत्ति और मुमुक्षा इन चार साधनोंसे सम्पन्न पुरुषपुङ्गव ही ब्रह्मजिज्ञासाके अधिकारी हैं, सब मनुष्य नहीं, यह पूर्व लेखमें दर्शाया जा चुका है। अब इस लेखमें संक्षेपसे यह दिखलाया जायगा कि ब्रह्मजिज्ञासाका स्वरूप क्या है ? यद्यपि 'ब्रह्मोऽज्झम्' 'ब्रह्महत्या' इत्यादि स्थलोंमें ब्रह्मशब्द वेद और ब्राह्मणत्व जातिका भी वाचक है, तथापि यहाँपर ब्रह्मशब्द मायाशबल चैतन्यका (ईश्वरका) ही वाचक है, क्योंकि 'जन्माद्यस्य यतः' (इस जगत्का जिससे जन्म, स्थिति और लय होता है, वह ब्रह्म है) इस सूत्रमें ईश्वरका ही लक्षण किया गया है। 'ब्रह्मणः ज्ञातुमिच्छा' (ब्रह्मको जाननेकी इच्छा) ब्रह्मजिज्ञासा है। यह ब्रह्मजिज्ञासाका स्वरूप सिद्ध हुआ।

शङ्का—प्रत्येक प्राणी सुखकी प्राप्ति तथा दुःखकी निवृत्ति ही चाहता है। सबकी यही इच्छा रहती है कि हमें सुख हो और दुःख न हो, मगर ब्रह्मज्ञान न सुख-रूप है और दुःखनिवृत्तिरूप है, अतः उसकी इच्छा कैसे होगी ?

समाधान—यहाँपर ब्रह्माकार अपरोक्षवृत्तिरूप ज्ञान अथवा अपरोक्षवृत्तिसे अभिव्यक्त ब्रह्मस्वरूप चैतन्य ही ब्रह्मज्ञानशब्दका अर्थ विवक्षित है। प्रथम पक्षमें अपरोक्षवृत्तिके सुखरूप ब्रह्मचैतन्यके व्यञ्जक होनेसे वह सुखसाधन है, इससे उसकी इच्छा हो सकती है और द्वितीय पक्षमें ब्रह्मचैतन्यके सुखरूप होनेसे उसकी इच्छा हो सकती है। यहाँपर निष्कर्ष यह है कि साधनचतुष्टयसे सम्पन्न पुरुषको, ब्रह्मके नित्यसुखरूप होनेसे, उसकी प्राप्तिकी इच्छा होती है। उसके बाद उसके साधन होनेसे अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्तिज्ञानकी इच्छा होती है और उसकी प्राप्तिके लिए पुरुष अद्वितीय ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंका तात्पर्यनिर्णयरूप श्रवण करता है, यही 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्र० सू० १।१।१।) (साधन चतुष्टय सम्पत्तिके अनन्तर अद्वय ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञानके लिए वेदान्तवाक्योंके तात्पर्यका निर्णय करना चाहिए) इस वेदान्तसूत्रका तात्पर्य है, क्योंकि सूत्रमें जिज्ञासा—ज्ञातुमिच्छा—है। यहाँपर ज्ञाधातुकी फलरूप अभिव्यक्त चैतन्यमें अथवा अपरोक्ष ब्रह्माकार वृत्तिमें लक्षणा है तथा 'सन्' प्रत्ययकी इच्छाजन्य विचारमें लक्षणा है।

शङ्का—बृहत्—महत्—होनेसे तथा शरीर, इन्द्रिय आदिकी वृद्धिका हेतु होनेसे यह प्रत्यगात्मा—जीव ही—ब्रह्म है, क्योंकि 'विभवनात् महान् आकाशस्तथा चात्मा' (विभवन—व्यापकत्व—होनेसे आकाश महान् है, वैसे ही आत्मा भी महान् है) इस सूत्रके अनुसार तथा 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' इस गीताके अनुसार वह व्यापक है, अतः ब्रह्म है। 'अयमात्मा ब्रह्म' यह श्रुति भी जीवको ही ब्रह्म कहती है। वह जीव कीटसे लेकर चतुर्मुख ब्रह्मा तक प्राणीमात्रके प्रत्यक्ष (अपरोक्ष अनुभवका विषय) है। प्रत्यक्ष वस्तुमें सन्देह नहीं होता। कोई भी मनुष्य मध्याह्नके सूर्यके प्रकाशमें स्थित चक्षुःसन्निकृष्ट घट, पट आदिमें सन्देह नहीं करता है, फिर प्रत्यक्ष तथा असन्दिग्ध ब्रह्ममें जिज्ञासा कैसे होगी? यदि कहें कि 'अहं कृशः' 'अहं काणः, बधिरः' इन प्रतीतियोंके अनुसार शरीर, इन्द्रियादि ही अहंप्रतीतिके विषय हैं, आत्मा अहंप्रतीतिका विषय नहीं है, अतः आत्माके सन्दिग्ध होनेसे उसकी जिज्ञासा हो सकती है? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'अहम्' इत्याकारक प्रतीतिके विषय शरीर, इन्द्रिय आदि नहीं हैं, किन्तु स्थिर आत्मा है। यदि अहंप्रतीति शरीरको विषय करती, तो 'योऽहंप्रपितामहौ अन्वभूवं सोऽहं स्थाविरे प्रणप्तॄन् अनुभवामि' (जिस मैंने बचपनमें प्रपितामहको देखा था वही मैं बुढ़ापेमें नातियोंको देखता हूँ) यह प्रतीति नहीं होती, क्योंकि बचपनके शरीरका गन्ध भी वृद्धावस्थाके शरीरमें नहीं है। शरीर तीन वर्षके बाद एकदम बदल जाता है। फिर अन्यकी अन्यमें 'योऽहं सोऽहम्' इस प्रकार ऐक्यकी प्रत्यभिज्ञा—ज्ञान—कैसे होगा? क्योंकि बचपनके शरीरसे वृद्धावस्थाका शरीर अन्य है, दोनों शरीर एक नहीं हैं। जो जिससे व्यावृत्त हो, वह उससे भिन्न है, जैसे स्रक्‌में व्यावृत्त फूलोंसे अनुवृत्त सूत्र भिन्न है, इस नियमके अनुसार बाल्य और वार्धक्य अवस्थाओंसे व्यावर्तमान शरीरोंमें अनुवर्तमान आत्मा भिन्न है, यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। और स्वप्नावस्थामें देवशरीरको ग्रहण कर दिव्य भोग भोगता हुआ पुरुष जागनेपर 'मैं देव नहीं हूँ, मनुष्य हूँ' इस प्रकार देवशरीरके बाधित होनेपर भी अपना अबाधितरूपसे अनुभव करता है, इससे भी ज्ञात होता है कि आत्मा शरीरसे भिन्न है।

किञ्च, योगी योगबलसे अपने शरीरका त्यागकर व्याघ्रशरीरके धारण करनेपर भी अपनेको 'स एवाहम्' (वही मनुष्यशरीरवाला मैं इस समय व्याघ्रशरीरवाला हो गया हूँ) इस प्रकार अपना अभिन्नरूपसे अनुभव करता है। इससे

अहमाकार वृत्तिका विषय शरीर नहीं है और चक्षुरादि इन्द्रियां भी अहंप्रतीतिकी आलम्बन नहीं हैं, क्योंकि यदि इन्द्रिय अहमाकार प्रतीतिकी विषय हो, तो अन्ध पुरुषकी 'योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहं तं स्पृशामि' यह ऐक्य प्रत्यभिज्ञा विरुद्ध हो जायगी, क्योंकि द्रष्टा चक्षु इदानीं नहीं है। अनुभविता ही स्मरणकर्ता होता है। अन्यसे दृष्टका अन्य स्मरण नहीं करता। मन और बुद्धि करण हैं, वे अहं (कर्तृ) बुद्धिके विषय नहीं हो सकते, क्योंकि करण और कर्ता एक नहीं हो सकते। इससे अहमाकार प्रतीतिका विषय शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे भिन्न आत्मा ही है और वह प्रत्यक्ष है, सन्दिग्ध नहीं है, अतः उसकी जिज्ञासा नहीं हो सकती है, तथा आत्मज्ञानका कुछ प्रयोजन भी नहीं है, क्योंकि आपके मतसे संसारकी निवृत्ति (अपवर्ग) ही प्रयोजन है, और उसका कारण आत्मयाथात्म्यका अज्ञान है तथा उसका निवर्तक आत्मयाथात्म्यका अपरोक्ष अनुभव है। यदि यह संसार अनादिकालसे आत्मयाथात्म्यज्ञानके साथ अनुवर्तमान है, तो आत्मयाथात्म्यज्ञानसे उसकी निवृत्ति कैसे होगी? अहमाकार अनुभव ही आत्मयाथात्म्यानुभव है, उससे अन्य नहीं है। इस प्रकार प्रयोजन भी नहीं है, अतः सन्देह और प्रयोजनके न होनेसे आत्मज्ञानकी इच्छा नहीं हो सकती है। इससे ब्रह्मजिज्ञासाशास्त्रका आरम्भ करना व्यर्थ है?

समाधान—यह आपकी शङ्का तब होती, जब अहमाकार अनुभवका विषय आत्मतत्त्व होता, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मतत्त्व 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृह० ३।७।७) (वह आत्मतत्त्व मोटा, पतला, छोटा और बड़ा नहीं है) इस वचनसे तथा 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ० ३।१५) (आत्मा शब्द, स्पर्श और रूपसे रहित है तथा विकारसे रहित है) इस वचनसे सब धर्मोंसे रहित तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुतिके अनुसार नित्य ज्ञानस्वरूप व्यापक तथा 'एकमेवाद्वितीयम्' से एक द्वितीयरहित ज्ञात होता है, और 'अहं मनुष्यः सुखी' यह अनुभव शरीरसे परिच्छिन्न एवं सुख-दुःखसे युक्त चेतनको विषय करता है, वह आत्मतत्त्वविषयक कैसे होगा? अतः वह आत्मतत्त्व सन्दिग्ध है और उसके साक्षात्कारका अनर्थरूप संसारकी निवृत्ति (अपवर्ग) प्रयोजन भी है—अतः उसकी जिज्ञासा हो सकती है।

यद्यपि 'द्वा सुवर्णा सयुजा सखाया' (दो ईश और जीव साथ रहनेवाले समान ख्यातिवाले मित्र इस शरीररूप वृक्षमें रहते हैं) इस श्रुतिके और

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस गीतास्मृतिके अनुसार जीव और ईशमें तथा जीवोंमें आपातसे भेद प्रतीत होता है, तथापि—

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥'

(आरम्भ और समाप्तिकी एकरूपता, वार वार कथन, अपूर्वता, फल, प्रशंसा और युक्ति ये छः वेदके तात्पर्यके निश्चयके हेतु हैं) इस अभियुक्तोंकी उक्तिके अनुरोधसे एक अद्वितीय ब्रह्ममें वेदके तात्पर्यका निश्चय हो सकता है । अभ्यास–बार-बार कथन तो पुनरुक्तिदोपसे ग्रस्त है, अतः उससे तात्पर्यनिश्चय कैसे होगा ? यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि स्थल विशेपमें—जहाँ विस्मय आदि प्रतिपादक वाक्य हो वहांपर—पुनरुक्ति गुण ही है, जैसे 'अहो दर्शनीया अहो दर्शनीया वामनमूर्तिः' इस वाक्यमें । सारांश यह है कि जहाँ अपूर्व अर्थ हो, वहांपर पुनरुक्ति गुण है, दोप नहीं है ।

शङ्का—प्रत्यक्ष सव प्रमाणोंमें ज्येष्ठ—प्रथम गणनीय—प्रमाण है और अपने प्रामाण्यमें दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा भी नहीं रखता, इससे प्रवल है, गणनामें आगम चतुर्थ—कनिष्ठ प्रमाण है तथा वह दूसरे प्रत्यक्ष प्रमाणकी अपेक्षा भी रखता है, इससे दुर्वल है, अतः अहमाकार प्रत्यक्षानुभवसे आगम वाधितार्थ होकर गौणार्थक क्यों न हो ?

समाधान—जेष्ठ होनेसे कोई प्रवल नहीं होता । यदि ज्येष्ठ होनेसे कोई प्रवल हो, तो 'इदं रजतम्' यह भ्रम ज्ञान भी ज्येष्ठ होनेसे प्रवल और 'इयं शुक्तिः' 'नेदं रजतम्' यह वाधज्ञान कनिष्ठ होनेसे दुर्वल हो जायगा और शुक्ति-ज्ञानसे रजतज्ञानका वाध नहीं होगा । इस दृष्टान्तसे ज्येष्ठत्व वाधकत्वका प्रयोजक नहीं है, प्रत्युत वाध्यत्वका प्रयोजक है, क्योंकि पूर्व—'इदं रजतम्' इस भ्रमज्ञानकी उत्पत्तिके कालमें पर—'इयं शुक्तिः' यह ज्ञान नहीं है, इससे परको वाधे विना पूर्व उत्पन्न हो जाता है और पर पूर्वका वाध किये विना उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा, इससे पर पूर्वका वाधक होता है । आगम प्रत्यक्षकी अपेक्षा करता है, क्योंकि शब्दके श्रावण प्रत्यक्षके विना शाब्दवोध नहीं होता है । इससे प्रत्यक्षके उपजीव्य होनेसे, वह प्रवल और आगम दुर्वल है, इस द्वितीय पक्षमें, यह विकल्प होता है कि आगम–वेदान्त–जन्य ज्ञान अपने प्रामाण्यके लिए प्रत्यक्षकी अपेक्षा करता है या अपनी उत्पत्तिके लिए ? प्रथम पक्षमें यह विकल्प होता है कि क्या विपर्यास

शङ्काकी निवृत्तिके लिए है अथवा संवादके—स्वप्रामाण्यके—अनुमोदनके लिए ? दोनों युक्त नहीं है, क्योंकि वेद अपौरुषेय है, अतः उसमें पुरुषमें सम्भावित भ्रम, प्रमाद, लोभ आदि दोषोंकी सम्भावना न होनेसे विपर्य्यासकी शङ्का कैसे हो सकती है और वेद बोधक होनेसे उसमें स्वतः प्रामाण्य है, अतः संवादके लिए उसे प्रत्यक्षकी अपेक्षा नहीं है। आगम—वेदान्त—जन्य ज्ञान स्वकी उत्पत्तिके लिए प्रत्यक्षकी अपेक्षा करता है, क्योंकि शब्दका श्रावण प्रत्यक्ष शब्द प्रमाका कारण है, इससे प्रत्यक्ष उसका उपजीव्य-प्रयोजक है, अतः प्रत्यक्षका आगम बाधक नहीं होगा, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आगम प्रत्यक्षगत तात्त्विक प्रामाण्यका बाध करता है, और वह उसका उपजीव्य नहीं है, क्योंकि अ, इ आदि प्रत्येक वर्ण एक, अमूर्त और व्यापक हैं, ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि धर्म उनमें नहीं है, किन्तु ध्वनिमें रहनेवाले ह्रस्वत्व, दीर्घत्वका उनमें भान होता है, अभिप्राय यह है कि यद्यपि नगः, नागः इत्याकारक श्रावण प्रत्यक्ष भ्रम है, तथापि उनसे जो तरु या हस्तिविषयक बोध होते हैं वे प्रमा ही होते हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि आगमका उपजीव्य-प्रयोजक-प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्षगत तात्त्विक प्रामाण्य नहीं है, अतः प्रत्यक्षगत तात्त्विक प्रामाण्यका आगमसे बाध होनेपर भी व्यावहारिक प्रत्यक्षका बाध न होनेसे उपजीव्यके साथ विरोध नहीं है।

शङ्का—यद्यपि उपजीव्य प्रत्यक्ष व्यवहारमें प्रमाण है, परमार्थमें प्रमाण नहीं, इस प्रकार उपजीव्य प्रत्यक्षका संकोच कर विरोधका परिहार हो सकता है, तथापि 'उपजीव्यस्योपमर्दादुपजीवकस्योपमर्दो वरम्' (उपजीव्यका—कारणका—संकोच करके विरोधका परिहार करनेकी अपेक्षा उपजीवका-कार्यका-संकोच करके ही विरोधका परिहार करना श्रेष्ठ है) इस न्यायके अनुसार उपजीवक आगमका ही गौण अर्थ मानकर विरोधका परिहार करना युक्त है, अर्थात् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे शून्य ब्रह्म है) यह श्रुति ही द्वैत प्रत्यक्षके विरोधसे गौणार्थक क्यों न मानी जाय ? अर्थात् जैसे 'एक एवाद्वितीयोऽयं राजा' यह प्रशंसापरक है, वैसे ही उक्त अद्वैतबोधक श्रुतिवाक्य भी प्रशंसापरक है। मुख्यार्थपरक नहीं है, ऐसा क्यों न माना जाय ?

समाधान—जब उपक्रम और उपसंहारके ऐक्य, अभ्यास आदि तात्पर्य-निर्णायक हेतुओंसे उक्त वाक्यका अद्वैत ब्रह्ममें ही तात्पर्य निर्णीत हो चुका है,

तब प्रत्यक्षके अनुरोधसे आगमका गौण अर्थ मानना ठीक नहीं है, क्योंकि आगमके अपौरुषेय होनेसे वह निर्दोष है और प्रत्यक्षकरणके दोषसे 'वितस्ति-परिमितश्चन्द्रः' के समान भ्रम है। मीमांसाभाष्यकारने यह कहा भी है—'न विधौ परः शब्दार्थः' (विधिवाक्यमें तथा अनधिगतार्थक होनेसे तत्सदृश वेदान्तवाक्यमें पर–लक्ष्य–शब्दार्थ नहीं होता है)।

शङ्का—विधिवाक्यमें तथा वेदान्तवाक्यमें लक्षणा नहीं होती है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'सोमेन यजेत' यहां मीमांसकोंने सोमशब्दकी सोमलताविशिष्टमें लक्षणा मानी है तथा वेदान्तियोंने भी 'तत्त्वमसि' इत्यादि-वाक्यमें भागत्यागलक्षणा मानी है।

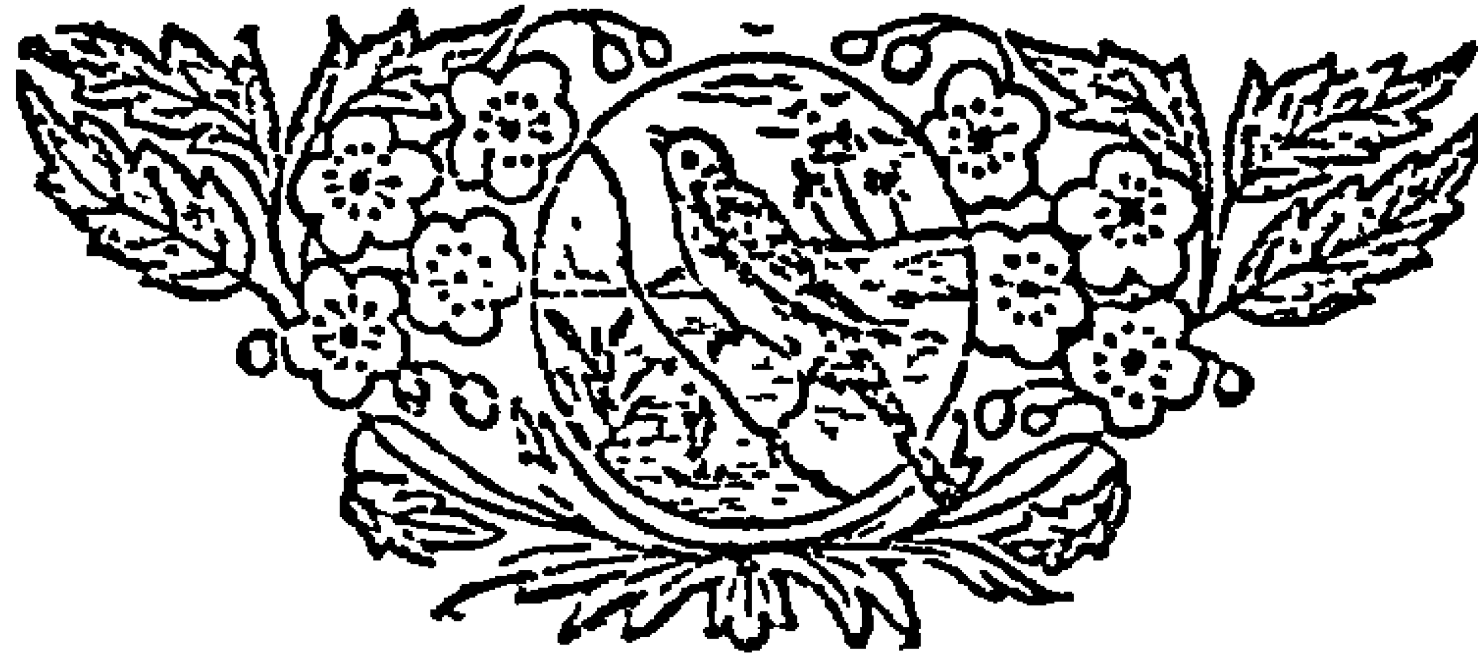
समाधान—उक्त भाष्यका अर्थ यह है कि तात्पर्यवत् विधिवाक्य तथा वेदान्तवाक्यका प्रत्यक्षके अनुरोधसे लक्षणा द्वारा तात्पर्यरहित अर्थ करना ठीक 'नहीं है। 'सोमेन यजेत' यहाँपर सोमलताविशिष्ट लक्ष्यार्थ वाक्यके तात्पर्यका विषय ही है, उक्त भाष्यवचन तात्पर्यके अविषय अर्थमें लक्षणाका निषेधक है। 'एकमेवाद्वितीयम्' इस वाक्यका उपक्रमादि लिङ्गसे अद्वैतब्रह्म ही तात्पर्यविषयक अर्थ है, इससे उक्त वचनके विरोधसे तात्पर्यके अविषय अर्थमें प्रत्यक्षके अनुरोधसे लक्षणा युक्त नहीं है।

यहाँपर निष्कर्ष यह है कि समस्त उपाधि (देश, काल और धर्म) से रहित सच्चिदानन्दघन ब्रह्माकार अन्तःकरणकी अपरोक्ष वृत्तिके लिए अथवा वृत्तिसे अभिव्यक्त नित्य सुखरूप चैतन्यकी (ब्रह्मकी) प्राप्तिके लिए जो वेदान्तवाक्योंका अद्वैत ब्रह्ममें तात्पर्यनिर्णयरूप श्रवण है, वह ब्रह्मजिज्ञासा है।

शङ्का—जिस ब्रह्मकी जिज्ञासाके स्वरूपका प्रदर्शन आप करते हैं, वह ज्ञात है? अथवा अज्ञात? यदि ज्ञात है, तो ज्ञातमें ज्ञानकी इच्छा कैसे होगी? यदि अज्ञात है, तो उसमें भी ज्ञानकी इच्छा कैसे होगी?

समाधान—जिसे व्याकरण, निघण्टु आदिके अध्ययनसे पदपदार्थके सम्बन्धका ज्ञान है, उसको ब्रह्मजिज्ञासासे पूर्व भी 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यके श्रवणसे सामान्यरूपसे ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है, उसे विशेषज्ञानके लिए इच्छा हो सकती है, क्योंकि ब्रह्मके विषयमें वादियोंके मतभेद हैं। चार्वाक चैतन्यविशिष्ट शरीरको ही ब्रह्म—आत्मा—कहते हैं। कोई-कोई चक्षु आदि इन्द्रियोंको ही आत्मा कहते हैं। बौद्ध क्षणिक विज्ञानको

आत्मा मानते हैं। नैयायिक, साङ्ख्य, मीमांसक आदि शरीर-भेदसे आत्माका भेद मानते हैं। वेदान्ती शरीरभेदसे आत्माका भेद नहीं मानते हैं, इस परिस्थितिमें यदि विचार किये विना पुरुष पुरुषार्थसाधनमें प्रवृत्त हो, तो उसे अनर्थ प्राप्त होगा, पुरुषार्थसे वह वञ्चित रहेगा, अतः ब्रह्मजिज्ञासा—वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य-निश्चय—अवश्य करना चाहिए।



चाँदनीमें मानसकी एक झलक

(लेखक—साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

परमरम्य गिरिवर कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू॥
सिद्ध तपोधन जोगिजन, सुर किन्नर मुनिवृंद।
बसहिं जहाँ सुकृती सकल, सेवहिं सिव सुखकंद॥
हरिहर विमुख धर्मरति नाहीं। ते नर तहँ कबहूँ नहिं जाहीं॥

इसी परमरम्य कैलासके पास ही परमरम्य मानससर है, जिसे मानसरोवर कहते हैं। जहाँ पहुँचकर मानुषी हृदय इस बातको स्वीकार कर लेता है कि यदि कहीं लोकोत्तर पवित्रता है, लोकोत्तर प्राकृतिक सौन्दर्य्य है, लोकोत्तर शान्ति है, तो यहीं है। जहाँ जाकर मनुष्य लौटना नहीं चाहता, जिसकी महा महिमासे पुराण भरे पड़े हैं, जिसकी ख्यातिसे दिगन्त व्याप्त है और जिसके पुण्य यशका बौद्धमत भी गान करता है।

इस मानसको मैं 'मानस' काव्यसे पृथक् करनेके लिए भू-मानस कहूँगा। इसी भू-मानसके नक्शेपर मानसकाव्य बना है, जिसे रामचरितमानस कहते हैं।

यथा—रामचरित-मानस येहि नामा। सुनत श्रवन पाइहि विश्रामा॥
मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौ एहि सर परई॥

न जगतीतलमें भू-मानस-सा बड़ा मीठे जलका कोई सरोवर है और न काव्यजगत्में रामचरित-मानस-सा बड़ा कोई रूपक है। चाँदनीमें इन दोनोंकी शोभा अपार हो जाती है, अतः इसी समयकी एक झलक मैं पाठकोंकी भेंट करना चाहता हूँ।

मुझे दर्शन दोनोंमें से किसीका भी प्राप्त नहीं हुआ है। हो कैसे? संसारकी मोहमाया छोड़कर प्राणपर खेलकर, यदि कोई भले लोगोंका साथ पकड़े हुए, डाकुओंसे जान बचाता हुआ उस कराल मार्ग, दुर्गम शैल, गहन वन और भयङ्कर नदियोंको अपने अदम्य साहस, अटूट श्रद्धा तथा भगवत्-कृपासे पार कर सके तो वहाँ पहुँचे। इसी भाँति मानस काव्यका भी मार्ग अत्यन्त विकट है—

यथा—अतिखल जे बिषई बककागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा॥
संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न विषय कथा रसनाना॥
आवत एहि सर अति कठिनाई। रामकृपा बिनु आइ न जाई॥
कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिनके बचन व्याघ्र हरि व्याला॥
गृहकारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला॥
बन बहु विषम मोह मद माना। नदीं कुतर्क भयंकर नाना॥

जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं संतन करं साथं।
तिनकहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥
सकल विघ्न व्यापहि नहिं तेही। राम सुकृपा विलोकहिं जेही॥
सोइ सादर सर मज्जन करई। महाघोर त्रयताप न जरई॥
ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिनके रामचरन भल भाऊ॥

अतः मानस काव्यके स्वरूपका दर्शन भी मुझे नहीं हो सका, पर भू-मानसके यात्रियोंका वर्णन पढ़ते और मानस काव्यका मनन करते-करते, जैसी झलक श्रीगुरु-कृपासे मनमें आई है, उसीको लेकर ही आप लोगोंके सामने उपस्थित हो रहा हूँ।

जिनको पहाड़ोंमें घूमनेका अवसर कभी मिला है, वे ही समझ सकते हैं कि पहाड़ी मार्ग कैसा विकट होता है? एक ओर गगनचुम्बी पत्थरकी दीवार दूसरी ओर पातालस्पर्शिनी गहरी खाई, जिसके देखनेसे झाँई आती है। बीचमें से पतलासा अनगढ़ रास्ता, जिसपर पैर ठहरना मुश्किल। 'पंछी पग ध्यान मुख राम राम।' यदि पैर फिसला तो कोई ठिकाना नहीं है। खाईके तलमें नदीका भयङ्कर प्रवाह चल रहा है, जिसमें पड़ कर तृण भी विना टूटे नहीं बच सकता।

किं पुनः मानस सरका मार्ग, जहाँ टूट टूट कर पत्थर पहाड़से गिरा करते हैं, रास्तेमें जंगल ही जंगल। खानेके लिये कोई पदार्थ नहीं मिलता, जलानेके लिये लकड़ी भी नहीं मिलती।

यदि इन सङ्कटोंको पार करके कोई मानस तक पहुँच जाय, तो पुरस्कार भी थोड़ा नहीं है। उसे मानसका दर्शन प्राप्त होता है। मानससर देवताओंका सर है। उसमें देवता स्नान करते हैं। उसके दर्शनसे ही मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। विधर्मी भी उसकी शोभापर मुग्ध होकर उसको भू-स्वर्ग कहते हैं। श्रीगोस्वाजी कहते हैं,—

जिन येहि वारि न मानस धोये। ते कायर कलिकाल विगोये॥

१५००० फीटकी ऊंचाई पर साठ सत्तर मीलकी परिधिमें निर्मल सुधास्पर्धी जलसे भरी हुई रमणीय झीलकी, जिसके चारों ओर ऊंचेसे ऊँचे पहाड़ खड़े हैं, और जो अनेक पुण्यजला नदियोंकी जननी कही जाती है, शोभा सर्वथा अकथनीय है, और वह शोभा शतगुण और सहस्रगुण अधिक हो जाती है जब कि भगवान् निशानाथ तारा ग्रह और नक्षत्रमण्डलके सहित आकाशमें आ विराजते हैं, और समाज सहित अपनी शोभा उस महादर्पणमें देखकर स्वयम् मुग्ध हो जाते हैं।

महाकवि श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी इस मानससरपर ऐसे मुग्ध हुए कि उन्होंने अपने हृदयको ही मानससर बनानेका सङ्कल्प कर लिया। फिर क्या था? उसमें अगाध स्थल भी ढूढ़ निकाला, बादल भी आ गये, वृष्टि भी खूब हुई। अगाध स्थल भर उठा। श्रीगोस्वामीजीने एक बड़ा पुरुषार्थ किया, अपने मानस-सरमें नहानेवालोंके सुभीतेके लिये चार घाट भी बांधे, सीढ़ी भी बनवाई। पुरइन

लगी, कमल फूले। हंस भी आ गये, मछलिया तैरने लगी, और भी अनेक जलचर उत्पन्न हुए।

यह सब होते हुए भी श्रीगोस्वामीजी मैदानके रहनेवाले थे, उनके मानससरकी शोभा अमराईके बिना पूरी न हो सकी, अतः अमराई भी लगाई गई, उसमें लताएं लपेटी गईं, वसन्त ऋतु बुलाई गई और आम फूलने तथा फलने लगे। फल लगनेकी देर थी चिड़ियोंके पहुँचनेमें क्या विलम्ब है?

मानससरके तैयार हो जानेपर रखवारे नियुक्त किये गये और स्नानके लिये नियम भी बनाये गये, यथा—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं रामसुजस बर बारी। मधुर मनोहर मङ्गलकारी॥
मेधा महि गत सो जल पावन। सिकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन॥
भरेउ सुमानस सुथिर थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥
सुठि सुन्दर संवाद बर, बिरचेउ बुद्धि बिचार।
ते एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चार॥
सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ज्ञाननयन निरखत मनमाना॥
पुरइन सघन-चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई॥
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सो बहु भांति कमल कुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सो पराग मकरंद सुबासा॥
सुकृत पुंज मंजुल अलि माला। ज्ञान बिराग बिचार मराला॥
धुनि अवरेब कवित्त गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥
अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी॥
नवरस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा॥
सुकृती साधु नाम गुन गाना। ते बिचित्र जल बिहग समाना॥
संत सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई॥
भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया दम लता बिताना॥
संजम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद-रति-रस बेद बखाना॥
जे गावहिं यह चरित संभारे। ते येहि ताल चतुर रखवारे॥
सदा सुनहि सादर नर नारी। ते सुरबर मानस अधिकारी॥
अति खल जे बिषयी बक कागा। येहि सर निकट न जाहिं अभागा॥

अब भू-मानसके नकशेपर 'मानस' काव्य बनकर तैयार हो गया। अब रात चाहिये, रातको चाँद चाहिये, तारे चाहियें और चाहियें नक्षत्रमण्डल, अतः कहते हैं—

राका ससि रघुपति भगति, राम नाम सोइ सोम।

अपर नाम उडगन सरिस, बसहु भगत उरव्योम ॥
रामचरित राकेसकर, सरिस सुखद सब काहु ।
सज्जन कुमुद चकोर चित, हित विशेप बड़ लाहु ॥

रामभक्ति पूर्णिमाकी रात्रि है, इसमें रात्रिके दोषदुख नहीं होते। इसीसे इसे धर्मकी रात कहते हैं। इसमें रामचरितरूपी चाँदनीका बड़ा शीतल और उज्ज्वल प्रकाश होता है। चन्द्रके स्थानमें श्रीराम नाम है, शेप नाम—गोविन्द मुकुन्द आदि—तारे हैं।

इतना होनेपर भी नक्षत्रमण्डलका न होना खटकता है। सो नक्षत्र २७ हैं और अभिजित्‌को मिलानेसे २८ हो जाते हैं। भगवान्‌के गुणग्राम ही नक्षत्र हैं। स्तुतिमें ही गुणग्राम कहे जाते हैं। श्रीरामचरितमानसमें २८ स्तुतियां हैं, वे ही क्रमशः अश्विनी, कृत्तिका आदि हैं। जिस नक्षत्रका जैसा रूप है, और जितने तारे उनमें चमकते हैं वे सब खोजनेसे ज्योंके त्यों स्तुतियोंमें मिलते हैं। इनकी तालिका देते हुए श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

(१) जय मंगल गुन ग्राम रामके (२) दानि मुक्ति धन धरम धामके।
(३) सदगुर ज्ञान विराग जोगके (४) विबुध वैद भव भीम रोगके।
(५) जननि (६) जनक सियराम प्रेमके (७) बीज सकल व्रत धरम नेमके।
(८) समन पाप संताप सोकके (९) प्रिय पालक परलोक लोकके।
(१०) सचिव (११) सुभट भूपति विचारके (१२) कुंभज लोभ उदधि अपारके।
(१३) काम क्रोध कलिमल करिगनके। केहरि सावक जन मन बन के।
(१४) अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारिके (१५) कामद धन दारिद दवारिके।
(१६) मंत्र महामनि विषयव्यालके (१७) मेटत कठिन कुअंक भालके।
(१८) हरन मोहतम दिनकर-करसे (१९) सेवक सालिपाल जलधरसे।
(२०) अभिमत दानिदेव तरुवरसे (२१) सेवत सुलभ सुखद हरिहरसे।
(२२) सुकवि सरद नभ मन उडगनसे (२३) रामभगत जन जीवन धनसे।
(२४) सकल सुकृत फल भूरि भोगसे (२५) जगहित निरुपधि साधु लोगसे।
(२६) सेवक-मन-मानस-मरालसे (२७) पावन-गंग-तरंग-मालसे।
(२८) कुपथ कुतर्क कुचालि कलि कपट दंभ पाखंड।
दहन रामगुन-ग्राम जिमि, इंधन अनल प्रचंड ॥

अब भक्तिकी रात्रिमें रामनामरूपी चन्द्र तथा मुकुंद, केशव आदि नाम रूपी उडगण तथा २८ नक्षत्र रूपी स्तुतियोंका दर्शन यदि आप अपने मानसमें कीजिये तो सम्भव है कि एक झलक उस रामचरितमानसकी आ जाय, जिसकी प्राप्तिके लिए मोह, मद, मान, कुतर्क, गृहकार्य्य आदि नाना व्यवहारका त्याग अनिवार्य्य है। शुभम्

नाम-संकीर्तन-मीमांसा

(श्रीधरीटीकाके अनुसार)

(लेखक—पं० श्रीनित्यानन्द पाण्डेय जी, बी० ए०, एल् एल्० बी०)

श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणोंमें श्रीमद्भगवन्नामकीर्तनका महात्म्य वर्णित है। उनमें यहाँ तक कहा गया है कि, एक बार भी भगवन्नामके उच्चारणसे सब पापोंका प्रायश्चित्त (नाश) हो जाता है तथा भगवन्नाम कीर्तन [स्वतन्त्ररूपसे] मुक्तिका साधन है।

इस लेख में पुराणान्तर्गत एक इतिहासके प्रमाणसे प्रस्तुत विषयकी पुष्टि करते * हैं।

कान्यकुब्ज देशमें आचारसे भ्रष्ट और दासीके संसर्गसे दूषित अजामिल नामका एक ब्राह्मण रहता था। वह बटोहियोंको लूटना, जुआ खेलना और चोरी करना आदि निन्दित वृत्तियोंका अवलम्बन कर प्राणियोंको दुःख देता हुआ अपना निर्वाह करता था। नारायण नामवाले अपने छोटे पुत्र पर उसका बड़ा प्रेम था। मृत्युका समय निकट आनेपर उसने अपनी बुद्धि उसी नारायण नामवाले पुत्रमें लगाई। यमदूतोंको देखकर व्याकुल हुए उसने उच्च स्वरसे अपने पुत्रका नाम लेकर अर्थात् नारायण! नारायण! कहकर पुकारा। इतनेमें अपने स्वामीका नाम सुनकर भगवान्‌के पार्षद वहाँ आ गये और उन्होंने यमदूतोंको उसके ले जाने से रोका। क्योंकि 'हरि' का नाम उच्चारण करनेसे उसके पापोंका नाश हो गया था। श्रीहरिका नाम केवल प्रायश्चित्तमात्र नहीं है, किन्तु कल्याणनिधि और मोक्षका साधन है। कहा भी है—

'सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥'

(अर्थ—जिसने 'हरि' इन दो अक्षरोंका एक बार भी उच्चारण किया उसने मोक्षको प्राप्त करनेके लिए कमर बाँध ली)

शङ्का—हरिका नाम केवल कर्मोंकी न्यूनताको † पूर्ण कर देता है ऐसी परिस्थितिमें कैसे यह कहा जा सकता है कि हरिका नाम स्वतन्त्ररूपसे पापोंको दूर करता है?

समाधान—पूर्वमीमांसामें कहा गया है कि 'खादिरो यूपो भवति' (यज्ञमें खदिर (खैर) का यूप होता है) और 'खादिरो वीर्यकामस्य' (खदिरका यूप वीर्य चाहनेवालेको बनाना चाहिए)। जैसे यहांपर 'संयोग पृथक्त्व' (विधायक वचनोंके भेदको 'संयोग पृथक्त्व' कहते हैं)। न्यायसे एक ही खादिर यूप यज्ञार्थ और पुरुषार्थ होता है वैसे ही भगवन्नामोच्चारण भी विधायक वचनके भेदसे कर्मकी न्यूनताकी पूर्ति और पापके नाशका कारण होता है। कहा भी है—

'अवशेनाऽपि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥'

(अर्थ—जैसे सिंहसे भयभीत हुए मृग दूर भाग जाते हैं वैसे ही अवश होकर भी नाम-कीर्तन करनेसे उसी क्षण मनुष्य सब पापोंसे रहित हो जाता है)

शंका—"हरिर्हरति पापानि" इत्यादि वचनोंसे प्रतीत होता है कि केवल भगवान्‌में ही पाप दूर करनेकी शक्ति है न कि भगवन्नाममें।

---

* भागवत स्कन्ध ६ अध्याय १,२।

† यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥

समाधान—यह विषय गम्भीर होनेपर भी अति सरल है, क्योंकि शास्त्रकारोंने नाम और नामीका अभेद माना है। माण्डूक्य कारिकामें श्रीमच्छङ्कराचार्य भगवान्‌ने नाम और नामीका अभेद सिद्ध कर दिया है।

हरिनाम-कीर्त्तनको अर्थवाद नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यह किसी विधिका शेष नहीं है। लिङादि प्रत्यय न होनेसे अर्थवाद नहीं होता। जैसे "आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति" में लिङादिके न होनेपर भी विधि है वैसे ही "सकृदुच्चरितं" में भी विधि बन सकती है। ❀ श्रुतिसे भी यह ज्ञात होता है कि नामके उच्चारण करनेसे तप, दान आदि सब धर्म अधिक हो जाते हैं। देवताधिकरणमें यह माना गया है कि मन्त्र और अर्थवाद अपने विषयमें प्रमाण होते हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि नारायणके नामाभाससे सम्पूर्ण पाप दूर हो जाते हैं।

शङ्का—जब कि श्रद्धा, भक्ति और आवृत्ति की विधि है तब किस प्रकार केवल नामाभाससे पापका क्षय होगा ?

समाधान—यह ठीक है, क्योंकि इन उपायोंसे मनुष्य अन्त समयमें नामके उच्चारणमें समर्थ होता है, किन्तु जिसने किसी बहानेसे मरते समय श्रीहरिके नामका स्मरण कर लिया उसको इस बातकी अपेक्षा नहीं कि वह पहले श्रद्धा इत्यादिसे सुसम्पन्न हो। "अन्तमें जैसी मति होती है वैसी ही उसकी गति होती है" इस न्यायसे भी नामाभासके उच्चारणमात्रसे पापका नाश होता है †।

शङ्का—जब नामोच्चारणका इतना माहात्म्य है तो फिर वैदिक कर्म सन्ध्योपासनादि करनेका कष्ट क्यों किया जाय ?

समाधान—नामोच्चारणके भी नियम हैं जिनके उल्लंघन करनेसे नामोच्चारण करनेपर भी किसी अर्थकी प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् कोई फल नहीं मिलता। इसीको नामापराध कहते हैं। इन नामापराधों की संख्या दस है—

(१) सत्पुरुषोंकी या सच्छास्त्रोंकी या सन्मंत्रोंकी निन्दा। (२) असत्पुरुषोंसे नामका माहात्म्य कहना या असत्पुरुषोंके सामने नामोच्चारण करना। (३) विष्णु और शिवमें भेद-बुद्धि। (४) गुरुके वाक्योंमें अविश्वास। (५) नाममाहात्म्यको अर्थवाद मानना। (६) नामकी ओटमें शास्त्रोक्त कर्म-धर्मोंका त्याग। (७) निषिद्ध पापकर्मोंका आचरण। (८) वेद-वाक्यमें अश्रद्धा। (९) नामजपकी इतर धर्मोंसे समानता अर्थात् अपने धर्मशास्त्रके नाम छोड़कर "अल्लाह" इत्यादि नाम जपना। (१०) शास्त्रवचनमें अश्रद्धा।

इस उपर्युक्त कथनसे प्रतीत होता है कि नामापराधोंसे बच कर ही नामोच्चारणसे पापोंका प्रायश्चित्त होता है तथा मुक्ति प्राप्त होती है ‡।

❀ "मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे विप्रासो जातवेदसः।
आस्य जानन्तो नामचिद्विवक्तन।"

† अथैनं माऽपनयत कृताशेषाघनिष्कृतम्। यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत्॥
सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः। हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥
भा० ६।२।१३ से १५ तक।

‡ भगवान्‌के नामकीर्तनसे अजामिलके पाप नष्ट हुए थे। मुक्ति तो वर्णाश्रम धर्मानुष्ठान-पूर्वक श्रवण, मनन आदि द्वारा उत्पन्न आत्मज्ञानसे ही हुई थी, यह बात भागवतके अजामिल-चरितको देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होती है।—सम्पादक।

हुआ कुछ नहीं है

(लेखक—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

शम कर, दम कर, दया कर, दान कर, सन्तुष्ट रह, शान्त रह, सन्तृप्त रह, प्रसन्न रह, विवेक कर, वैराग्य कर, तितिक्षा कर, तप कर, जप कर, स्वाध्याय कर। काम तज, क्रोध तज, लोभ तज, शोक तज, मोह तज, ईर्ष्या तज, दम्भ तज, कपट तज, पाखण्ड तज। अहंता त्याग दे, ममता त्याग दे, भेदद्दृष्टि त्याग दे, हिंसा त्याग दे। वैर मत कर, द्रोह मत कर, चोरी मत कर, निन्दा मत कर। *समता भज, संतोष भज, शौच भज, सरलता भज। मन ही बन्धका कारण है और* मन ही मोक्षका हेतु है। मनके कूड़ेको छाँट दे, एक-एक करके मनके सम्पूर्ण दोषोंको निकाल दे। मनके शान्त हुए बिना शान्ति नहीं पावोगे। जब मन शुद्ध हो जायगा, तभी तू शान्त होगा। तेरे शान्त होते ही समस्त जगत् शान्त हो जायगा, फिर तुझे कहीं भी किंचित् भी कभी भी किसी प्रकारकी भी अशान्ति नहीं दिखलाई देगी। अशान्त मन द्वैत दिखलाता है, द्वैत कहीं नहीं है, द्वैतसे भय होता है, अद्वैतमें भय नहीं है। श्रुति माता गला फाड़-फाड़ कर चिल्ला रही है कि जब यहां भेद कुछ नहीं है, तब तू भेद क्यों मानता है? भेद मत देख, एक ही देवको सबमें देख। सब मनका बनाया हुआ है, नहीं तो एक ही देव है, सब नहीं है, एक ही है, हुआ कुछ नहीं है।

'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इस श्रुतिके अनुसार यह सब दिखाई देनेवाला चराचर जगत् ईश्वरसे व्याप्त है यानी ढका हुआ है। दिखाई देनेवाला होनेसे यह जगत् मिथ्या है। जो वस्तु दिखाई देती है, वह स्वप्नके समान मिथ्या ही होती है। यदि कोई कहे कि दीखनेवाली वस्तु ही तो सच्ची होती है, तो ऐसा नहीं है। दीखनेवाली वस्तु मिथ्या ही होती है, क्योंकि दीखनेवाली वस्तु तीनों कालमें एक-सी नहीं रहती। जो वस्तु तीनों कालोंमें एक-सी ही विद्यमान रहे, वही सत्य है। जगत्की कोई वस्तु सर्वदा एक-सी नहीं रहती, किन्तु क्षण-क्षणमें बदलती रहती है। जो वस्तु क्षण-क्षणमें नये-नये रूप बदले, वह सत्य कैसे हो सकती है? किसी प्रकार भी सत्य नहीं हो सकती। बालक गर्भमें आता है, नौ मास तक बढ़ता रहता है, फिर गर्भमें से बाहर निकलता है,

पाँच वर्ष तक शिशु कहलाता है, सोलह वर्ष तक कुमार कहा जाता है, चालीस वर्ष तक युवा नामसे पुकारा जाता है, अब तक बढ़ता है, पीछे घटने लगता है, साठ वर्ष तक प्रौढ यानी अधेड़ कहलाता है, पीछे वृद्ध हो जाता है, सब प्रकारसे असमर्थ होकर अन्तमें न मालूम कहाँ चला जाता है, इसलिए देह सत्य नहीं है। जब देह सत्य नहीं है, तब देह-से दीखाई देनेवाला जगत् भी सत्य नहीं है। यदि सत्य भी हो, तो भी क्या हुआ? 'आप मरे जग-प्रलय' इस न्यायके अनुसार यह जगत् स्वप्नके समान मिथ्या ही है। यदि मिथ्या ही है, तो हुआ न हुआ बराबर ही है, इसलिएं यह कथन सत्य है कि हुआ कुछ नहीं है।

गया हुआ दिन लौटकर नहीं आता। जो रात चली गई, सो चली ही गई, फिर लौटकर नहीं आती। पिता, पुत्र, बान्धव, छोटा-बड़ा जो मर गया, सो मर ही गया, फिर कभी मुख नहीं दिखाता। बड़े-बड़े राजा-महाराज, सेठ-साहूकार, बड़े-बड़े वेदपाठी ब्राह्मण, महापराक्रमी दानव इतिहासमें प्रसिद्ध हैं, मगर उनके नाम ही नाम सुननेमें आते हैं, वे दृष्टिगोचर नहीं होते। जिनकी चतुरंगिणी सेनाके चलनेसे वसुन्धरा नावके समान काँपने लगती थी, उनका आज कहीं नाम-निशान तक भी नहीं मिलता। सब काल भगवान्‌की गालमें समा गये, मानो वे हुए ही नहीं थे। जब वे देखनेमें ही नहीं आते, तब हुए ही नहीं थे, यही कहना ठीक है, क्योंकि रस्सीमें भ्रमसे प्रतीत होनेवाले सर्पको कोई भी 'हुआ है, या हुआ था' ऐसा नहीं कह सकता। रस्सीमें दीखनेवाले सर्पके समान जगत् कल्पनामात्र होनेसे मिथ्या ही है। मिथ्याकी सत्ता नहीं होती, इसलिए जगत्‌की सत्ता नहीं है। ब्रह्मकी सत्तासे यह मिथ्या जगत् भी सत्ता-सा भासता है। परमार्थसे जगत् नहीं है, ब्रह्म ही ब्रह्मके अज्ञानसे जगत्‌रूपसे भासता है। इसलिए जैसे रस्सीमें भासनेवाला सर्प सत्य नहीं है, वैसे ही जगत् सत्य नहीं है, इसलिए हुआ कुछ नहीं है।

जहाँ मन होता है, वहीं जगत् भासता है, जहाँ मन नहीं होता, वहाँ जगत् नहीं भासता। जाग्रत् और स्वप्न अवस्थामें क्रमसे स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्च दिखाई देता है, सुषुप्तिमें नहीं दिखाई देता, क्योंकि सुषुप्तिमें मन लीन हो जाता है, इसलिए अन्वय-व्यतिरेकसे मन ही जगत्‌का भान करानेवाला है। मनको जगत्‌की अपेक्षा है और जगत्‌को मनकी अपेक्षा है। जगत्‌के बिना मन नहीं और मनके बिना जगत् नहीं है, तो जगत् मनकी ही कल्पना है, परमार्थतः जगत् नहीं है। जो मनसे अध्यास कर लेता है यानी मनमें आत्मभान कर लेता

है यानी आत्माको न जाननेसे 'मैं मन ही हूँ' ऐसा मान लेता है, उसीको जगत् दिखाई देता है। जिनको आत्माका ज्ञान है यानी जिनको मनका और आत्माका विवेक है, उनको मनका रचा हुआ जगत् मनमें ही भासता है, आत्मामें नहीं भासता। मनसे और मनके रचे हुए जगत्से आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि आत्मा असंग है, ऐसा श्रुति कहती है और व्यास, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि विद्वानोंका भी ऐसा ही अनुभव है। असंग आत्माका मनसे और मनके रचे हुए जगत्से सम्बन्ध होना उसी प्रकार सम्भव नहीं है, जिस प्रकार सूर्य और रात्रिका सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है। इसलिए आत्मामें किसी कालमें भी जगत्की सम्भावना नहीं है। नहीं हुआ ही जगत् मायासे मोहित पुरुषोंको भासता है, हुआ कुछ नहीं है।

यदि कोई कहे कि आत्मामें जगत् न सही, तो भी मनमें तो जगत् है ही, इसलिए जगत् है ही, तो यह बात नहीं है, क्योंकि परमार्थसे यदि मन ही नहीं है, तो मनका रचा हुआ जगत् कहांसे आवे? मायाका बना हुआ मन है, माया कोई वस्तु है नहीं, आत्माका अज्ञान यानी आत्माको यथार्थरूपसे न जानना, किन्तु अन्य प्रकारसे जानना ही माया है, इसलिए माया भावरूप नहीं है। यदि कोई कहे कि पूर्व आचार्योंने तो मायाको भावरूप कहा है, तुम अभावरूप कैसे कहते हो? तो उसका उत्तर यह है कि माया अनिर्वचनीय है, यानी वह सत् रूपसे, असत् रूपसे अथवा सत्-असत् दोनों रूपोंसे नहीं कही जाती। भाव यह है कि मायाको सत्रूप तो इसलिए नहीं कह सकते हैं कि प्रमाणसे उसका बाध हो जाता है, असत्रूप इसलिए नहीं कह सकते हैं कि मायाका कार्य जगत् मायामोहित पुरुषोंको दिखाई देता है और सत्-असत् दोनों इसलिए नहीं कह सकते हैं कि दो विरुद्ध धर्म एकमें रह नहीं सकते। विचार करनेसे माया अभावरूप ही सिद्ध होती है, अविचारसे सत्-सी प्रतीत होती है, इसलिए मुमुक्षुओंको विचारमें प्रवृत्त करानेके लिए वेदवेत्ता मायाको भावरूप कहते हैं, बात ठीक भी है, क्योंकि जबतक सर्पको मिथ्या नहीं जाना है, तबतक सर्प सत्य ही है, इसी प्रकार श्रुति और युक्तिसे विचार करनेके पहले माया भावरूप ही है, विचार करने पर उसका अभाव हो जाता है, इसलिए हुआ कुछ नहीं है।

श्रुति कहती है कि सृष्टिसे पहले एक अद्वितीय सत् ब्रह्म ही था, उसके सिवा कुछ था नहीं और प्रलयमें वह एक अद्वितीय सत् ही शेष रहता है। जो

आदि और अन्तमें रहता है, वही सत्य होता है। जो आदि और अन्तमें नहीं रहता, किन्तु बीचमें ही दिखलाई देता है, वह सत्य नहीं होता। जैसे घटकी उत्पत्तिसे पूर्व और घटके नाशके अनन्तर पृथिवी सत्य है और बीचमें उत्पन्न हुआ घट काल्पनिक होनेसे मिथ्या है, वैसे ही आदि और अन्तमें रहनेवाला सत् ब्रह्म ही सच्चा है और ब्रह्मके अज्ञानसे बीचमें भासनेवाला जगत् मिथ्या है अथवा यों कहना चाहिए कि जैसे घट पृथिवीरूप ही है, वैसे ही जगत् ब्रह्मरूप ही है यानी जैसे घटकी सत्ता पृथिवीकी सत्तासे भिन्न नहीं है, वैसे ही जगत्की सत्ता ब्रह्मकी सत्तासे भिन्न नहीं है, इसलिए जगत् नहीं है, ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही ब्रह्मके यथार्थस्वरूपको न जाननेसे जगत्-रूपसे भासता है और ब्रह्मका ज्ञान होनेसे, जैसे रस्सीमें कल्पित सर्प रस्सीके ज्ञानसे लीन हो जाता है वैसे ही, यह नाम-रूप जगत् लीन हो जाता है, इसलिए यह बात सोलह आने सत्य है कि हुआ कुछ नहीं है।

ज्यों-ज्यों विचार किया जाता है, त्यों-त्यों जगत्की सत्ता सिद्ध नहीं होती, एक अद्वितीय ब्रह्म ही सिद्ध होता है, जब एक ही है, तब शोकका क्या काम है? श्रुति कहती है कि जो भाग्यवान् एकत्वको देखता है, उसके शोक, मोह, भय, चिन्ता, राग, द्वेष और सुख-दुःख सब एक ब्रह्मके ज्ञानसे निवृत्त हो जाते हैं, इसलिए श्रेयके अभिलाषीको सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा अनेक देखते हुए भी एक ही देखना चाहिए। जिस प्रकार खांडके हाथी, घोड़े आदि खिलौने अनेक होते हैं, परन्तु उन सबके भीतर, बाहर, आगे, पीछे सिवा खांडके अन्य कुछ नहीं रहता, उसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्र, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जो अनेक पदार्थ देखनेमें आते हैं, वे सब सिवा ब्रह्मके कुछ नहीं हैं ब्रह्मरूप ही हैं, यह ज्ञान शान्ति देनेवाला है, इसलिए घटमें, पटमें, घरमें, दरमें, दक्षिणमें, उत्तरमें, नीचे, ऊपर सर्वत्र ब्रह्मका दर्शन करना ही श्रेयका मार्ग है, अन्य मार्ग कल्याणका नहीं है। भ्रमसे अनेकता दृष्टिगोचर होती है, परमार्थसे एकत्व है, अद्वैत है। न जगत् है, न शरीर है, एक ब्रह्म ही है, हुआ कुछ नहीं है।

एक अखण्ड आनन्दस्वरूप एकरस आत्मा सबमें भरपूर है। वह न पास है, न दूर है, हाजिर हुजूर है, न कभी घटता है, न कभी बढ़ता है, जाग्रत्में, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें, बाल्यमें, तरुणाईमें, वृद्धावस्थामें, उत्पत्तिमें, स्थितिमें, प्रलयमें सर्वदा एकसम आनन्दका सागर है। मायाका उसमें नाम नहीं है,

कायाका उसमें काम नहीं है, उसके जाननेके लिए ही योगी एकान्त वनमें वास कर, फलफूल और मूलका सूक्ष्म आहार कर, स्थिर आसन लगा कर निर्विकल्प समाधि लगाते हैं, उसीकी प्राप्तिके लिए मुमुक्षु गुरुकी सेवा करते हुए श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हैं। जितने साधन हैं, सब उसी देवकी प्राप्तिके लिए हैं, जिसने उसको जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया, जिसने उसको पा लिया, सब कुछ पा लिया, सब कुछ कर लिया, जिसने उसको नहीं जाना तथा नहीं पाया, उसने कुछ नहीं जाना और कुछ नहीं पाया, ऐसे पुरुषका जन्म व्यर्थ ही गया। वह मानो जन्मते ही मर गया अथवा मरा हुआ ही जन्मा। ऐसोंके लिए वेदवेत्ता शोक करते हैं। एक ही देव है, नया कुछ नहीं है। हुआ कुछ नहीं है।

भोला! जब कुछ हुआ ही नहीं है, वारपार एक ही शाश्वत देव विराजमान है, तब तू क्यों शोक करता है? क्यों मोह करता है? क्यों भय करता है? उसी देवका अनुसन्धान करता हुआ निर्द्वन्द्व होकर विचर। न किसीसे राग कर, न किसीसे द्वेष कर, सबको समान प्यार कर, किसी प्रकारकी चिन्ता मत कर, जो अपना आप है, वह तीनों कालोंमें विद्यमान है, उसके सिवा सब मिथ्या हैं, तब चिन्ताका क्या काम है? चिन्ता मत कर, भय मत कर, भय मत दे, आप ही अपनेमें मग्न रह, आप ही अपनेमें संतुष्ट रह, आप ही अपनेमें संतृप्त है, योगक्षेमकी चिन्ता मतकर, योग-क्षेम करनेवाला देव तेरा आत्मा है, तेरे भीतर ही नियन्तारूपसे और आत्मरूपसे विराजमान है, वही सच्चा है, वही नित्य है, देह नहीं है, गेह नहीं है, विश्व नहीं है, जीव नहीं है, ईश्वर नहीं है, जो कुछ है वह एकदेव ही हैं, यानी विश्व, जीव, ईश्वर आदि रूपसे तेरा आत्मा नित्य निरञ्जन एक देव ही भासता है, अज्ञानसे अनेक भासता है, ज्ञान-चक्षुसे देखनेसे एक ब्रह्म ही है, हुआ कुछ नहीं है।

यदि कहो कि जगत् दिखाई देता है, तो एक कैसे देखूँ? तो सुन, जो कुछ दिखाई देता है, सब वही है, प्रचण्ड मार्तण्ड होकर वही तपता है, चन्द्र होकर अपनी शीतल किरणोंसे वही सब चर-अचरको शीतल करता है, तारे होकर वही सबको आश्चर्यमें डालता हुआ अपनी अनन्तता प्रकट करता है, वही आकाश होकर सब लोक और लोकपालोंको अवकाश दे रहा है, वही वायु होकर समस्त ब्रह्माण्डको अथवा अनेक ब्रह्माण्डोंको सूत्रात्मा-

रूप होकर धारण कर रहा है, अग्नि होकर वही सबको उष्णता देकर जीवन देता है, जल होकर वही नदी, नद, समुद्र और मेघ रूपसे सबको आह्लाद देता है। वही पृथिवी होकर समस्त प्राणियोंको धारण करता है, इस प्रकार एक ब्रह्म ही है, अन्य नहीं है। जो कुछ दीखता है, जो नहीं दीखता, सब वही है। जैसे सुवर्ण एक ही अनेक भूषणरूपसे भासता है और परमार्थसे सुवर्ण ही है, वैसे ही अविवेकियोंको ब्रह्म नाम, रूप आदि भेदवाला प्रतीत होता है, परमार्थतः विवेकियोंकी दृष्टिसे एक ही है, हुआ कुछ नहीं है।

मनमें से सब वासनाओंको निकाल दे, सब कामनाओंको निर्मूल कर दे, अपने आपमें ही आप सन्तुष्ट हो, दुःख आनेपर उद्विग्न मत हो, सुख प्राप्त होनेपर हर्ष मत कर, सुखकी इच्छा भी मत कर, निर्भय होकर आत्मानुसन्धान करता हुआ विचर; किसीमें स्नेह मत कर, स्नेह ही बेड़ी है, स्नेहकी बेड़ी तोड़ दे, न हर्ष कर, न विषाद कर, सुखसे विचर। इन्द्रियोंका निग्रह कर। जब तक इन्द्रियोंका निग्रह नहीं होगा, तबतक मन वशमें नहीं आवेगा। जब तक मन वशमें नहीं आवेगा, तबतक बुद्धि निर्मल नहीं होगी। जबतक बुद्धि निर्मल नहीं होगी, तबतक स्वयंप्रकाश, असङ्ग, निर्विकार आत्माका साक्षात्कार नहीं होगा, जबतक आत्माका साक्षात्कार नहीं होगा, तबतक द्वैत निर्मूल नहीं होगा, जबतक द्वैत निर्मूल नहीं होगा, तबतक अक्षय शान्ति प्राप्त नहीं होगी, इसलिए बुद्धि आदिका संयम करके शान्त हो जा, हुआ कुछ नहीं है!

छन्द

वही आदिसे अन्त तक एक ही है, नहीं वार जिसका नहीं पार ही है।
नहीं जोड़ जिसमें नहीं तोड़ ही है, नया कुछ नहीं है, हुआ कुछ नही है ॥१॥

तजे देह कुछ हाथ आता नहीं है, अहं जो तजे तो रहे आप ही है॥
अहं त्याग दे, श्रेय भोला! यही है, सदानन्द ही है, हुआ कुछ नहीं है ॥२॥



जीव-तत्त्व

[लेखक—स्वामी विज्ञानहंसजी, काशी ।]

जीवात्माके स्वरूपकी तरह जीवात्माके परिमाणके विषयमें भी अवच्छिन्न और प्रतिबिम्बवाद या अद्वैत और द्वैतवादमें मतभेद पाया जाता है ।

द्वैतवादीगण,

'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।' (ब्र० सू० २।३।२१)

इस वेदान्तसूत्रको सिद्धान्तसूत्र मानकर जीवको अणुपरिमाण मानते हैं। परन्तु अद्वैतवादीगण इस सूत्रको पूर्वपक्षसूत्र कहकर—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् । (ब्र० सू० २२३९)

इस सूत्रको सिद्धान्त सूत्र मानते हैं और उसके अनुसार जीवको महत्-परिमाण मानते हैं । इस तरह दोनों वादोंमें जीवके परिमाणके विषयमें मतभेद पाया जाता है ।

विचार करनेपर सिद्ध होगा कि उपर्युक्त दोनों ही मत अपनी-अपनी भूमिपर सत्य हैं, लेकिन केवल अवच्छिन्न और प्रतिबिम्बवादके अनुसार भूमिकाका ही भेद है, जिससे एक ही जीवके भूमिभेदानुसार दो प्रकारके परिमाण उपलब्ध होते हैं ।

वास्तवमें जो वस्तु बहुत सूक्ष्म होती है उसके परिमाणका निर्णय नहीं हो सकता। संसारमें स्थूल वस्तुके ही परिमाणका निर्णय किया जा सकता है । यदि सूक्ष्म वस्तुके परिमाणका निरूपण करना हो तो जिस उपाधिके साथ सूक्ष्म वस्तुका सम्बन्ध हुआ है, उस उपाधिके परिमाणके अनुसार उसके परिमाणका निर्णय करना पड़ता है । जीवका स्वरूप भी सूक्ष्म है, अतः जबतक प्रतिबिम्बवादकी भूमिके अनुसार अविद्याके साथ जीवका औपाधिक सम्बन्ध रहेगा अर्थात् आत्माका व्यापक स्वरूप प्रकाशित न होगा तबतक जीवका अनुभव अणुरूपमें ही होगा। इसलिए द्वैतवादीगण जीवको अणुपरिमाण कहते हैं। परन्तु जिस समय अवच्छिन्नवादकी दृष्टिके अनुसार स्वरूपके विचारसे जीवका परिमाण देखा जायगा । उस समय आत्माके विभुत्वपर दृष्टि अवश्य जायगी और इसलिए अद्वैतवादीगण जीवको अणुपरिमाण न मानकर महत्परिमाण मानते हैं इन दोनों भावोंको प्रकट करनेवाली अनेक श्रुतियाँ मिलती हैं । जैसे—

'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥'
(मु० उ० ३।१।९)

अणुपरिमाण आत्मा चित्त द्वारा ज्ञेय है जिसमें प्राण पञ्चरूपमें प्रति-

ष्ठित है। आत्मा प्राणोंके द्वारा प्रजाओंके चित्तको व्याप्त करता है। चित्तके विशुद्ध होनेपर वही अणुपरिमाण आत्मा अर्थात् जीव विभु होता है। इस मन्त्रके पूर्वार्धमें प्रतिविम्बवादके अनुसार चित्तरूप उपाधि युक्त आत्मा अणुपरिमाण कहा गया है और उत्तरार्धमें अवच्छिन्नवादके अनुसार अविद्योपाधिनिर्मुक्त आत्मा विभु कहा गया है। इस तरह उपाधिके अनुसार सूक्ष्म आत्माके परिमाणका निर्देश किया जाता है। श्रीभगवान् वेदव्यासके वेदान्तदर्शनमें जीवका स्थान हृदय बतलाया गयाहै। जैसे—

······अभ्युपगमाद् हृदि हि (ब्र० सू० २।३।२४)

हृदयमें ही जीवका स्थान स्वीकृत होता है इसी सूत्रके अनुसार श्रुतिमें भी जीव अङ्गुष्ठपरिमाण कहा गया है। जैसे—

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।' (कठोपनिषत् ४।१२)

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। (श्वेताश्वतर ३।१३)

शरीरके मध्य अर्थात् हृदयमें अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जीवका अवस्थान है। वह अन्तरात्मारूपसे सदा समस्त जीवोंके हृदयमें विराजमान है।

इन श्रुतियोंमें जीवका परिमाण जो अङ्गुष्ठमात्र कहा गया है, वह जीवका परिमाण नहीं है किन्तु हृदयपुण्डरीकका परिमाण है। हृदयपुण्डरीक जहाँपर जीवका स्थान है, उसका परिमाण अङ्गुष्ठपरिमाण है, इसलिए हृदय उपाधिके सम्बन्धसे जीवको भी श्रुतिने अङ्गुष्ठमात्र कहा है वही उपाधिसे समन्वित अङ्गुष्ठमात्र जीवात्मा उपाधिसे निर्मुक्त और अपने स्वरूपमें स्थित होनेपर अपनी व्यापक सत्ताकी उपलब्धि कर सकता है जिसके अनुसार जीव विभु भी कहा जाता है जैसा कि ऊपरकी पहली श्रुतिमें वतलाया गया है। इसीलिए वेदमें आत्मा—

'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (श्वे० ३।२०)

कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में इन दोनों भावोंके ज्ञापक कई-एक मन्त्र मिलते हैं। जैसे—

'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽह्यवरोऽपि दृष्टः॥ (श्वे० ५।८)

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
जीवो भागः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥' (श्वे० ५।९)

'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥' (श्वे० ५।१०)

संकल्प और अहंकारके द्वारा अविद्योपाधिसे युक्त सूर्यतुल्य जीवात्मा अङ्गुष्ठपरिमाण है, बुद्धिके गुणके साथ संसृष्ट जीव आराके अग्रभागके सदृश सूक्ष्म है।

परन्तु अपने गुणके साथ संसृष्ट जीव अवर अर्थात् परमश्रेष्ठ और महत्परिमाण है। केशके अग्रभागको शतधा विभक्त करके उसके एक भागको भी शतधा विभक्त करनेपर जितना वह सूक्ष्म होता है उतना ही सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय जीव है। परन्तु वही जीव अपने स्वरूपकी ओर जितना अग्रसर होता जाता है उतनी ही उसकी अनन्त सत्ता विकसित होने लगती है। यही आत्माके उपाधिसमन्वित तथा उपाधि-निर्मुक्त भावोंके अनुसार दोनों परिमाणोंका वर्णन है।

आत्मा स्त्री, पुरुष या नपुंसक किसी लिङ्गसे युक्त नहीं है। जिस-जिस प्रकारके शरीरके साथ उसका संयोग होता है, उसी उपाधिके सम्बन्धसे आत्माका स्त्री, पुरुष आदि औपाधिक भेदनिर्देश किया जाता है।

यही परिमाणरहित अतिदुर्ज्ञेय परम सूक्ष्म जीवात्माके अणु तथा महत्परिमाणके निर्देशका गूढ़ रहस्य है।

जीवके स्वरूपके विषयमें अवच्छिन्नवाद और प्रतिविम्बवादके सिद्धान्तके अनुसार मतभेदका रहस्य और इन दोनों मतोंके अवस्थाभेदके अनुसार सामञ्जस्य बतलाया गया। अब न्यायादिदर्शनकारोंने निज-निज ज्ञानभूमियोंके अनुसार जीवके स्वरूपका किस-किस प्रकारसे वर्णन किया है, वह संक्षेपसे बतलाया जाता है। जब पूर्वोक्त वर्णनोंके अनुसार यह सिद्ध हो चुका कि प्रकृतिका आवरण ही जीव और ब्रह्ममें पार्थक्यविधानका कारण है, तब जिस दर्शनभूमिमें प्राकृतिक आवरणका जितना प्राधान्य वर्णित रहेगा उसमें जीव और ब्रह्मका भेद भी उतना ही बलवान् रहेगा और प्राकृतिक गुणोंका उतना ही अभिनिवेश जीवात्मापर समझा जायगा, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। यही कारण है कि निम्न भूमिके दर्शनोंमें ब्रह्मके साथ जीवकी इतनी पृथक्ता बतलाई गई है और प्रकृतिके अन्तःकरणावच्छिन्न अनेक गुण तथा धर्मोंका सम्बन्ध जीवात्माके साथ बतलाया गया है।

दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि प्रथम और द्वितीय ज्ञानभूमिके दर्शनोंमें—न्याय और वैशेषिकमें—प्रकृतिका आवरण जीवात्मापर अत्यधिक होनेसे उन दर्शनोंमें आत्मा अन्तःकरणके समस्त धर्मोंके साथ युक्त किया गया है। जैसे न्यायदर्शनमें—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्। (न्या० द० १।१।१०)

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये सब आत्माके लिङ्ग हैं। इसी तरह वैशेषिक दर्शनमें भी लिखा है—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराःसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि॥ (वै० द० ३।२।४)

प्राण और अपानक्रिया, निमेष और उन्मेषक्रिया, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर-विकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न—ये सब आत्माके लिङ्ग हैं। इन सब

लक्षणों द्वारा यही बात स्पष्ट होती है कि प्रथम और द्वितीय ज्ञानभूमिमें जीवात्मापर प्रकृतिका विशेष आवरण रहनेसे प्राकृतिक अन्तःकरण आदि उपाधियोंके साथ आत्माका अनन्य सम्बन्ध रहता है, इसलिए सुख, दुःखादि अन्तःकरणधर्मोंके साथ आत्माका चिर अभिनिवेश रहनेके कारण ये सब गुण जीवात्माके लिङ्गरूपसे बतलाये गये हैं। इसके ऊपरके दोनों दर्शनोंमें अर्थात् योगदर्शन और सांख्यदर्शनमें निज-निज ज्ञानभूमियोंके अनुसार जीवकी अवस्था जिस-जिस प्रकारसे दिखलाई पड़ती है उसके अनुसार स्वरूपकी ओर अधिकतर लक्ष्य होनेके कारण प्रकृतिका आवरण जीवात्मापरसे बहुत ही घट जाता है, ऐसा बतलाया गया है, इसलिए उन दोनों दर्शनोंमें पुरुषको असङ्ग और नित्य, शुद्ध, मुक्त बतलाकर अनादि अविद्याहेतु पुरुषका ही प्रकृतिके साथ औपचारिक सम्बन्धयुक्त कर्तृत्वभोक्तृत्वमय अवस्थाविशेष जीवभाव कहा गया है और विवेक द्वारा उसी औपचारिक सम्बन्धके हटते ही पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित होकर अपने नित्य ज्ञानमय मुक्तभावको समझ जाता है, ऐसा निर्णय किया गया है। जैसे योगदर्शनमें—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः। (योगदर्शन २।२३)
तस्य हेतुरविद्या। (योगदर्शन २।२४)
तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। (योगदर्शन २।२५)
विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। (योगदर्शन २।२६)

प्रकृति और पुरुषका कर्तृभोक्तृभावरूप जो सम्बन्ध है, वही बन्धनका कारण है। पुरुष प्रकृतिसे इस प्रकार संयुक्त होकर प्रकृतिको पहिचान कर अपने स्वरूपको उपलब्ध कर लेता है। प्रकृति और पुरुषके संयोगका कारण अविद्या है, अतः अविद्याके अभावसे संयोगका अभाव होनेपर पुरुषको कैवल्य प्राप्त होता है। भ्रमज्ञानशून्य विवेकके द्वारा ही अविद्याका नाश होता है। इसी तरह सांख्यदर्शनमें भी लिखा है—

असङ्गोऽयं पुरुष इति। (सां० सू० १।५)
निःसङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात्। (सां० सू० ६।२७)
जपास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः। (सां० सू० ६।२८)
उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात् चित्सान्निध्यात्। (सां० सू० १।१६४)
नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत्। (सां० सू० १।५६)

पुरुष स्वभावतः सङ्गरहित है; परन्तु निःसङ्ग होनेपर भी अनादि अविवेकके कारण प्रकृतिके साथ पुरुषका उपराग—सम्बन्ध—हो जाता है। यह उपराग तात्विक नहीं है, केवल प्रकृतिकी सन्निधि-से होनेवाला वा जपास्फटिककी नाईं आभिमानिक सम्बन्धमात्र है। इसी प्रकार आभिमानिक सम्बन्ध प्रकृतिके साथ होनेसे ही पुरुष अपनेको कर्ता तथा भोक्ता मानता है, यही पुरुषका आभिमानिक जीवभाव है। प्रकाशके आगमनसे

जिस तरह अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार नियतकारणरूप विवेकका उदय होनेसे प्रकृतिके साथ पुरुषका यह आभिमानिक बन्धनसम्बन्ध भी उच्छिन्न हो जाता है। और उसी समय पुरुष अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूपको उपलब्ध-कर लेता है। इस प्रकार उन्नततर ज्ञानभूमिके अनुसार योग और सांख्यदर्शनने पुरुषका प्रकृतिके साथ आभिमानिक बन्धनसम्बन्धमात्र मानकर जीवात्माका लक्षण किया है। इस तरहका आभिमानिक सम्बन्ध जबतक रहता है तबतक जीवका प्रकृतिके साथ कर्तृत्वभोक्तृत्वका कितना भाव है, इसके लिए सांख्यदर्शनमें दो सूत्र दिये गये हैं। जैसे—

विशेषकार्येष्वपि जीवानाम्। (सां० सू० १।९७)
विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात्। (६।६३ सां० सू०)

प्रकृतिके साथ अहंकारसम्बन्धयुक्त पुरुष ही जीवभावको प्राप्त होकर व्यष्टि-सम्बन्धसे विशेष-विशेष कार्यका कर्ता और भोक्ता बनता है। अहंकारविशिष्ट पुरुषका यह जीवत्वसम्बन्ध अन्वय और व्यतिरेकसे सिद्ध होता है; इस प्रकारसे नित्यमुक्त कूटस्थ परमात्मा अर्थात् पुरुषके साथ अविद्यावशवर्ती जीवका औपाधिक भेद बतलाया गया है। इसके ऊपर कर्ममीमांसादर्शनकी भूमि अर्थात् पञ्चम ज्ञानभूमिमें पहुँच कर साधकको कार्य और कारणके सम्बन्धसे जीव और ब्रह्मकी एकता प्रतीत होने लगती है। जिसके लिए *कर्ममीमांसादर्शनमें सूत्र हैं—

'सच्चिदेकं तत्
भेदप्रतीतिरौपाधिकत्वात्।'
'कार्यकारणाभ्यामभिन्ने' 'कार्यब्रह्मनिर्देशस्तत्सम्बन्धात्॥'

कारणब्रह्म सत्, चित् और एकरूप है, उसके साथ कार्यब्रह्म और तदन्तर्गत जीवकी भिन्नताकी प्रतीति केवल उपाधिभेदसे ही होती है। कार्यब्रह्म और कारणब्रह्म एक ही हैं और कारण ब्रह्मका रूप होनेसे ही संसारको कार्यब्रह्म कहते हैं। साधक जबतक कार्यब्रह्ममें बद्ध रहते हैं तबतक उनमें उपाधिजनित भेदभावका भान बना रहता है। परन्तु कार्यब्रह्मको कारणब्रह्मका रूप ही समझ कर कर्मयोगका

* 'कर्ममीमांसा' अभी भारतधर्ममहामण्डलसे प्रकाशित हुई है, उसके रचयिता महर्षि भरद्वाज कहे गये हैं परन्तु महर्षि भरद्वाज निर्मित इस ग्रन्थका किसी भाष्य, वृत्ति आदि निबन्धोंमें उल्लेख न रहना बड़ा आश्चर्यजनक है, इसलिए प्रतीत होता है कि उक्त रचना महर्षि भरद्वाज की नहीं है, प्रत्युत किसी आधुनिक विद्वान्‌की कृति है। हमारे विद्वान् लेखकने इसको प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है, लेकिन हम इसकी प्रामाणिकताके विषयमें सन्दिहान हैं। हमने लेखकके गौरवसे यह लेख छाप दिया है, भविष्यमें आधुनिक ग्रन्थोंके आधारपर लिखे गये लेखोंको अच्युतमें स्थान नहीं दिया जायगा—सम्पादक।

अनुष्ठान करनेसे जैसे जैसे साधककी वासनात्यागपूर्वक कारणब्रह्मकी ओर गति होती है वैसे वैसे उसको यह उपलब्ध होने लगता है कि कार्यब्रह्मके साथ कारणब्रह्मका कोई भी भेद नहीं है और जगत् वास्तवमें ब्रह्म ही है इसलिए जीव भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार कर्म्ममीमांसाकी पञ्चम ज्ञानभूमिमें जीव और ब्रह्मकी स्वरूपतः एकता और कार्यब्रह्मदशामें औपाधिक भेद माना गया है। केवल कर्ममीमांसाकी ज्ञानभूमिमें कार्यब्रह्मके साथ सम्बन्ध अधिक रहनेके कारण कारणब्रह्मसे उसकी अभिन्नता उपलब्ध होनेपर भी कार्य-ब्रह्मकी अस्तित्वानुभूति निरस्त नहीं होती है, इसलिए जीव इस भूमिमें ब्रह्मके साथ अपनी पृथक् सत्ता रखता हुआ ही स्वरूपतः अभिन्नताको उपलब्ध करता है। इसके ऊपर षष्ठ ज्ञानभूमि अर्थात् दैवीमीमांसाकी ज्ञानभूमि है, इसमें चित् और जड़के सम्बन्धसे जीवभावकी उत्पत्ति और सम्बन्धका अभाव कर देनेसे जीवकी मुक्ति बतलाई गई है जैसे—

'चिज्जड़ग्रन्थिर्जीवः' 'तद्भेदनादुभयविमुक्तिः।'

चित् और जड़की ग्रन्थिके द्वारा जीवभावकी उत्पत्ति होती है और ग्रन्थिके भेदन द्वारा चित् और जड़ दोनोंकी मुक्ति होती है, इस दर्शनमें भी जड़ प्रकृतिके साथ चित्का सम्बन्ध औपाधिक माना गया है और उसी प्रकृतिसम्बन्धसे जनित उपाधिके नाशसे चित्की मुक्ति मानी गई है, अतः दैवीमीमांसादर्शनकी ज्ञान-भूमिके अनुसार जीव और ब्रह्मकी अभिन्नता और केवल औपाधिक भेदमात्र सिद्ध होता है; जैसे दैवीमीमांसादर्शनमें—

'स एक एव कार्यकारणत्वात्'
'तदैक्यं नानात्वैकत्वोपाधि-
हानादादित्यवत्' (भ० मी० द० ३।९३)
'तदभिन्नमाराध्यम् कृत्स्नम्' ॥

कार्य और कारण रूपसे ब्रह्म एक ही है। जिस प्रकार सूर्य जलोपाधिके सम्बन्धसे नानारूपमें प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें एक ही है, उसी प्रकार अविद्यो-पाधिके सम्बन्धसे विविध जीवरूपमें प्रतीत होनेपर भी ब्रह्म एक और अद्वितीय ही है, सर्वभूतमें ब्रह्मको अद्वितीयभावमें जानकर साधकको उपासना करनी चाहिए, इस तरह साधकमें अद्वितीयताका बोध दैवीमीमांसादर्शनके अनुसार समर्पण बुद्धि द्वारा उत्पन्न होता है। यथा—

'मुक्तिः समर्पणात्, समर्पणमपि त्रिधा—ममैवासौ इति प्रथमः'
तस्यैवाहं इति द्वितीयः, स एवाऽहमिति तृतीयः।

श्रीभगवान्में सर्वकर्मसमर्पण द्वारा जीव मुक्तिलाभ करता है, यह बात गीतामें श्रीभगवान्ने श्रीमुखसे कही है—

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥'

हे अर्जुन, तुम जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो, दान करते हो या तपस्या करते हो, वह सभी मेरे अर्पण करो, इस प्रकार मुझमें सर्वकर्मसमर्पण द्वारा कर्मजनित शुभाशुभ फलोंसे मुक्त हो जाओगे और आत्माको संन्यास-योगमें युक्त करके मुक्त होकर मुझे ही प्राप्त करोगे। मन्मना, मद्भक्त और मद्याजी होकर मुझे प्रणाम करो; जिससे आत्माको मत्परायण करके मुझे ही प्राप्त करोगे। इस तरह समर्पण तीन तरहसे होता है। पहिली अवस्थामें साधक यह समझता है कि भगवान् मेरे हैं, इसमें जो कुछ अहंकारका लवलेश रहता है, वह द्वितीय अवस्थामें नष्ट हो जाता है। उस द्वितीय अवस्थामें साधक यह समझने लगता है कि मैं ही भगवान्का हूँ, तदनन्तर अन्तिम अवस्थामें साधक अपनेमें और भगवान्में अभेदभावको उपलब्ध करके कहता है—मैं ही वह हूँ, यहींतक दैवी-मीमांसाकी ज्ञानभूमि है, अतः यह बात सिद्ध हुई कि दैवीमीमांसादर्शनकी ज्ञान-भूमिके अनुसार जीव और ब्रह्मका भेद औपाधिक है, तात्त्विक नहीं है। और समर्पण द्वारा अविद्याजनित जीवाभिमानके नष्ट होनेपर जीव ब्रह्मके साथ अपनी अभिन्नताको उपलब्ध कर सकता है। परन्तु यह ज्ञानभूमि षष्ठ अर्थात् चरमसे पहली होनेके कारण इसमें जीव और ब्रह्मकी अभिन्नसत्ताके उपलब्ध होनेपर भी इस प्रकार अभिन्नतावोध जैवसत्ताके अस्तित्वको रख कर ही होता है अर्थात् साधक अपनी पृथक् स्थितिका विचार रखता हुआ अपनेसे ब्रह्मकी अभिन्नताका अनुभव करता रहता है; इसलिए दैवीमीमांसादर्शनमें समर्पण द्वारा अन्तिम अनुभव 'स एवाहम्' कह कर 'सः' और 'अहम्' दोनोंकी स्थितिका आभास और साथ ही साथ दोनोंकी एकताका भी परिचय प्रदान किया है, यही षष्ठ ज्ञानभूमिका वास्तविक अनुभव है। इसके उपरान्त सप्तम ज्ञानभूमि वेदान्तदर्शनकी है। वह सबसे अन्तिम है, अतः उसमें अन्यान्य भूमियोंका सामञ्जस्य है, इसीलिए वेदान्तदर्शनमें प्रतिबिम्बवाद और अवच्छिन्नवाद दोनों का ही रहस्य प्रकट किया गया है। प्रतिबिम्बवादके द्वारा जीवात्माकी व्यावहारिक दशागत सत्ताको

परिस्फुट करके वेदान्तदर्शनने अवच्छिन्नवादके अवलम्बनसे जीवात्माकी स्वरूप-दशाकी ओर लक्ष्य किया है, अतः प्रतिबिम्बवादमें अन्यान्य दार्शनिक भूमियोंका बहुधा समावेश किया गया है और अवच्छिन्नवादमें मीमांसादर्शनत्रय भूमियोंका सिद्धान्त स्पष्ट किया गया है। इन दोनों वादोंके विषयमें पहले ही बहुत कुछ कहा गया है। पूर्वमीमांसा और दैवीमीमांसा दर्शनमें जीव ब्रह्मकी अभिन्नता प्रतिपादित होनेपर भी कार्यब्रह्मके अस्तित्वके हेतु जीवत्वकी पृथक् स्थितिका जो कुछ आभास रह गया था, वह सब अन्तिम भूमिमें—वेदान्तदर्शनकी भूमिमें—सम्पूर्ण रूपसे तिरोहित हो जाता है। उस समय जीव समुद्रजलमें सैन्धवकी तरह परब्रह्मभावमें तल्लीन होकर अपनी पृथक् सत्ताके भानमात्रको भी खो देता है। यही यथार्थमें जीवब्रह्मकी एकतारूप स्वरूपदशा है, जिसका भूरि-भूरि वर्णन समस्त वेद और वेदान्तशास्त्रमें मिलता है। अनादिकालसे परिणामिनी प्रकृतिके विशालचक्रमें सुखदुःखमोहात्मक त्रिगुणविकार द्वारा विकृत स्वभाव होकर जीवकी जो अनन्त अशान्तिमय तथा अनन्त चाञ्चल्यमय जीवनधारा है, वह धारा सच्चिदानन्द महोदधिके अनादि अनन्त अपार गर्भमें विलीन होकर आत्यन्तिक शान्ति और आनन्दकी अधिकारिणी हो जाती है, यही जीवकी जीवत्वविलय-कारिणी मुक्तिदशा है, जहाँपर समस्त पुरुषार्थ, समस्त साधना और समस्त ज्ञानकी समाप्ति होती है। जन्म जन्मान्तरके परम पुण्यविपाकसे इसी अनिर्वचनीय पदवीको प्राप्त करके जीव अनायास संसारसिन्धु सन्तरण कर ब्रह्मीभूत हो सकते हैं, यही जीवभाव और शिवभावका दुर्विज्ञेय रहस्य है।



विद्या और अविद्याका कुछ परिचय

(लेखक—म० म० पं० श्रीमाधवशास्त्रीजी भाण्डारी)

यो नर्तयत्यखिलविश्वमिदं च मायां
देवः कटाक्षकुटिलीकृतसर्वतन्त्रः।
नेत्राञ्चलेन परिपोषितसर्वभावः
तस्याहमस्मि, स ममास्ति, तदीयमेतत् ॥ १ ॥

सुहृद्वर तथा विद्वद्वर 'अच्युत'के पाठकोंकी सेवामें चतुर्थ वर्षके प्रथम अङ्कमें 'भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीका सर्वमान्य अद्वैतसिद्धान्त' शीर्षक एक लेख प्रस्तुत किया था, उसमें अद्वैतसिद्धान्तके आधारभूत चार स्तम्भ दिखलाये गये थे। उनमेंसे प्रथममें 'अविद्या जन्ममरणकी मूल मानी गई थी, दूसरेमें भूत, भौतिक आदि सारा संसार मायानिष्पन्न माना गया था, तीसरेमें कारणके साथ कार्यकी अनन्यता मानी गई थी और चौथेमें तत्त्वज्ञानसे अविद्यानिवृत्तिपूर्वक अपवर्गकी प्राप्ति कही गई थी। ये चारों सिद्धान्त सांख्य, पातञ्जल, नैयायिक आदि दार्शनिकोंके सम्मत हैं, अतः सामान्यरूपसे इनकी सर्वमान्यता दिखलाई थी। अब प्रकृत लेखमें उन्हीं चार सिद्धान्तोंमें से अविद्या और माया (विद्या) इन दो पदार्थोंका कुछ परिचय कराना अभिप्रेत है।

यद्यपि अविद्या और माया—इन दोनोंका स्वरूप शास्त्रव्यासङ्गी लोगोंको भली भाँति ज्ञात और परिचित है, अतः उनके विवेचनसे पाठकोंकी दृष्टिमें पिष्टपेषण या चर्वितचर्वण न्यायका उपस्थित होना स्वाभाविक है, तथापि अविद्याका भिन्न-भिन्न प्रकारसे जितना परिचय बढ़ेगा, उतना ही उसका तिरस्कार होकर हृदयस्थित अविद्याबन्धन शिथिल होगा। अधिक शिथिल होनेसे ही उसका नाश होगा, अन्यथा नहीं; अतः हम यथाशक्ति ऐसे प्रकारसे माया और अविद्याका विवेचन करनेकी चेष्टा करेंगे, जिससे कि हमारे रसिक पाठकोंको पिष्टपेषण तो मालूम न पड़े और अविद्याग्रन्थिके शिथिलीकरणका रास्ता भी विशद होता जाय। इस उद्देश्यसे यह विवेचन आवश्यक होगा।

दूसरी बात यह है कि

'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥'

इत्यादि वचनोंसे जो भगवत्पदवाच्य विवक्षित है, चाहे वह परमेश्वर हो, महर्षि हो, पण्डितप्रवर हो या साधु-महात्मा हो, परन्तु वह यदि विद्या और अविद्याको

समकक्ततया जानता हो, तभी उसको भगवान कह सकते हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे विद्याको सर्वाङ्गतया जानना अत्यावश्यक है, वैसे ही अविद्याको भी सर्वाङ्गतया जानना अत्यावश्यक है। उनमें यह तो अन्तर अवश्य ही है कि अविद्याका ज्ञान परिहारके लिए है और विद्याका ज्ञान कुछ देर तक उपादानके लिए है। यद्यपि अन्तमें अविद्याके समान विद्याको भी छोड़ना ही पड़ता है, तथापि विद्या और अविद्याको पूर्णरूपसे जानना यह भगवत्पदवाच्य बननेका एक मुख्य अंश है।

तीसरी बात यह है कि 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' इत्यादि श्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि सत्ता, चैतन्य और आनन्द—इनसे सदा परिपूर्ण जो कारण ब्रह्म है, उससे उत्पन्न होनेवाला संसार भी अवश्य पूर्ण ही होना चाहिए, क्योंकि कारणके ही गुण कार्यमें आते हैं, यह सामान्य नियम है, अतः इस नियमसे संसार और संसरणशील सारे जीव पूर्ण होने चाहिएँ, अतएव सब जीव अपनेको पूर्ण समझते हैं, कोई भी अपनेको अपूर्ण नहीं समझता। इसीलिए प्रत्येक जीव किसी-न-किसी रूपमें अपनी अखण्ड सत्ताको मानता ही है, किसी-न-किसी रूपमें चिन्तन और संकल्प करता ही रहता है तथा कोई-न-कोई क्रिया करता ही रहता है; अतः जीवकी ज्ञान, इच्छा और यत्न की धारा कभी भी खण्डित नहीं होती है, बल्कि वह अखण्ड रूपसे चलती ही रहती है, अतएव भगवान्‌ने कहा है 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' अर्थात् बौद्धिक, मानस अथवा कायिक कोई-न-कोई जीवकी क्रिया अखण्ड रूपसे चलती ही रहती है, इसीलिए इन कार्योंमें व्यापृत रहनेसे जीव अपनेको पूर्ण समझता है। परन्तु उसकी यह पूर्णता भगवान्‌की तरह केवल विद्या, केवल सत्यसंकल्प और केवल धर्मानुष्ठानसे व्याप्त नहीं रहती, किन्तु उसकी ज्ञानक्रिया विद्या और अविद्यासे भरी रहती है, मननक्रिया सत्संकल्प और असत्संकल्प—इन दोनोंसे भरी रहती है तथा उसका यत्न और अनुष्ठान धर्म और अधर्मोंसे भरा रहता है, इसलिए उक्त प्रकारके गुण दोषोंसे युक्त, हेय और उपादेय दोनोंसे मिश्रित और विद्या और अविद्या दोनोंसे निष्पन्न वह पूर्णता हमें अपेक्षित नहीं हो सकती, हमें तो केवल गुणोंसे भरी हुई, उपादेय भागसे ही बनी हुई और विद्यासे ही परीक्षित (प्रमाणित) पूर्णता ही अपेक्षित है, इसलिए हमें विद्या और अविद्या दोनोंको जानना अत्यावश्यक है।

चौथी बात यह है कि जैसे सगुण ईश्वरकी प्रवृत्ति गुणोंके वशसे द्विविध अर्थात् सृष्टिके उन्मुख और प्रलयके उन्मुख होती रहती है, वैसे ही जीवमात्रकी प्रवृत्ति सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके कारण द्विविध अर्थात् अन्तर्मुख और बहिर्मुख होती रहती है। किं बहुना, जीवात्माका अविनाभावी सचिव जो प्राण वायु है, उसकी भी प्रतिशरीरमें अन्तर्मुख और बहिर्मुख गति बार-बार होती ही रहती है,

जिसका हम लोग श्वास और प्रश्वास शब्दसे उल्लेख करते हैं। शास्त्रकारोंका कहना है कि जब वह प्राण वायु बाहरसे भीतरकी ओर आता है, तब 'सोऽहम्' कहता है, अर्थात् इस प्रकार उसकी ध्वनि होती है। और जब वह भीतरसे बाहर निकलता है तब 'हंसः' ऐसी ध्वनि निकलती है। इसीके अनुसार इस प्राण वायुका अविनाभावी जो जीवात्मा है, उसकी जब अन्तर्मुख वृत्ति होती है, तब इसको 'सोऽहम्' याने मैं ब्रह्म हूँ, यह ज्ञान होता है और जब उसकी बहिर्मुख वृत्ति होती है, तब 'हंसः' याने मैं वह हूँ, अर्थात् लौकिक तत्पदार्थभूत जो परिच्छिन्न, जड़ और परोक्ष वस्तु है वही मैं हूँ, यह ज्ञान होता है (लौकिक जड़ अनात्म पदार्थमें स्वतः अपरोक्षता कभी नहीं हो सकती, आत्मभानके पीछे ही उसका भान हो सकता है, अतः वह लौकिक तत्पदार्थ जो अनात्मा, जड़ और नित्य परोक्ष है, वही मैं हूँ, ऐसा बहिर्मुख वृत्तिमें प्रत्येकका अनुभव है)। इस प्रकार अन्तर्मुख और बहिर्मुख ऐसी दो वृत्तिवाले जीवात्मामें विद्या और अविद्या—इन दोनोंका रहना अपरिहार्य है, इसलिए दोनोंको जानना अत्यावश्यक है।

पाँचवी बात यह है कि चातुर्वर्ण्यको लक्ष्य करके वेदमें जितने नित्य नैमित्तिक अथवा काम्य यज्ञ-यागादि कहे गये हैं, तथा पञ्च महायज्ञ, षोडश संस्कार आदि कहे गये हैं या धर्मशास्त्रोंमें दानात्मक, व्रतात्मक अथवा यात्रात्मक जो प्रायश्चित्त कहे गये हैं, वे सब बहिर्मुखवृत्तिवाले अधिकारियोंको लेकर ही कहे गये हैं। यद्यपि इन्हींका निष्काम अनुष्ठान करानेसे धीरे-धीरे चित्तशुद्धि और अन्तर्मुखवृत्तिका संपादन कराना ही वेद और शास्त्रोंका लक्ष्य है, तथापि जिस दशामें इन वेदशास्त्रोंके विधि-निषेधका अधिकारी कोई मनुष्य होता है, वह अधिकारसंपादकदशा बहिर्मुखतारूप अधिष्ठानपर ही आरूढ़ है, अतएव भगवान् पूज्यपाद श्रीशंकराचार्यजीने ब्रह्मसूत्रके अध्यासभाष्यमें कहा है कि 'अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि, शास्त्राणि च'। 'प्राक् च तथाभूतात्मविज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते।' तथाहि—'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राणि आत्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादि-विशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते। अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम।' इस प्रकार वैदिक व्यवहारमें भी किसी-न-किसी अंशमें प्रतिक्षण अविद्याकी शरणमें हमें जाना ही पड़ता है। ऐसी अवस्थामें उसका जानना कितना आवश्यक है।

छठी बात यह है कि जब हम इस प्रकार आचार्य श्रीभगवत्पूज्यपाद द्वारा प्रदर्शित रीतिसे सम्पूर्ण वैदिक यज्ञ-यागादिको और विधि-निषेधोंको अविद्यामूलक ही समझेंगे, तब तो ईशावास्योपनिषत्में 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इत्यादि मन्त्रोंके भाष्यमें आचार्यजीने 'अविद्याशब्दसे अविद्यामूलक वेदोक्त कर्मकाण्ड लेना चाहिए, ऐसा जो व्याख्यान किया है, उसको हम युक्तियुक्त समझ कर 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ' इस

मन्त्रमें विद्या और अविद्याका सहचार तथा इन दोनोंके ज्ञानकी आवश्यकता कैसी है, इसके रहस्य तक पहुँचेंगे, अन्यथा नहीं। इस प्रकार विचार करनेसे यद्यपि अविद्याकी व्याप्ति कितनी दूर तक है और वह कैसी अपरिहार्य है, यह प्रतीत होता है, तथापि अविद्याको अविद्यारूपमें पहचान लेनेसे ही उसका जोर नष्ट होता है, इससे ही अविद्याग्रन्थि ढीली होती है, यह सकल दार्शनिकोंका सिद्धान्त है, इसीलिए सब दार्शनिकोंने अर्थात् नैयायिक, सांख्य, पातञ्जल आदिने अपने-अपने दर्शनोंमें अविद्याको संसारका मूल बतलाया है और अविद्याका स्वरूप तथा प्रपञ्च हेयरूपमें वर्णित किया है।

सातवीं बात यह है कि प्रत्येक प्राणीको श्रेयस् और प्रेयस् याने कल्याणकर और प्रियकर दोनों बातें अभीष्ट रहती हैं, किं बहुना! प्राणी प्रियकर बातोंको पहले सोचता है और कल्याणकर बातोंको पीछे, क्योंकि प्रियकर बातोंमें चित्ताकर्पकता और रागोत्पादक शक्ति अधिक रहती है, इसलिए आपाततः (प्रथम दर्शनमात्रमें) उसका असर जल्दी होता है और कल्याणकर बातोंकी ओर अत्यन्त विचार करने और निर्विकार चित्त होनेपर ही प्रवृत्ति होती है। प्रियकर बातोंका स्रोत अविद्यासे ही चलता है और श्रेयस्कर बातोंका स्रोत विद्यासे चलता है, इसलिए अविद्या और अविद्याप्रपञ्चका स्थान प्रथम और अयत्न-सिद्ध है और विद्या तथा विद्याप्रपञ्चका स्थान पश्चात्तन तथा यत्नसाध्य है।

इसमें लौकिक दृष्टान्त हम इस प्रकार दे सकते हैं कि जितने ये राजा, महाराज अथवा धनी महाजन होते हैं, उनका सन्तानवर्ग अवश्य दो स्त्रियोंसे संवर्धित होता है याने एक स्त्री जो कि उनकी धर्मपत्नी होती है, वह सन्तानको जन्म देकर कृतकृत्य हो जाती है। दूसरी जो धात्री याने उपमाता होती है, वह बालकोंका दूध पिलाना, खिलाना, वेप, भापा, भूपण आदिसे संवर्धन पोषण और रञ्जन करती रहती है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि बालक प्रत्यक्ष जन्मदात्री मातामें उतनी आत्मीयता नहीं रखता, जितनी कि उपमातामें और उपमाता हीको अपना सर्वस्व समझता है, क्योंकि सन्तानका लालन-पालन सब उसी उपमाताके अधीन रहता है। ठीक उसी प्रकार परमेश्वरकी निजशक्ति जो माया है, वह इस जगत्को जन्म देकर कृतकृत्य होकर अपने स्वामीमात्रके भोगसम्पादनमें तत्पर हो जाती है और अपनी सन्तान जो जीव-वर्ग है, उसको धात्रीस्थानीय अविद्याके अधीन करके उसीपर जीववर्गके लालन-पालन आदिका भार सौंप देती है, इसलिए जीववर्ग अविद्याको निःशङ्कभावसे जितनी आत्मीय समझता है, विद्यारूप मायाको, जो कि वास्तवमें जन्मदात्री है, उतनी आत्मीय नहीं समझता, इसलिए अविद्यामें उपमातृत्वका ज्ञान कराना याने वास्तवमें वह हमारी जन्मदात्री और कल्याणकारिणी नहीं है, ऐसा समझाना और

मायामें जन्मदात्रीत्व और श्रेयस्कर्त्रीत्व का ज्ञान कराना, यह अत्यन्त यत्नसाध्य है और आवश्यक भी है।

इसलिए—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'
'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्।'
'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।'

इत्यादि प्रमाणोंके मनन द्वारा भगवती महामाया सर्वविद्यामूलभूता ही जगत्को साक्षात् जननी है, यह ज्ञात होता है। तथा ऐसी कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुं समर्थ सर्वैश्वर्यशालिनी माताके उदरसे उत्पन्न होनेवाले जीवरूपी सन्तानको ऐश्वर्यके लिए अन्यत्र खोज करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवद्रूप परम पिताके ऐश्वर्यपर उसका जन्मसिद्ध अधिकार है इत्यादि निश्चित ज्ञान—यत्नसे, तपोबलसे तथा यम, नियमादिसे चित्तको निर्विकार करनेसे—प्राप्त होता है, अतः विद्या और अविद्या दोनोंकी मर्यादाको पहचानना अत्यावश्यक सिद्ध हुआ।

अस्तु यहाँ तक विद्या और अविद्याके ज्ञानकी आवश्यकता दिखलाई। अब अविद्याके स्वरूपका थोड़ासा परिचय करावेंगे। यद्यपि वास्तवमें अविद्याका कोई नाम ही नहीं है, उसकी उत्पत्ति नहीं है और उसकी कोई स्वतन्त्र कारणसामग्री नहीं है एवं ईशसृष्टिमें उसका कोई ईक्षण याने निर्माणका संकल्प भी नहीं है, तथापि अविद्या और उसके प्रपञ्चका वेद, शास्त्र आदिमें डिण्डिम घोप किया जाता है, इसलिए उसका परिचय कराना एक आश्चर्य है याने मजेदार कारीगरी है। उसको क्रमशः देखिए—

पहले उसका कोई नाम नहीं है, यह जो कहा, उसका मतलब यह है कि विद्याशब्दके पीछे एक 'नञ्' याने निषेधार्थक या अल्पार्थक 'अ' शब्द लगा देनेसे ही हम अविद्याका उल्लेख कर सकते हैं, दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतः शब्दमर्यादासे यह निष्कर्ष निकला कि अपूर्ण विद्या या अल्प विद्या, संदिग्ध विद्या अथवा विपरीत विद्या को ही हम अविद्या कहते हैं, अर्थात् विद्यामें ही न्यूनता, सन्देह या वैपरीत्य होनेसे उसको अविद्या कहते हैं, अतः विद्याके वाचकशब्दसे ही अविद्या कही जाती है। अविद्याका खास कोई नाम नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

दूसरी बात उसकी उत्पत्ति नहीं है, यह जो कहा, उसका तात्पर्य यह है कि विद्या ऐसी नित्य चीज है, जिसको शास्त्रकारोंने 'नित्य संवित्', 'अखण्ड ज्ञान' इत्यादि शब्दोंसे कहा है, उस विद्यामें करणदोषसे और रजोगुण, तमोगुणके सहकारसे थोड़ा भी मोह याने आवरण पड़नेसे तत्-तत् अंशमें अभान अथवा अनिश्चित भान या विपरीत निश्चित भान इत्यादि तात्कालिक दोष या विकार उत्पन्न हो जाते

हैं, वे ही विकार विद्यामें विशेषणीभूत होते हैं और इस प्रकार अभान, संदिग्ध-भान इत्यादि विशेषणविशिष्ट अवान्तर विद्याके रूपको जब नित्य संवित्त दिखलाती है, तब हम उसको अविद्या कहते हैं। अब सोचिए कि वास्तवमें जो सन्देह, वैपरीत्यादि विकार हैं, वे भी विशेषणीभूत होकर जिस नित्य भासमान विद्याके बलसे भासते हैं, कभी वे अभासमान नहीं रह सकते, ऐसे नित्य विद्यारूप दीपके प्रकाशमान रहते हुए अविद्यारूप अन्धकारकी उत्पत्ति होगी, यह कालत्रयमें क्या कभी हो सकता है ? विद्वान् ही इस बातका अनुभव कर सकते हैं ?

तीसरी बात जो कि उसकी कोई स्वतन्त्र कारणसामग्री नहीं है, ऐसा कहा उसका मतलब यह है कि विद्यावृत्ति जिस सामग्रीसे होती है, उससे पृथक् अविद्याकी कोई सामग्री नहीं है। जैसे आत्मा (बुद्धि) मनसे संयुक्त होता है, मन इन्द्रियसे और इन्द्रिय विषयसे संनिकृष्ट होता है, तब घट, पट आदि विषयोंका निश्चय ज्ञान होता है, इसलिए शास्त्रकारोंने प्रत्येक क्रियासिद्धिमें 'जानाति, इच्छति, यतते' ये तीनों बातें आवश्यकरूपसे कारणसामग्रीमें अन्तर्भुक्त होती हैं, यह कहा है। उनमें 'जानाति' यह अंश बुद्धिरूप करणके अधीन है, 'इच्छति' यह अंश मनोरूपकरणके अधीन है और 'यतते' यह अंश ज्ञानेन्द्रियके अधीन है। अन्तमें कर्मेन्द्रियसे चेष्टा होकर कार्यसिद्धि होती है। अब यहाँपर बुद्धि, मन, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय सब करण होनेसे तत्तत्करणोंके अवान्तर व्यापारमें तमोगुणके कारण असावधानी होनेपर न्यूनता या विपरीतता हो सकती है, उसका परिणाम यह होता है कि अन्तिम फलस्थानीय ज्ञान या कोई भी क्रिया अभीष्टरूपको प्राप्त न होकर अनिष्टरूपको धारण कर लेती है और फलमें वैपरीत्य हो जाता है। एवं च वही कारण सामग्री होनेपर भी असावधानीसे योजनामें भेद होनेमात्रसे फलमें अत्यन्त अन्तर पड़ जाता है, उसीको हम अविद्या और अविद्याप्रपञ्च कहते हैं, अतः अविद्याकी स्वतन्त्र कोई कारणसामग्री नहीं है, किन्तु ज्ञान, संकल्प या यत्नमें वैपरीत्यमात्रसे विद्या ही अविद्या बनती है, यह बात सिद्ध हुई।

इसी प्रकार ईशसृष्टिमें अविद्याके लिए कोई ईक्षण नहीं, यह जो चतुर्थ बात कही, उसका भी तात्पर्य यह है कि, सर्वोत्कृष्ट और निर्मल सत्त्वगुण उपाधि होनेसे भगवान्में तमोगुण प्रयुक्त आवरण और तत्प्रयुक्त असावधानता—इन दोनोंका जब सर्वथा सम्भव ही नहीं है, तब वहाँ अविद्याका संस्कार ही कहाँसे होगा ? संस्कार ही जब नहीं है, तब 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इस न्यायसे ईक्षण भी अविद्याका कहाँ से होगा, इसलिए यह अविद्या वास्तवमें अनाम, अरूप अतएव तुच्छ है। वास्तवमें विद्या ही में तमोगुणके कारण मलिनता आ जानेसे विद्या ही अविद्या कहलाती है। इसीलिए विद्या और अविद्या—इन दोनोंके मूलमें एक

होनेपर भी परिणाममें बड़ा भेद है, तथा अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता रूपसे दोनोंका रास्ता भी अलग है, संसार और अपवर्ग रूपसे दोनोंका फल भी भिन्न है, तथापि श्रीमदाचार्यजीके कथनानुसार पूर्वोक्त रीतिसे वर्णाश्रमधर्ममें तथा यज्ञयागादिमें किसी अंशमें अविद्याका अंगीकार अपरिहार्य है, जैसे कि धात्रीमें (उपमातामें) मातृत्व होनेपर भी पोषणके लिए मातृत्वका आरोप अवश्य करना ही पड़ता है, अस्तु अतः दोनोंको जानना अत्यावश्यक है।

विद्याका स्वरूप

मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्।

इत्यादि रूपसे भगवान् महेश्वरकी जो नित्यशक्तिरूप माया है, जो कि नित्य भासमान होनेसे नित्य संवित् कही जाती है, उसीके रजोगुणके क्षोभसे सारा संसार बन जाता है, तथा तमोगुणके क्षोभसे कतिपय संसारका लय हो जाता है वही 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्था' ऐसी भगवच्छक्ति विद्यापदवाच्य है, जो पुराणोंमें

'महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः।
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी॥' मार्क० पु०

इत्यादिरूपसे वर्णित है। वह महाविद्या होनेके कारण नित्य भासमान है, महामाया होनेसे कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ है, महामेधा कहनेसे सर्वविध अनन्त संस्कारोंकी खनिभूत है, महास्मृति होनेसे तत्तत्संस्कार द्वारा सर्वविध ईक्षण कर सकती है और महामोहा कहनेसे उसके ऐश्वर्यमें भूलनेसे असावधानी उत्पन्न करनेकी उसमें शक्ति दिखलाई। इस प्रकार यह क्रीडापरायण तथा भयको भी दिखलानेवाली होनेसे यही विद्या अविद्या भी हो सकती है। विद्याका अविद्यारूपमें परिणाम होनेके लिए मोह ही द्वार है, अतः मोहसे सावधान रहनेके लिए अविद्याके सब अधिष्ठानोंको (याने मन, बुद्धि आदि करणोंको) परिशुद्ध करना चाहिये, नहीं तो यह किसीको छोड़ेगी नहीं, जैसा कि पुराणमें कहा है—

तया त्वमेष वैश्यश्च तथैवाऽन्ये विवेकिनः।
मोह्यन्ते, मोहिताश्चैव मोहमेष्यन्ति चापरे॥ मार्क० पु०

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कीर्तयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ १॥



अद्वैत-दर्शन

[ले०—पं० श्रीअमृतलालजी शास्त्री, वेदान्त-व्याकरण-तीर्थ, पेटलाद]

पूर्व लेखमें दृश्य-प्रपञ्चका मिथ्यात्व बतलाया गया है। उसी विषयका इस लेख द्वारा विशेषरूपसे प्रतिपादन किया जाता है। भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजी 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस शास्त्रारम्भके समर्थक सूत्र द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारसे संसारनिवृत्तिपूर्वक परमानन्दस्वरूपस्थितिलक्षण मोक्षप्राप्तिरूप फलको सूचित करते हैं। इससे बन्ध ज्ञाननिवर्त्य है यह बात स्पष्ट होती है और सत्य वस्तुकी कदापि ज्ञानसे निवृत्ति नहीं हो सकती है; आरोपित की ही ज्ञानसे निवृत्ति होती है। एतावता यह सिद्ध हुआ कि कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि संसार कल्पित है। इस सूत्रमें स्पष्ट शब्दोंसे इस बातका उल्लेख न होनेपर भी उक्त रीतिसे यह सूचित अवश्य होता है। 'सूत्रं बह्वर्थसूचनात्' इस निरुक्तिके अनुसार सूत्रमें संक्षेपसे सूचनारूपसे ही पदार्थ कहे जाते हैं। यही अर्थ श्रीमद्भागवतमें—

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत्सदिवाऽवभाति॥

(स्कं० १०, अ० १४, श्लो० २२)

इस श्लोक द्वारा श्रीव्यासजीने विशदरूपसे इसका प्रतिपादन किया है। ऐसे अनेक श्लोक श्रीमद्भागवतमें और विष्णुपुराण आदिमें हैं, जो कि जगत्के मिथ्यात्व और अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वके प्रतिपादक हैं।

भेदवादी वैष्णवमतके आचार्यगण और श्रीमद्भागवतको 'समाधिभाषा व्यासस्य' भगवान् व्यासकी समाधि भाषा माननेवाले पुष्टिमार्गीय आचार्य भी श्रीमद्भागवतके इन स्पष्टार्थक पद्योंकी उपेक्षा करते हैं, यह एक बड़ा खेदका विषय है, अस्तु।

अब यतीन्द्र श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने अद्वैतसिद्धिमें प्रपञ्चमिथ्यात्वका जो प्रतिपादन किया है उसका कुछ दिग्दर्शन कराते हैं—

उन्होंने 'विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्' इस अनुमानप्रयोग द्वारा दृश्यत्व, जड़त्व और परिच्छिन्नत्वरूप हेतुसे प्रपञ्चमें मिथ्यात्व सिद्ध किया है। यहाँ मिथ्याशब्द, 'मिथ्या शब्दोऽनिर्वचनीयतावचनः' इस पञ्चपादिकाके वचनके अनुसार त्रिकालाबाध्यसे विलक्षण होकर किसी भी अधिकरणमें सत्त्वेन प्रतीयमानरूप (विद्यमानतारूपसे प्रतीतयमान) अर्थमें

है। यदि वह परमार्थ सत् माना जाय, तो उसका कभी बाध न होना चाहिये। शशशृङ्ग आदि के समान अत्यन्त तुच्छ—अलीक—माननेपर उसकी प्रतीति ही न होनी चाहिये। प्रपञ्च तो ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर बाधित हो जाता है और प्रतीत भी होता है, इसलिए उपर्युक्त अर्थ ही उपपन्न है अर्थात् परमार्थ सत् भी नहीं और अत्यन्त तुच्छ भी नहीं, यही मिथ्याशब्दका अर्थ है। अद्वैतसिद्धिमें व्युत्पत्तिवैशद्यके लिए मिथ्यात्वका पाँच प्रकारसे निर्वचन किया है। फलितार्थ सबका एक ही है। मिथ्यात्वको भी उक्त अनुमानसे मिथ्या ही कहना होगा तब प्रपञ्च सत्य भी हो जायगा ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि मिथ्यात्वके मिथ्यात्व होनेपर भी प्रपञ्चका सत्यत्व नहीं बनता है। जिस स्थलमें मिथ्यात्वावच्छेदक धर्म उभयवृत्ति न हो उसी स्थलमें विरुद्ध दो धर्मोंसे एकका मिथ्यात्व होनेपर दूसरेका सत्यत्व सिद्ध होता है। जैसे "शुक्तौ रजतं नास्ति" सीपमें चाँदी नहीं है; यहाँ निषेध्यतावच्छेदक धर्म रजतत्व है तद्विरुद्ध धर्म रजतत्वाभावका निषेध करनेमें निषेध्यतावच्छेक रजतत्वाभावत्व है। इस तरह भिन्न-भिन्न धर्म निषेध्यतावच्छेदक हैं। इसलिए रजतत्वका निषेध करनेसे वहाँ रजतत्वाभाव सत्य होता है। प्रकृतमें तो दृश्यत्व रूप एक ही धर्म प्रपञ्चमें और मिथ्यात्वमें निषेध्यतावच्छेद है। इसलिए मिथ्यात्वका मिथ्यात्व होनेपर भी प्रपञ्चका सत्यत्व सिद्ध नहीं होता।

ज्ञानके साथ ज्ञेयके किसी भी सम्बन्धका निरूपण नहीं हो सकता है, इससे दृश्यका मिथ्यात्व सिद्ध होता है। ज्ञानका ज्ञेयके साथ संयोग नहीं कह सकते हैं, क्योंकि द्रव्योंका ही परस्पर संयोग होता है। ज्ञानमें समवायिकारणत्व या गुणक्रियाश्रयत्वरूप द्रव्यलक्षण नहीं है, अतः ज्ञानको द्रव्यरूप नहीं कह सकते हैं। यदि कथंचित् ज्ञानस्वरूप आत्मा द्रव्य माना जाय, तो वर्तमानकालमें भूत-भविष्यत् पदार्थोंके साथ संयोग न होनेसे ऐसे विषयोंके ज्ञानकी, जो प्रसिद्ध है, अनुपपत्ति होगी। समवायसम्बन्धका ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थोंमें खण्डन किया गया है। तुष्यतु दुर्जनन्यायेन समवायके अभ्युपगममें भी ज्ञान और विषयका सम्बन्ध समवाय सर्वथा अनुपपन्न है। तन्तुओंमें पटकी तरह विषयोंमें ज्ञान समवायसे नहीं रहता है, यह बात निर्विवाद है। दृग्-दृश्यका सम्बन्ध विषयविषयिभाव है ऐसा भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि—सम्बन्ध द्विष्ठ ही होता है जैसा कि संयोग। विषयत्व विषयोंमें ही रहता है और विषयित्व ज्ञानमें ही रहनेवाला धर्म है। इसलिए प्रत्येकमें रहनेवाले पृथक्-पृथक् धर्मोंको सम्बन्धरूप कहना उचित नहीं है। और विषयिशब्दका अर्थ 'विषयोऽस्यास्तीति विषयः' इस व्युत्पत्तिसे विषयसम्बन्धी होता है। विषयका ज्ञानके साथ सम्बन्ध सिद्ध होनेके पूर्व विषयित्व ही असिद्ध है। अतः विषय-विषयिभाव वाङ्मात्र है। विषयत्व भी किंस्वरूप है? ज्ञानजन्यफलाधारत्वम् अर्थात् ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले फलका आधारपना है,

अथवा ज्ञानजन्यहानादिबुद्धिगोचरत्वम् अर्थात् ज्ञानसे जन्य जो हानोपादान बुद्धि तद्विषयत्व है इत्यादि निर्वचन। प्राकट्यापरपर्याय ज्ञानता नामक फलके नैयायिकादि संमत न होने और अतीतादि विषयमें उसका सम्भव न होनेसे, तथा हानोपादानादि बुद्धिका आकाशादिमें अभाव होनेसे—अयुक्त हैं। एवं अन्य निर्वचनोंका भी श्रीमधुसूदनसरस्वतीजीने विस्तृतरूपसे खण्डन किया है। अतः विषयत्व दुर्निरूप है। परिशेषात् ज्ञान और ज्ञेयका आध्यासिक सम्बन्ध ही मानना उचित है और आध्यासिक सम्बन्धमें एक सम्बन्धीका मिथ्यात्व अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। उसमें घट, पट आदि दृश्य विषय, परप्रकाश्य होनेसे, दोषबलसे मरुदेशस्थ सूर्यकिरणोंमें मृगतृष्णा जलके तुल्य मिथ्या ही प्रतीत होते हैं। जैसे मृगतृष्णा जलका अभावज्ञानरूप बाध उत्तरकालमें होता है वैसे ही दृश्य प्रपञ्चका भी अधिष्ठानभूत ब्रह्मतत्त्वके साक्षात्कारसे बाध होता है और "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुतिरूप शब्दप्रमाणसे भी दृश्यका बाध होता है। अतः दृश्यवर्ग मिथ्या है। आत्मा स्वयंप्रकाश है। उसका किसीसे बाध नहीं हो सकता है। अतः परमार्थ सत्य है यही निर्णय समुचित है। जो वादी आत्माके तुल्य दृश्य प्रपञ्चकी भी वास्तविक सत्ता सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं और आत्मामें अनेक दृश्य गुणोंकी कल्पना करते हैं उनकी बुद्धि प्राकृत है। वे लोग प्रकृतिसे परतत्त्वको प्रकृतिकी सीमामें लानेका यत्न करते हैं। उनका वह यत्न सर्वथा निष्फल है।

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे 'घटः सन्, पटः सन्' 'घटो भाति, पटो भाति' 'घटः प्रियः, पटः प्रियः, ऐसी जो प्रतीति होती है वह सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्मके साथ ऐक्याध्याससे ही होती है। घट इत्याकारक नाम और कम्बुग्रीवादिमत्त्व आकार अविद्यापरिणाम नामरूपके सम्बन्धसे ही व्यवहृत होते हैं। यही सिद्धान्त—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

इस अभियुक्त वचनमें स्पष्ट किया है।

(क्रमशः)



मानव-जीवनका लक्ष्य

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्त भारद्वाज एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री, वेदान्त-विशार्णव, साहित्यालङ्कार)

ब्रह्म-साक्षात्कार समस्त कर्म एवं सर्वविध उपासनाका लक्ष्य है। एवं ब्रह्मात्मैक्य ही जीवनका चरम ध्येय है। जबतक यह अनुभूत नहीं होता, तबतक जीव आत्यन्तिक सुख और शान्तिका अनुभव नहीं कर सकता। ब्रह्मात्मैक्यानुभव ही लोकमें स्थायी आनन्दकी प्राप्ति है तथा जीवके क्रमिक विकासका अन्त इसी दशामें है।

जबतक जीवको यह विश्वास है कि 'मैं शरीर हूँ' तबतक वह दुःखके गम्भीर पारावारके पार नहीं जा सकता। परन्तु जब वह इस तत्त्वका निदिध्यासन कर लेता है कि मैं ही सर्वात्मा हूँ, तब वह आनन्दमें स्थितिका लाभ करता है।

जीवनमें कर्म और उपासनाका जो महत्त्व है, वह शास्त्रवेत्ताओंसे तिरोहित नहीं है, किन्तु यह महत्त्व आपेक्षिक अवश्य है। महत्त्वकी काष्ठा-प्राप्ति कर्म और उपासनामें न होकर विशुद्ध आत्म-ज्ञानमें ही है। ज्ञानकी अवस्था प्राप्य पदार्थ है, किन्तु कर्म और उपासना उसकी प्राप्तिमें उपायभूत हैं।

भगवान् शङ्कराचार्यजी वैदिक कर्मकाण्डके पुनरुज्जीवक तथा उपासनामार्गके पुनःसंस्थापक थे। उनका अपना जीवन विविध सत्कर्म और भक्तिके भव्य भावोंसे सदैव पूर्ण रहा। उन्होंने अपने उपनिषदादि सद्ग्रन्थोंके भाष्यमें कहीं भी इन दोनों का (कर्म और उपासनाका) तिरस्कार नहीं किया, प्रत्युत अधिकारि-भेदके अनुसार सदैव यथास्थान उनका मण्डन ही किया। वे वर्णाश्रमधर्मके कभी प्रतिकूल नहीं रहे। ब्रह्मसूत्रके अपशूद्राधिकरणपर उनके भाष्यका

'वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्'।

यह अन्तिम वाक्य भाष्यपाठियोंके कर्ण-कुहरमें गुञ्जित रहता है। मूर्त्तिपूजाके वे समर्थक थे ही, जैसा कि वेदान्तके प्रथम अध्यायके द्वितीय चरणके सप्तम सूत्रपर किये गये व्याख्यानके अन्तर्गत एक वाक्य—

'यथा शालग्रामे हरिः'

—से विदित होता है। इसी प्रकार १।२।१४ वें सूत्रके भाष्यमें भी लिखा है कि

'शालग्राम इव विष्णोः'।

ऐसे वाक्य उनके उपासना-विषयक सिद्धान्तके प्रतिनिधिस्वरूप हैं।

यह सब कुछ होते हुए भी आचार्य श्रीशङ्करजीका मत पारमार्थिक अवस्थामें उपासनापरक नहीं है। वे कर्म और उपासनाको व्यावहारिक सत्ताकी बात कहते हैं। नानाविध यज्ञोंके अनुष्ठानसे जिस भाँति स्वर्गादि लोककी प्राप्ति हो सकती है, उसी भाँति, वे कहते हैं सगुणोपासना द्वारा भी जीवकी एक विशेष उन्नति हो सकती है। यहाँतक कि वह ईश्वर-सायुज्यका भी लाभ कर सकता है, किन्तु जिस प्रकार स्वर्गलोककी अवाप्ति अविद्याचक्रके अन्तर्गत ही है, उसी प्रकार ईश्वर-सायुज्यका लाभ भी अविद्याके अन्तर्गत ही है। आचार्यचरणने ब्रह्मसूत्र (४।४।१७) के भाष्यमें असन्दिग्ध वचनोंमें लिखा है कि 'सगुणविद्याविपाकावस्थानं त्वेतत् स्वर्गादिवद्वस्थान्तरम् यत्रैतदैश्वर्य्यमुपवर्ण्यते'।

सगुणके उपासक कितने ही उन्नत क्यों न हो जाँय, वे निर्विशेष दशाका लाभ करनेसे पूर्व अवश्यमेव अविद्याग्रस्त हैं। जब ब्रह्मका सगुण रूप अविद्याप्रयुक्त है, तब उस रूपकी उपासनाके अनुरागी अविद्यासे परेकी स्थितिमें प्रतिष्ठित नहीं हो सकते। पूज्य आचार्य्यके शब्दोंमें इस वादको देखिये, जिसका कि उन्होंने ब्रह्मसूत्र (४।४।१९) भाष्यमें उल्लेख किया है :—

'न च तन्निर्व्विकारं रूपमितरालम्बनाः प्राप्नुवन्तीति शक्यं वक्तुमतत्क्रतुत्वात्तेषाम्। अतश्च द्विरूपे परमेश्वरे यथैव निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुण एवाऽवतिष्ठन्ते...'

सगुणरूप अविद्यासे प्रयुक्त है, इसमें श्रीशङ्कराचार्य्यजीके ही वाक्य कितने स्पष्ट हैं, उन्हें देखिये—

'यत्राऽविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम्, तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद् विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते तदपरम्' अपर ब्रह्म शब्दान्तरमें सगुण ब्रह्म किं वा ईश्वर कहा जाता है। उक्त वचन ब्रह्मसूत्र (४।२।१४) के भाष्यसे उद्धृत हैं, जहाँ आगे यह भी बतलाया गया है कि सगुणोपासककी अविद्या निवृत्त नहीं हुई है—

'तस्य चाऽपरब्रह्मोपासनस्य सन्निधौ श्रूयमाणं स यदि पितृलोककामो भवतीत्यादि जगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति, अनिवर्त्तितत्वादविद्यायाः'

यहाँपर मैं समझता हूँ, यह चर्चा अप्रासङ्गिक नहीं होगी कि अर्वाचीन वेदान्तग्रन्थोंमें जिस प्रकार माया और अविद्यामें अन्तर मानकर उनको क्रमशः ईश्वर और जीवकी उपाधि माना गया है, उस प्रकार शाङ्करभाष्यमें अन्तर नहीं रक्खा गया है। वहाँ दोनों शब्द एक दूसरेके स्थानपर प्रयुक्त हुए हैं।

सगुणोपासना अपने प्रभावसे जीवको ब्रह्मलोकमें ले जा सकती है, किन्तु मोक्ष-प्राप्ति तो उसे तभी होगी, जब कि वह तल्लोकाध्यक्ष देवके साथ सम्यग्दर्शनसे निरस्तनिखिलप्रपञ्च हो जायगा। इस विषयमें (४।४।२२) वें

ब्रह्मसूत्रपर भाष्य द्रष्टव्य है। जहाँ कहा गया है कि 'सम्यग्दर्शनविध्वस्ततमसां तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धैवाऽनावृत्तिः। तदाश्रयणेनैव हि सगुणशरणाना-मप्यनावृत्तिसिद्धिः' सगुणोपासनासे लब्ध ऐश्वर्यका अन्त होनेपर भी ब्रह्मलोकमें ज्ञान-प्राप्ति होनेके कारण सगुणोपासकोंकी अनावृत्तिमें यही रहस्य है।

'अन्तवत्त्वेऽपि त्वैश्वर्यस्य यथाऽनावृत्तिस्तथा वर्णितं कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमित्यत्र।'

भक्तिका—उपासनाका—साम्राज्य सविशेष ही है। वहाँपर ध्याता, ध्यान और ध्येयकी विशेषता बनी रहती है। अतएव वह द्वैतकोटिकी व्यावहारिक सत्ताके ही अन्तर्गत है। यह स्थिति परमपद नहीं है। "न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यद् विजानीयात्' (बृ० ४। ३। ३०) 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' (बृ० ४। ३। ३२) 'तत्केन कं विजानीयात्" (बृ० ४। ५। १५) इत्यादि मन्त्रोंसे प्रतिपादित, विशेष-विज्ञान-शून्य, अनिर्वचनीय किन्तु स्वानुभूत्येकमान सत्ता ही पारमार्थिक है, जिसे पानेके लिए कर्म और उपासना दो परमोत्तम साधन हैं। पारमार्थिक सत्ता ही श्रीविष्णुका परम पद है और व्यावहारिक सत्ता अधम पद है। परम-पद ही कैवल्य, अपवर्ग आदि अनेक नामोंसे शास्त्रोंमें अभिहित है।

श्रुतिमें विशेष-संज्ञाके अभावके सम्बन्धमें कई-एक मन्त्र उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ मन्त्र तो सुषुप्तिसमयमें विशेषविज्ञानका निषेध करनेवाले हैं और कुछ कैवल्यके समयमें। श्रीशङ्कराचार्यजीने 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि' सूत्रपर भाष्य करते हुए स्पष्ट कहा है—

'स्वाप्ययः—सुषुप्तम्, सम्पत्तिः—कैवल्यम्, तयोरन्यतरामवस्थामपेक्ष्यैतद्विशेष-संज्ञाभाववचनम्। क्वचित् सुषुप्तावस्थामपेक्ष्योच्यते—क्वचित् कैवल्यावस्थाम्।'

यह कैवल्यापरपर्य्याय, विशेष-विज्ञान-शून्य, निर्विशेष, मन-वाणीसे परे, अनिर्वचनीय परमपद ही मानवमात्रके लिए शास्त्रनिर्दिष्ट सर्वोच्च लक्ष्य है, जिसकी प्राप्तिके लिए निष्काम-कर्म-पूर्वक उपासना प्रथम सोपान है और श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनके अनन्तर 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य अपरोक्षानुभव अन्तिम सोपान है।



शरद-ऋतु-रामराज्य

(लेखक—पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी साहित्यरत्न)

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने रामराज्यको शरद माना है, यथा—

रामराज सुख विनय बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सोहाई॥

शरदमें दो मास होते हैं—एक आश्विन और दूसरा कार्तिक, इसी भाँति रामराज्यके भी दो विभाग हैं—एक राज्याभिषेक और दूसरा राज्यका सुख, विनय और बड़ाई। आश्विनके प्रथम पक्षमें, जिसे पितृपक्ष कहते हैं, लोग पितरोंकी अक्षय्य तृप्तिके हेतु श्राद्ध करते हैं। यहाँ भी पितृतृप्तिहेतु वनवास-व्रत, जो श्रीरामचन्द्रने चौदहवर्षके लिए धारण किया था, सो पूरा हुआ, और उसके उपलक्ष्यमें भक्तमौलिमणि भरतलालजी तथा प्रजावर्गने, जो व्रत धारण किया था, उसकी भी पूर्णाहुति हुई। भगवान्ने जटायुसे कहा था कि

'सीताहरण तात जनि कहेउ पिता सन जाय।
जो मैं राम तो कुल सहित, कहहिं दसानन आय॥'

उसकी भी सविधि पूर्ति हुई। दशाननने जाकर कहा महाराजको बड़ी तृप्ति हुई, स्वयम् आये।

तेहि अवसर दसरथ तहँ आये। पितहिं बिलोकि नयन जल छाये।
अनुज सहित प्रभु बन्दन कीन्हा। आसिरवाद पिता तब दीन्हा॥
तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीत्यों अजय निसाचरराऊ॥
सुनि सुत-वचन प्रीति अति बाढ़ी। नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी॥
रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितै पितहिं दीन्हेउ दृढ़ ज्ञाना॥

पिताका परलोकसे आगमन हुआ और हर्षित होकर वे सुरधामको गये। पितृपक्ष समाप्त हुआ। अब जगदम्बाके आगमनकी अत्यन्त उत्कण्ठा है। अयोध्यामें धवलागिरिको ले जाते समय हनुमान्जी द्वारा सीताहरणका समाचार आ चुका है। अतः जगदम्बासहित सरकारके लौटनेकी प्रतीक्षा हो रही है। हनुमान्जीने विप्रवेषसे भरतजीके समीप जाकर उन्हें समाचार दिया कि—

'जासु विरह सोचहु दिनराती। जपहु निरन्तर गुन गन पाती॥
रघुकुल-तिलक सुजन-सुख-दाता। आवत कुसल देव-मुनि-त्राता॥

पर भरतजी स्तब्ध रह गये। बुद्धिमतां वरिष्ठ हनुमान्‌जीने सब लख लिया तुरन्त बोले—

रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता अनुज सहित प्रभु आवत॥

फिर क्या था ?

सुनत वचन बिसरे सब दूखा। तृषावन्त जिमि पाइ पियूषा॥

जगदम्बाके आनेका समाचार पाते ही भरतजी निहाल हो गये। समाचार नगरमें पहुँचा, घर घर बधाइयाँ बजने लगीं। भगवतीका सरकारके साथ आगमन हुआ, उस प्रेमानन्दके स्वागतका जैसा वर्णन कविने किया है, उसका आनन्द मूल-ग्रन्थमें उस प्रसङ्गके पढ़नेसे ही मिल सकता है।

अब राज्याभिषेककी तैयारी हुई।

सासुन सादर जानकिहि, मज्जन तुरत कराइ।
दिव्य बसन बर भूषन, अंग-अंग रचे बनाइ॥
राम-बामदिसि सोभित, रमारूप गुन-खानि।
देखि मातु सब हरषीं, जनम सुफल निज जानि॥
सुनु खगेस तेहि अवसर, ब्रह्मा सुर-मुनि-वृन्द।
चढ़ि बिमान आये सब, सुर देखन सुखकन्द॥

सरकारके साथ महामायाका अभिषेक हुआ। गोस्वामीजी भी कहते हैं—

नभ दुन्दुभी बाजहिं बिपुल गंधर्व किन्नर गावहीं।
नाचहिं अपछरावृन्द परमानन्द सुर मुनि पावहीं॥
भरतादि अनुज बिभीषणांगद हनुमदादि समेत जे।
गहे छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते॥
श्रीसहित दिनकरबंस-भूषन कामबहुछबि सोहहीं।
नव अंबुधर बरगात अंबर पीत सुर-मन मोहहीं॥

वह सोभा समाज सुख, कहत न बनै खगेस।
बरनै सारद सेष स्रुति सो रस जानि महेस॥

इस भांति नवरात्रमें जगदम्बाके आगमन और विजयादशमीका उत्सव कहा गया है। तत्पश्चात् रामराज्यके सुख, विनय और बड़ाई का वर्णन है।

पंक न रेनु सोह अस धरनी। नीति-निपुन नृप कै जस करनी॥
जानि शरदऋतु खंजन आए। पाइ समय जनु सुकृत सोहाए॥

चले हरखि तजि नगर नृप, तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरिभगति पाइ श्रम, तजहिं आस्रमी चारि॥

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरिसरन न एकौ बाधा॥
देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई॥

यहाँपर चन्द्रमाका वर्णन करके शरद पूर्णिमा कही। अब दीपावली (दिवाली) आई। नगरमें कायापलट हो गया। सब मकानोंमें तैयारियाँ होने लगीं। दीपावलीसे तमाम शहर जगमगा उठा। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं :—

जातरूप-मनि-खचित अटारी। नाना रंग रुचिर गच ढारी॥
पुर चहुँ पास कोट अतिसुंदर। रचे कँगूरा रंग रंग बर॥
नवग्रह-निकर अनीक बनाई। जनु घेरी अमरावति आई॥
महि बहु रंगरचित गच कांचा। जो बिलोकि मुनिबर मन नाचा॥
धवल धाम ऊपर नभ चुंबत। कलस मनहुँ रवि ससिदुति निंदत॥
बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहिं। गृह-गृह प्रति मनिदीप बिराजहिं॥

मनिदीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहली बिद्रुम रची।
मनिखंभि भीति बिरंचि बिरची कनक मनि मरकत खची॥

इत्यादि कार्तिक-स्नान, तुलसीपूजन, राधा-दामोदरकी उपासना भी हो रही है। यथा—

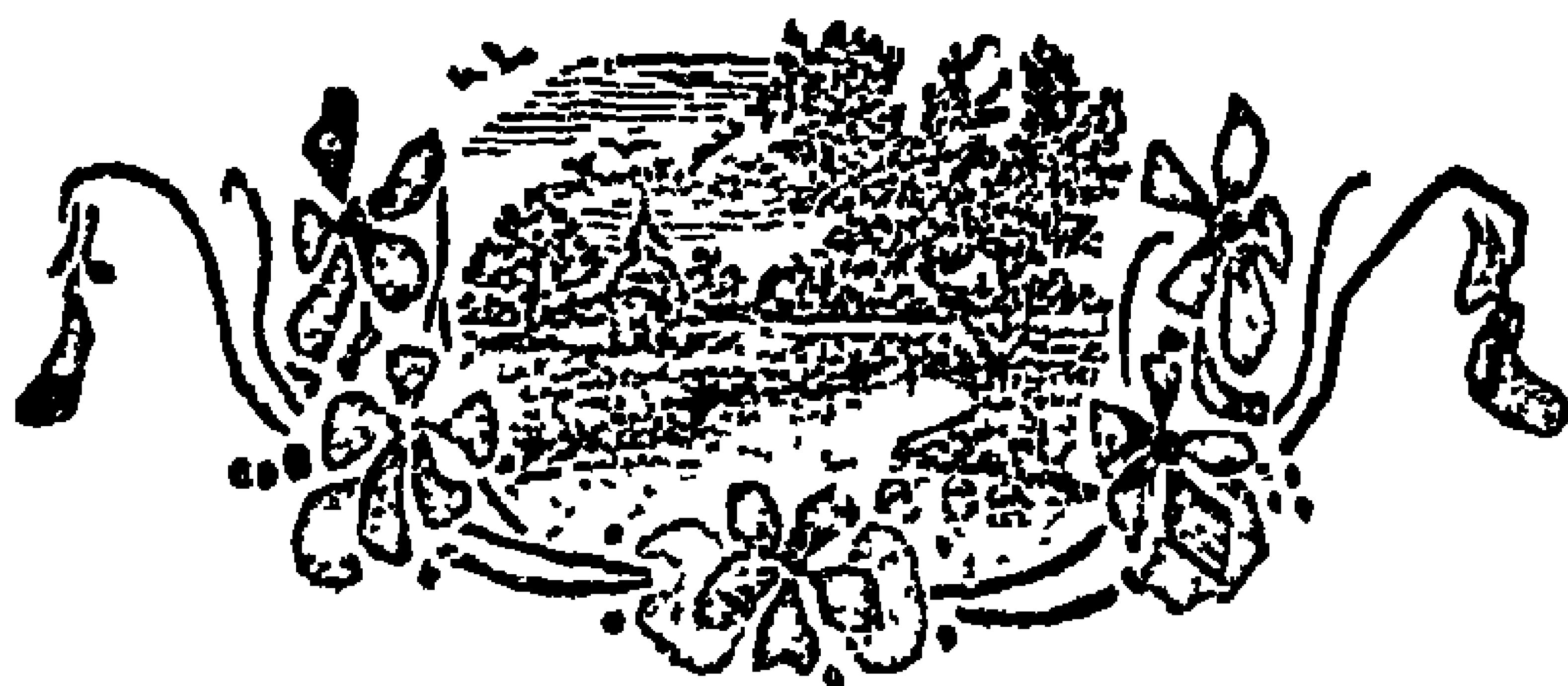
पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं असनाना॥
राजघाट सब ही बिधि सुंदर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर॥
तीर तीर देवन्हके मंदिर। चहुँ दिसि तिनके उपवन सुंदर॥
तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई॥

रमानाथ जहँ राजा, सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक सुख संपदा, रही अवध सब छाइ॥

जँह तहँ नर रघुपति गुन गावहिं । बैठि परस्पर इहै सिखावहिं ॥
जनकसुता समेत रघुवीरहिं । कस न भजहु भंजन भव-भीरहिं ॥

इस भाँति श्रीरामचरितमें रामराज्यकी समता शरदसे दी गई है । रामचरितकी समाप्ति रामराज्यसे मानी गई है, और वर्षकी समाप्ति शरदसे प्राचीन समयसे मानी गई है । वैदिक साहित्यमें वर्षके स्थानमें शरत् शब्दका ही प्रयोग होता है । सम्भवतः रामराज्यको शरदसे उपमित करनेका यह भी एक कारण हो सकता है

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



राजसिंहासनाधिरोहण

प्रभु विलोकि मुनिमन अनुरागा।
तुरत दिव्य सिंहासन मांगा॥
रविसम तेज वरनि नहिं जाई।
वैठे राम द्विजन सिर नाई॥
जनकसुता समेत रघुराई।
पेखि प्रहर्षे मुनि समुदाई॥
वेदमन्त्र तव द्विजन उचारे।
नभ सुर-मुनि जयजयति पुकारे॥
प्रथम तिलक वसिष्ठ मुनि कीन्हा।
पुनि सव विप्रन आयसु दीन्हा॥
सुत विलोकि हरषी महतारी।
वार-वार आरती उतारी॥
विप्रन दान विविध विधि दीन्हे।
याचक सकल अचायक कीन्हे॥
सिंहासन पर त्रिभुवन साईं।
देखि सुरन दुंदुभी वजाईं॥

—*गोस्वामी तुलसीदासजी*।

विनय

करहु हरि निज चरननको चेरो।
भ्रमत-भ्रमत हार्यो वहुजोनिन अव तो करहु निवेरो॥
करि तुम दया दियो नरतन जो भववारिधि कहुँ वेरो॥
हौं मूरख तेहि पसुसम खोयो भूल अनुग्रह तेरो॥
अपराधी हौं क्षमायोग्य नहिं पै तुम निज दिसि हेरो॥
अवकी और निभाय लेहु प्रभु भूलि दोष सव मेरो॥
भवजलनिधि वूड़त राखहु हरि भयो विलम्व घनेरो॥
'दास हरी' पै हो सदय अव दयादृष्टि निज फेरो॥

—'दास हरि'

तितिक्षा

(लेखक—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

अरे भाई मन ! मूढ मत बन, मेरी बात कान देकर सुन, पीछे सम्यक् रीतिसे गुण, यह सब जो कुछ दिखाई दे रहा है, मरुभूमिके जलके समान मिथ्या है। जो दिखाई देता है, वह मिथ्या ही हुआ करता है, स्वप्नका उसमें दृष्टान्त है। जैसे दृश्य होनेसे स्वप्नके पदार्थ असत् होते हैं, वैसे ही दृश्य होनेसे जाग्रत्के पदार्थ भी असत् ही हैं। इनमें किंचित् भी सार नहीं है, केलेके वृक्षके समान निस्सार हैं। जब ये मिथ्या, काल्पनिक और निस्सार हैं, तब तू इनको देख कर क्यों लोभमें आ जाता है, क्यों इनको लेनेके लिए दौड़ता है एवं इनका लाभ न होनेसे क्यों खिन्न होता है ? सर्वदा प्रसन्न रहा कर, स्वप्नमें भी खिन्न मत हो। जब ये मिथ्या ही हैं, तब इनकी प्राप्तिके लिए दौड़-धूप करनेसे तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? इनके न मिलनेसे तेरी हानि ही क्या है ? इनके पानेसे तेरा कोई लाभ नहीं है। इनके न पानेसे तेरी गाँठमें से कुछ चला भी नहीं जाता। ऐसी दशामें तेरा हर्ष करना और शोक करना व्यर्थ ही है। जब इन सब दृश्य पदार्थोंका परमार्थरूपसे अस्तित्व ही नहीं है, तब फिर किसीको प्यार करना और किसीसे रार करना तेरी मूर्खता ही है। सूत न पौनी, फिर भी लट्ठम लट्ठा, यही कहावत तेरे विषयमें सार्थक होती है। मत किसीसे लड़ और मत किसीसे डर। सुखमें, दुःखमें, शीतमें एवं उष्णमें सम रहा कर, यही श्रेयका मार्ग है, प्रेय भी इसीसे सिद्ध होता है, इसीका नाम तितिक्षा है। यह तितिक्षा ही श्रेयकारिणी और भयहारिणी है। इसीका अवलम्बन कर, इसीकी शरणमें जा। निश्चय तेरा श्रेय होगा।

भाई मंसाराम ! यह बात मैं तुझे प्रतिदिन, प्रतिघड़ी, प्रतिक्षण समझाता हूँ, परन्तु तू समझता ही नहीं है। कुत्तेकी पूँछ बारह वर्ष दबाकर रक्खी, फिर भी टेढ़ीकी-टेढ़ी ही निकली। यही तेरा हाल है। समझाते समझाते मैं थक गया, पर तू टससे-मस नहीं हुआ। चार दहाई चालीसका हो गया, फिर भी अभी तू पाँच वर्षका ही बना हुआ है। पाँच वर्षके बच्चेमें काम नहीं रहता, पर तुझमें इतना काम है कि जिसका न तो ओर है और न छोर। केवल काम ही हो, सो नहीं है, तुझमें कामके अतिरिक्त अनेक दोष हैं। कहता

कुछ है और करता कुछ है। कहता है अपनेको योगी, पर है परले सिरेका भोगी, इसीसे सर्वदा रहता है रोगी। कहता है अपनेको आत्माराम, परन्तु है विषयाराम अथवा अनात्माराम। तू अपनेको प्रसिद्ध करता है मुमुक्षु, पर है पूरा बुभुक्षु। कहता है मैं विश्वेश्वरका भजन करता हूँ, पर करता है विश्वका ही भजन, विश्वेश्वरको नहीं भजता। जब तू अमीर हो जाता है, तब ईश्वरको भूल जाता है, अपनेको ही ईश्वर मानने लगता है। जब गरीब हो जाता है, तब दीन दुःखी होकर भगवद्विमुख, नामके दानी, महामानी, ऐश्वर्यमदमें चूर, आकृतिके देव और भीतर कुम्भकर्णके समान क्रूर दैत्योंके सन्मुख जाता है। सुखमें फूल जाता है, दुःखमें सिकुड़ जाता है। गर्मीमें पानीके समान पिघल जाता है, सर्दीमें ओलेके समान ठोस हो जाता है। कभी रोता है, कभी व्यर्थ हंस देता है, कभी अपनेको अन्धा समझता है, कभी नीच समझने लगता है। आज सिर ऊँचा कर लेता है तो कल सिर नीचा कर लेता है। घड़ीमें स्वर्गका राजा, सेठ मालामाल हो जाता है और घड़ीमें निर्धन सबसे अधिक कंगाल हो जाता है। कभी पुत्रके जन्ममें नाचना, गाना कराता है, तो कभी पुत्रके मरणसे छाती पीट-पीट कर रोने लगता है, अरे भाई मनसुख! सम ब्रह्मसे तो तू मिलना चाहता है और रहता सर्वदा विषम है। जब तू विषम रहता है, तब सम परमेश्वरका भजन कहाँ करता है? विषम होना संसारका भजन है और सुख-दुःखमें सम रहना—दोनोंको सहना अर्थात् तितिक्षा ईश्वरका भजन है। यदि श्रेयकी तुझे आकाङ्क्षा है, तो सम होकर सम ब्रह्मका भजन कर।

हे भाई मानचन्द्र! क्या तूने नहीं सुना है? सुना ही है, बारम्बार सुना है कि जनार्दन, मधुसूदन भगवान् अपने भक्तकी परीक्षा लेनेके लिए दुःखको भेजते हैं, दुःखके सहन करनेसे भक्तके पाप क्षीण हो जाते हैं, भक्तकी परीक्षा हो जाती है, भक्तका अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है और आगेके लिए भक्त धीर, वीर, सहनशील, तितिक्षु और दृढ़ हो जाता है, ऐसा जानकर भी तू थोड़ा-सा दुःख सहन नहीं कर सकता। थोड़ेसे दुःखको देखकर अधीर, कायर और पोला बन जाता है। जैसे कच्चा घड़ा पानीकी बूँदको सह नहीं सकता, वह तुरन्त ही गलने लगता है, वैसे ही तू थोड़ेसे दुःखका सहन नहीं कर सकता, चिल्लाने, पुकारने, रोने और भौंकने लगता है। हाय मरा, हाय मरा, अब नहीं बचूँगा, कोई मेरी सहायता करनेवाला नहीं है, ऐसा कहकर पड़ोसियोंको,

इष्ट-मित्रोंको और भाई-बान्धवोंको गालियाँ देता हुआ पृथिवीको सिरपर उठा लेता है, सबको कोसने लगता है। यह नहीं समझता कि सुख-दुःख प्रारब्धके अधीन हैं, शत्रु-मित्र अपने बनाये हुए हैं, सुख और मित्र पुण्यसे मिलते हैं, दुःख और शत्रु पापका फल है। जगन्नाथने इस जगत्को कर्माधीन बनाया है, जो जैसा करता है, वैसा पाता है। न कोई किसीका शत्रु है, न कोई किसीका मित्र है, न कोई किसीको सुख देता है और न कोई किसीको दुःख देता है, अपना किया हुआ ही अपने आगे आता है। जब सब अपना ही किया हुआ है, तब रोनेका, माथा पीटनेका, झींकनेका और दूसरेको दोष लगानेका क्या काम है? परमार्थसे तो न सुख है, न दुःख है, न कोई द्वन्द्व है, एक अद्वितीय सन्मात्र, चिन्मात्र और सुखमात्र परिपूर्ण देव विद्यमान है, इस नित्य देवके सिवा सब आगमापायी होनेसे मिथ्या है। ऐसी परिस्थितिमें उसी एक देवका अनुसन्धान करता हुआ तथा द्वन्द्वोंको भूलता हुआ, सुख-दुःखमें, हानि-लाभमें सम शान्त रहकर, निर्द्वन्द्व और निःशङ्क होकर विचर, धीर-वीर बन।

हे मित्र मन! सच जान, दुःख सहे बिना कोई सुख नहीं पा सकता। जो धीर दुःखसहन करता है और कर सकता है, वही सुख पाता है और पा सकता है। देख, प्रह्लादने कितने दुःख झेले थे। वह मत्त हाथीके सामने डाला गया था, पर्वतसे गिराया गया था, आगमें जलाया गया था इत्यादि अनेक कष्ट पाकर भी जब वह किसी प्रकार भी अपने लक्ष्यसे न हटा, अपने विचारमें दृढ़ रहा, किसीके डिगाये न डिगा, तब नृसिंह भगवान्‌ने दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया और अपना हाथ उसके सिरपर फेरकर सर्वदाके लिए उसे अभय कर दिया। सब इतिहास-पुराण इसमें प्रमाण हैं कि जिसने सुख पाया है, दुःख-सहन करनेसे ही पाया है। जब चिरकाल तक याज्ञवल्क्यने सूर्य भगवान्‌की आराधना की थी, तब सूर्य भगवान्‌ने प्रसन्न होकर उन्हें वेद और वेदतत्त्वका उपदेश दिया था। शिबिने अपने शरीरका मांस कबूतरको दिया था, दधीचिने तो देवताओंके हितके लिए अपने शरीरको ही दे दिया था। हरिश्चन्द्र राजा और मोरध्वज राजा कौन थे? सो तूने सुना ही है। जब अनेक प्रकारके दुःख उन्होंने सहे, तब उन्होंने सत्य परब्रह्मको पाया। जब तू थोड़ा-सा भी दुःख सहन नहीं कर सकता, तो मरणके दुःखको कैसे सहन करेगा? यह मनुष्य-देह और ब्राह्मण-देह तुझे तुच्छ विषयोंके भोगनेके लिए नहीं मिली है, किन्तु कठिन तप करके,

द्वन्द्वोंका सहन कर निर्द्वन्द्व परम पद पानेके लिए मिली है, इसलिए शीतोष्ण, सुख-दुःख, मानापमान, निन्दा-स्तुतिमें सम रह; सम परमात्माका ध्यान करनेसे तुझे ये द्वन्द्व नहीं सतावेंगे और द्वन्द्वसहन करने से तू परमात्माका दर्शन करने योग्य हो जायगा, इसलिए तितिक्षु बन। भाई, कायर मत बन।

भाई मन! यदि तू कहे कि मेरा—मनका—आत्मा तो असङ्ग है और सुखस्वरूप भी है, तब मुझे सुख-दुःख क्यों होता है? तो तेरा यह कहना सोलह आने ठीक है। तेरा आत्मा असङ्ग और सुखस्वरूप ही है, परन्तु तू अपने असङ्ग और सुखस्वरूप आत्माको नहीं जानता। इसीसे तू सुखी और दुःखी होता रहता है, सुखी तो नाममात्रको ही होता है, परमार्थसे तो तू दुःखी ही होता है। यदि तू अपने असङ्ग आत्माको जान ले, तो तुझे स्वप्नमें भी कभी दुःख न हो, किन्तु सर्वदाके लिए तू सुखी हो जावे, क्योंकि वस्तु अन्यथा नहीं होती और न हो सकती है। जो असङ्ग और सुखस्वरूप है, वह असङ्ग और सुखस्वरूप ही रहेगा; संगी और दुःखी कभी नहीं हो सकता। भाई, जब तू कहता है कि मेरा आत्मा असङ्ग और सुखस्वरूप है, तब तू संगी और दुःखी कहांसे हो गया? असङ्ग और सुखस्वरूप ही है, क्योंकि आत्मा स्वरूपको कहते हैं। जब तेरा स्वरूप असङ्ग और सुखस्वरूप है, तब तू भी असङ्ग और सुखस्वरूप ही है, परन्तु तू अपनेको—अपने आत्माको—अर्थात् अपने स्वरूपको नहीं जानता, भूल गया है, इसलिए अपनेको कुछका-कुछ मानता है और दूसरोंके सुख-दुःखको अपने मानता है, इसीलिए सुखी और दुःखी हो रहा है। भाई! मेरी समझ मान—शिक्षा मान; देख, अपने असङ्ग और सुखस्वरूप आत्माका ही अनुसन्धान किया कर यानी मैं असङ्ग और सुखस्वरूप ही हूँ, ऐसा नित्य निरन्तर चिन्तन किया कर, मैं देह हूँ, मैं इन्द्रिय हूँ, मैं प्राण हूँ, मैं मन हूँ, मैं बुद्धि हूँ, अथवा मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, ऐसा स्वप्नमें भी चिन्तन मत किया कर, किन्तु इन सबसे पर मैं असङ्ग, कूटस्थ सुखस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा चिन्तन किया कर, ऐसा करनेसे तू ऐसा ही हो जायगा और कभी दुःखी नहीं होगा।

भाई मन! तू असङ्ग और सुखस्वरूप हो जायगा, यह कहना भी उपचारसे है, वास्तविक नहीं है, क्योंकि तू ऐसा हो क्या जायगा? है ही, पहलेसे ही है, भावीवश भूल गया है, इसलिए अपनेको संसारी—जन्म लेनेवाला

और मरनेवाला मानता है। भाई, देह ही जन्मती है, देह ही मरती है, देह ही आती है और देह ही जाती है। स्थूल शरीर जन्मता-मरता है, सूक्ष्म शरीर आता-जाता है, तू तो न जन्मता है, न मरता है, न आता है और न जाता है। जन्म लेने, मरने, आने और जानेका कारण तेरा अज्ञान है, इस अज्ञानको वेदवेत्ता कारणदेह कहते हैं। तुझमें ये तीनों देह नहीं हैं, इन तीनों देहोंका तू साक्षी है। जैसे घटका साक्षी साक्ष्य घटसे भिन्न होता है, वैसे ही देहका साक्षी तू साक्ष्य देहसे भिन्न है। जब तू स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों देहोंसे भिन्न है, तो तुझमें जन्म-मरण कहाँ ? आना जाना कहाँ और अज्ञान भी कहाँ ? तुझमें अज्ञान नहीं है, फिर भी तूने अपनेमें अथवा आपमें अज्ञान मान रक्खा है, इसीसे तू दूसरोंके स्वरूप और धर्मको अपना स्वरूप और अपना धर्म मानकर दुःखी हो रहा है। अब तू नित्य निरन्तर अपना ही ध्यान किया कर, दूसरोंका—गैरोंका—ध्यान करना छोड़ दे। ऐसा करनेसे सच जान, तू आप ही शेष रह जायगा, क्योंकि तू ही सच्चा है। जितने दूसरे—गैर—हैं, सब भाग जायँगे, क्योंकि वे हैं ही नहीं, तेरे अज्ञानसे कल्पित हुए हैं। जहाँ तेरा अज्ञान दूर हुआ कि कल्पित गैर कर्पूर हो जायँगे। 'असत्का कभी अस्तित्व नहीं होता' इस न्यायके अनुसार अन्यकी सत्ता ही नहीं है, एक तेरे आत्माकी—तेरी—ही सत्ता है, तब दुःख कहाँ है ? दुःखका सहन कर—तितिक्षा कर सब मर्म खुल जायगा। तेरे—तेरे आत्माके—सिवा अन्य कुछ दिखाई ही नहीं देगा।

भाई मन ! उपर्युक्त मेरी मनगढ़न्त नहीं है, किन्तु इसमें भगवान्‌का वचन प्रमाण है, वह यह है—जिस धीर समदुःखसुख पुरुषको ये सुख-दुःख व्यथा नहीं देते, वह अमृतभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है, जो पुरुष बुद्धिको विषयोंके ग्रहण करनेसे रोकता है—बुद्धिसे विषयोंका ग्रहण नहीं करता, उसका नाम धीर है। जो पुरुष दुःख और सुखमें सम रहता है—दुःखसुख दोनोंके प्राप्त होनेपर निर्विकार आत्मस्वरूपसे स्थित रहता है—दुःख-सुख आनेपर स्वरूपसे हटता नहीं है, उसका नाम समदुःखसुख है, अथवा 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' ब्रह्म निर्दोष—दोषसे रहित और सम है, इस न्यायके अनुसार जिसके दुःखसुख समभावको—ब्रह्मभावको प्राप्त हो गये हैं, उसका नाम समदुःखसुख है—जिसकी दृष्टिमें सम ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु है

ही नहीं—एक सम ब्रह्मका ही सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा जो अनुभव करता है, इसलिए जिसकी दृष्टिसे दुःखसुख भी ब्रह्म ही हो गये हैं, उसका नाम समदुःख-सुख है। इसी कारण जिस धीर पुरुषको सुख-दुःख व्यथा नहीं देते—पीड़ित नहीं करते, क्योंकि उसकी दृष्टिमें सुख-दुःख कल्पित होनेसे मिथ्या हैं अथवा हैं ही नहीं, केवल एक ब्रह्म ही है, वह अमृतभावको प्राप्त होने योग्य हो जाता है। जिसको न जाननेसे पुरुषका मरण होता है, उसका नाम अमृत है और यह अमृत ब्रह्म ही है, क्योंकि इसीके अज्ञानसे पुरुषको जन्म-मरणकी प्रतीति होती है अथवा यों कहना चाहिए कि भ्रम होता है, परमार्थसे न जन्म है, न मरण है। वस्तुतः न होते हुए भी जन्म-मरण ब्रह्मके अज्ञानसे पुरुषको अथवा पुरुषमें प्रतीत होते हैं। यदि सुख-दुःख कोई वस्तु ही नहीं है, तो सुख-दुःख पीड़ा दे ही कैसे सकते हैं? नहीं दे सकते, इसलिए सच कहा है कि जिस धीर पुरुषको सुख-दुःख पीड़ा नहीं देते, वह अमृतभावको प्राप्त हो जाता है यानी मुक्त हो जाता है। इसलिए हे मन! तितिक्षु बन, यदि तुझे अपने कल्याणकी इच्छा है, तो सुखदुःख सहन करनेका अभ्यास कर—तितिक्षा कर। सच कहा है—

इन्द्रवज्रा छन्द

योगी तितिक्षा कर सिद्धि पाते।
कर्मी तितिक्षा कर स्वर्ग जाते॥
ज्ञानी तितिक्षा कर मुक्त होते।
जलें मरें ना सुख नींद सोते॥ १॥

जो दुःख आवे सह मित्र! लीजे।
दे शीश लीजे मत हाय कीजे॥
जो दुःख थोड़ा सह ना सकें हैं।
ना राज्य निष्कंटक पा सकें हैं॥ २॥

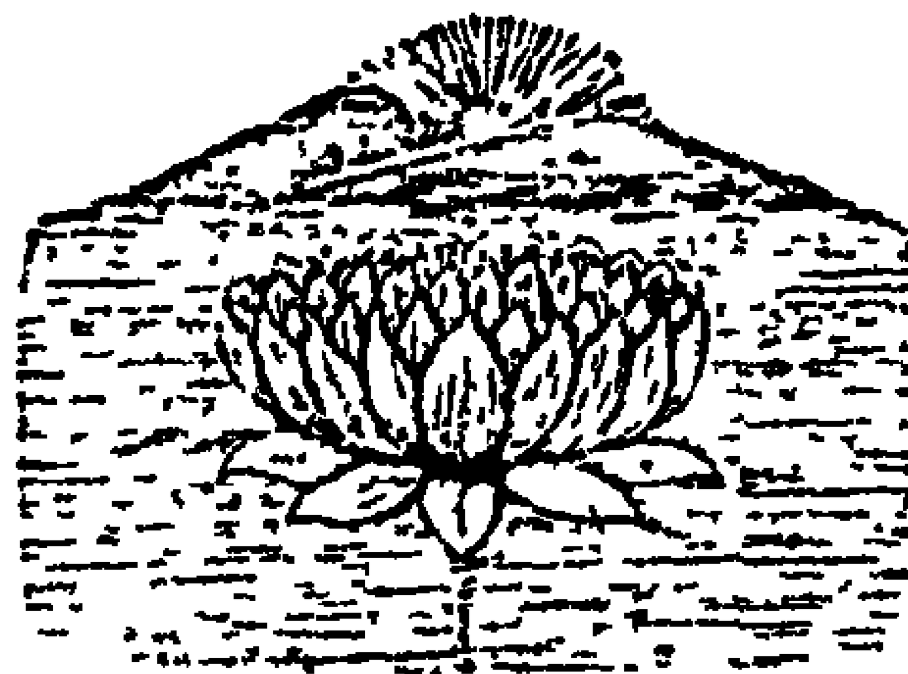
लेने परीक्षा सब दुःख आवे।
पापौघ नाशे दृढ़ भी बनावे॥
जो दुःख प्यारा शिव ना बनाता।
तो तू कभी ना शिव धाम पाता॥ ३॥

वैराग्यका पाठ यही पढ़ाता ।
साम्राज्य कैवल्य यही दिलाता ॥
पापी जनोंके अघ है मिटाता ।
क्या श्रेय क्या प्रेय यही सिखाता ॥ ४ ॥

देहेन्द्रियोंमें बस दुःख आता ।
कूटस्थ आत्मा तक जा न पाता ॥
देहेन्द्रियाँ तू मन भी नहीं है ।
ना दुःख होता तुझमें कभी है ॥ ५ ॥

कूटस्थ हूँ मैं धर ध्यान ऐसा ।
ना देह हूँ मैं तब दुःख कैसा ॥
आत्मानुरागी भय है न पाता ।
ना दुःख ही है उसको सताता ॥ ६ ॥

आत्मानुसंधान करे सदा ही । ना दुःख छूवे उसको कदा ही ॥
ना अन्य भोला ! सब ब्रह्म ही है । चिन्ता तुझे क्या फिर दुःखकी है ॥ ७ ॥



ब्रह्मनिरूपण

(लेखक—पण्डितवर श्रीचण्डीप्रसादजी शुक्ल)

पूर्व लेखमें ब्रह्मजिज्ञासाके स्वरूपका निरूपण किया गया है, अब इस लेखमें संक्षेपसे ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण करेंगे। आजकल व्याप्ति, विशिष्टद्वयाघटितत्व, निर्दिश्यमानत्व, अर्थवत्त्व आदिके निरूपणकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी ब्रह्मतत्त्वके निरूपणकी आवश्यकता है। यद्यपि यह भगवान्‌की कृपा है कि जिन देशोंका—ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदिका—आज कल प्राधान्य है और जिनका अनुकरण दुनियाँ कर रही है, उन देशोंमें आस्तिकोंकी सङ्ख्या अधिक है और नास्तिकोंकी सङ्ख्या नहीं-सी है, इससे भारतमें भी नास्तिक्य प्रचारका भय कम है, तथापि यह विषय उपेक्षणीय नहीं है, इसपर अधिक मीमांसा करनी चाहिए, क्योंकि—

'स्वर्गापवर्गयोर्द्वारमामनन्ति मनीषिणः।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते॥'

इत्यादि रीतिसे परमात्माका चिन्तन स्वर्ग और अपवर्गका द्वार है।

वस्तुके स्वरूपका निरूपण लक्षण और प्रमाणसे होता है। इससे हम पहले स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षण दिखलावेंगे, फिर ब्रह्ममें श्रुति और तदनुकूल अनुमान प्रमाण दिखलावेंगे। सत्, चित् और आनन्द ब्रह्मका स्वरूपलक्षण है, इसमें प्रमाण—'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादि श्रुतियाँ हैं। इस संसारका जन्म स्थिति और लय जिससे होता है, वह ब्रह्म है, यह तटस्थ लक्षण है, इसमें प्रमाण 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्‌ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व' (जिससे यह समस्त जगत् उत्पन्न होता है, उत्पन्न जगत् जिसमें स्थित रहता है और अन्तमें जिसमें लीन हो जाता है, वह ब्रह्म है, उसको जानो), 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्', 'आत्मा वा इदमेकमग्र आसीत ··· स इमान् लोकानसृजत', 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः', 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्··· तत्तेजोऽसृजत', 'तदेतत्सत्यम्', 'यथा सुदीप्तात्पावकात् विस्फुलिङ्गाः ·····तथाक्षरात् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति', 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्, तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' इत्यादि श्रुतियाँ हैं।

प्रश्न—जब 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (सब वेद जिस पदका—गम्य

ब्रह्मका—प्रतिपादन करते हैं) इस श्रुतिके अनुसार परमेश्वरका प्रतिपादन करते हैं, तब परमात्मामें अविश्वास तथा नास्तिक्यका प्रादुर्भाव कैसे हुआ ?

उत्तर—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' (यह आत्मा वेदके प्रवचन, तीक्ष्ण बुद्धि और अनेक शास्त्रके श्रवणसे लभ्य नहीं है, किन्तु जिनपर उनकी कृपा होती है, वे ही उसको प्राप्त कर सकते हैं) इस कठश्रुतिके अनुसार जिनपर परमेश्वरकी कृपा होती है, उन्हींकी परमेश्वरमें श्रद्धा याने आस्तिक्यबुद्धि होती है, सबकी नहीं। जबतक 'अस्ति परमात्मा अभ्युदय-निःश्रेयसदाता' ऐसा दृढ़ विश्वास न हो तबतक परमात्माका दर्शन—साक्षात्कार—नहीं हो सकता। इसमें 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते' (जो परमात्माके अस्तित्वमें विश्वास करते हैं, उनसे अन्यत्र परमात्माका प्रत्यक्ष कैसे होगा ?) यह श्रुति प्रमाण है। इससे परमात्माके साक्षात्कारके लिए परमात्मामें विश्वास करना चाहिए। इसमें प्रमाण है—'अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति' (जो 'अस्ति' (है) ऐसा विश्वास कर लेते हैं, उनकी बुद्धिमें विशेषरूपसे परमात्मा सन्निहित हो जाता है) यह कठश्रुति। यह वैदिक सिद्धान्त यदि ध्रुवचरितके ऊपर ध्यान दिया जाय, तो समझमें शीघ्र आ जायगा। ध्रुव बालक था, न तो उसका उपनयन संस्कार हुआ था और न उसने वेद या दर्शनशास्त्रका अध्ययन ही किया था, उसका कुलक्रमागत विश्वास था कि हम दयासिन्धु परमेश्वरको प्रसन्न कर अपने इष्टका साधन कर लेंगे। उसने केवल इसी श्रद्धाके अनुसार परमेश्वरकी प्रसन्नता प्राप्त कर उनका साक्षात्कार किया और इसी जन्ममें साम्राज्यपद तथा अन्तमें ध्रुवपद प्राप्त किया।

वेणीसंहारनाटकमें भीमने सहदेवसे पूछा है कि क्या परमात्माकी शक्तिपर भी दुर्योधन विश्वास नहीं करता ? इस प्रश्नका उत्तर सहदेवने दिया है—

'आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ,
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्,
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम् ॥'

जो अपनी आत्मामें रमण करते हैं, जिन्होंने निर्विकल्पक समाधिमें चित्त स्थिर कर लिया है, जो सत्त्वनिष्ठ हैं, जिनकी तमोगुण और रजोगुणकी ग्रन्थि ढीली हो गई है, ऐसे महापुरुष ज्योति और तमसे परे विद्यमान जिस परमात्माका दर्शन करते हैं, मोहान्ध दुर्योधन उस उत्तम पुरुषका दर्शन कैसे कर सकता है ? यह उक्त श्लोकका अर्थ है। यदि आप उक्त प्रश्नोत्तरपर ध्यान दें, तो यह बात आपके हृदयमें तुरन्त बैठ जायगी कि परमात्माके दर्शनके लिए कैसा चित्त चाहिए ? जो

आस्तिक हैं और वेद तथा शास्त्रके ऊपर श्रद्धा रखते हैं, उनके बोधके लिए इतना लेख पर्य्याप्त है, परन्तु जो लोग युक्तिको ही प्रधान समझते हैं, उनके लिए युक्तिके अनुसार यथाशक्ति लिखते हैं—

इस संसारमें जो जो कार्य—जन्य—हैं, वे सब-के-सब कर्तृजन्य देखे जाते हैं। जैसे घट, पट, प्रासाद आदि। इससे कार्यके प्रति कर्ता कारण है, यह सामान्य कार्य-कारणभाव सिद्ध होता है। इस कार्य-कारणभावके सिद्ध होनेपर क्षिति, अङ्कुर आदिमें कार्यत्व प्रत्यक्ष है, और कर्तृजन्यत्व प्रत्यक्ष नहीं है, अतः वहाँ भी कर्तृजन्यत्वका अनुमान करना चाहिए। क्षितिः कर्तृजन्या, कार्यत्वात्, घटवत् अर्थात् क्षिति कर्तृजन्य है, कार्य होनेसे, घटके समान।

यहाँपर प्रतिपक्षी कहते हैं कि जैसे कार्य कर्तृजन्य देखे जाते हैं, वैसे ही कर्ता सशरीर तथा साधार ही देखे जाते हैं। देखते हैं कि घटका कर्ता सशरीर है और भूतलपर बैठकर घटको बनाता है। और उपादान तथा सहकारी कारण भी कार्यमें देखे जाते हैं। कर्ता किसी प्रयोजनसे कार्य करता है अर्थात् मृत्तिकारूप उपादानसे तथा चक्र और दण्डके सहकारसे तथा पैसेके लिए कुम्भकार घट बनाता है। परन्तु ईश्वरका शरीर नहीं है, क्योंकि यदि ईश्वरका शरीर मानें, तो वह शरीर भी सावयव होनेसे कार्य होगा एवं कर्तृजन्य होगा और उसका निर्माण भी सशरीर ही ईश्वर करेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष न हो, इसलिए अशरीर ही ईश्वर क्षितिका कर्ता है, यह मानना पड़ेगा। श्रुति भी कहती है कि 'अकायमव्रणम्' अर्थात् ईश्वरका शरीर नहीं है। एवम् ईश्वर क्षिति, अङ्कुर आदिको यदि किसी आधार-पर बैठकर बनावेगा है, तो उस आधारके भी जन्य होनेसे अन्य आधारपर बैठकर ही उसे बनाना होगा इस प्रकार उत्तरोत्तर आधारसापेक्ष निर्माण होनेसे अनवस्था हो जायगी। एवं उपादान और सहकारीके निर्माणमें भी अन्य उपादान और सहकारीकी अपेक्षा होनेसे अनवस्था दोष होगा। और परमेश्वर आप्तकाम है, उसको किसी पैसे आदि वस्तुकी अपेक्षा है नहीं, फिर वह जगत्को क्यों बनावेगा?

उनका कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि क्षिति आदि कार्यका उपादान न्यायमतमें परमाणु, योगमतमें प्रकृति और वेदान्तमतमें माया है और अदृष्ट, ईश्वरीय ज्ञान, इच्छा और कृति सहकारी कारण हैं, अतः उपादान और सहकारीके विषयमें तो प्रश्न ही नहीं होगा, किन्तु शरीर, आधार आदिके विषयमें प्रतिवादीसे यह पूछना चाहिए कि क्या आपका अभिप्राय—ईश्वरो न कर्त्ता, अशरीरत्वात्, निराधारत्वात्, प्रयोजनशून्यत्वात्, इस अनुमानमें है? अथवा ईश्वरो यदि कर्त्ता स्यात्, तदा सशरीरः स्यात्, साधारः स्यात्, सप्रयोजनः स्यात्; न च ईश्वरः सशरीरः, साधारः, सप्रयोजनः, तस्मान्न कर्त्ता, इत्यादि तर्कमें है? दोनों ठीक नहीं हैं, क्योंकि आपके मतमें ईश्वर आधार प्रसिद्ध नहीं है, इससे

अनुमान और तर्क दोनोंमें आश्रयासिद्धिरूप दोष है। और हमारे मतके अनुसार यदि 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' इस श्रुतिसे तथा 'क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वात्, घटवत्, इस अनुमानसे आश्रय सिद्ध मानें, तो उक्त आगम और अनुमान धर्मीके—ईश्वरके—ग्राहक होनेसे प्रबल हैं, अतः उपजीव्य होनेसे दुर्बल आपके अनुमान और तर्कका बाध हो जायगा। इसी बातको उदयनाचार्यने निम्नलिखित पद्यसे कहा है—

'आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम्।
आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता॥'

यदि प्रतिवादी कहे कि हमारा तात्पर्य 'ईश्वरो न कर्ता, अशरीरत्वात्' इस बाधमें नहीं है, किन्तु 'क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वात्, घटवत्' इस अनुमानमें 'क्षितिः न कर्तृजन्या, शरीराजन्यत्वात्, आधाराजन्यत्वात्, प्रयोजनशून्यनिर्मितत्वात्' इस प्रकार सत्प्रतिपक्षके उपन्यासमें है, अतः क्षितिरूप आश्रयके सिद्ध होनेसे आश्रयासिद्धि नहीं है, तो यह भी कथन युक्त नहीं है, क्योंकि आपके शरीराजन्यत्व आदि हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हैं। देखिये—जैसे 'पर्वतो वह्निमान्, नीलधूमवत्त्वात्' यहाँपर वह्निकी धूमत्वरूपसे ही धूममें व्याप्ति रहती है, अतः नीलधूमहेतु व्याप्यत्वासिद्ध है, वैसे ही कर्त्रजन्यत्वकी व्याप्ति उभयमतसिद्ध अजन्यत्वत्वरूपसे अजन्यत्वमें है, शरीराजन्यत्वमें नहीं, इससे उक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है। यदि कहें कि अजन्यत्वहेतुसे ही सत्प्रतिपक्षका उपन्यास करेंगे, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि क्षिति और अङ्कुरके जन्य होनेसे अजन्यत्व हेतुकी स्वरूपासिद्धि हो जायगी। और यदि 'शरीराजन्यत्वं कर्त्रजन्यत्वव्यभिचारि स्यात्' ऐसी व्यभिचारशङ्का हो, तो उसका निवर्तक अनुकूल तर्क न होनेसे उक्त हेतुमें व्याप्तिका ग्रह भी नहीं होगा, इससे उक्त हेतु दुर्बल है, अतः उससे सत्प्रतिपक्ष नहीं दे सकते।

प्रश्न—'क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वात्' यहाँपर कार्यत्वहेतुमें शरीरजन्यत्व उपाधि है, इससे उक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है।

उत्तर—उपाधि वहाँपर होती है, जहाँपर व्यभिचार-शङ्का हो, और उसका निवर्तक तर्क न हो। यहाँपर कार्यत्व-हेतुमें 'यदि कार्यत्वं कर्तृजन्यत्वव्यभिचारि स्यात्, तर्हि कर्तृजन्यं न स्यात्' ऐसा अनुकूल तर्क है, इससे उक्त हेतुमें उपाधि नहीं हो सकती। यदि कहें कि साध्यको व्यापक होकर जो साधनको अव्यापक हो वह उपाधि है और यह उपाधिलक्षण शरीरजन्यत्वमें घट जाता है, अतः उक्त हेतुमें उक्त उपाधि नहीं है, यह कहना युक्त नहीं है, तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि कर्तृजन्यत्वसाध्यकी शरीरजन्यत्व उपाधि व्यापक नहीं है, क्योंकि 'कर्तृजन्यत्वं यदि शरीरजन्यत्वव्यभिचारि स्यात्' ऐसी व्यभिचारशङ्का होनेपर उसका निवर्तक अनुकूल तर्क नहीं है।

ईश्वर आप्तकाम है। जगत्के निर्माणसे उसका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, फिर वह जगत्को क्यों बनाता है? 'नहि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते' अर्थात् प्रयोजनके बिना मन्द भी किसी वस्तुके निर्माणमें प्रवृत्त नहीं होता। भाव यह है कि 'ईश्वरो न जगत्कर्त्ता, प्रयोजनाभावात्', 'जगत् न कर्तृजन्यम्, निर्मातुः प्रयोजना-साधकत्वात्' इस प्रकार बाध अथवा सत्प्रतिपक्ष होनेसे 'जगत् सकर्तृकं कार्यत्वात्' यह अनुमान किसी भी रीतिसे नहीं हो सकता। ठीक है, यद्यपि संसारके निर्माणमें परमेश्वरका कोई भी स्वार्थ—सुख या दुःखनिवृत्ति—नहीं है, तथापि जीवोंपर कारुण्यसे अर्थात् जीव सुखी हों, उनके दुःखोंकी निवृत्ति हो, इस इच्छासे पर-मेश्वर संसारके निर्माणमें प्रवृत्त होता है। यहाँपर निष्कर्ष यह है कि संसारका प्रवाह अनादि है—प्रलयके बाद सृष्टि और सृष्टिके बाद प्रलय, इस प्रकार अनवरत संसारकी धारा चलती रहती है। प्रलयकालमें भी जिन जीवोंका मोक्ष नहीं हुआ है, ऐसे जीव सूक्ष्म शरीर, शुभ, अशुभ अदृष्ट तथा वासनाओंसे युक्त होकर प्रकृतिमें लीन रहते हैं। वे अपने उन अदृष्टफलोंका उपभोग करें तथा नित्य, नैमित्तिक कर्मानुष्ठान तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा आत्मसुख एवं आत्य-न्तिक दुःखनिवृत्तिकी प्राप्ति करें, इस शुभेच्छासे परमेश्वर जगत्का निर्माण करता है, ऐसा माननेमें कोई दृष्टविरोध आदि दोष नहीं है। वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य और व्यास आदि मुनियोंने अपना प्रयोजन न होनेपर भी प्राणियोंमें अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धिके लिए ही इन धर्मशास्त्र तथा पुराणोंका निर्माण किया है। भगवान् शङ्करा-चार्यजीका कारुण्यसे अन्य दूसरा कौन स्वार्थ भाष्यनिर्माणमें या उपदेश देनेमें था? तस्मात् यह सिद्ध हुआ कि स्वार्थ न होनेपर भी परमेश्वर कारुण्यसे जगत्का निर्माण करता है, अर्थात् जीव संसारसागरमें सुख पावें तथा इससे छुटकारा पावें, इस प्रयोजनसे जगत्का निर्माण करता है।

यदि लौकिक व्यवहारपर दृष्टि दें, तो 'प्रयोजनसे ही प्रवृत्ति होती है' यह व्याप्ति ठीक नहीं मालूम होती, क्योंकि लोकमें देखते हैं कि खेलमें लड़के धूलिका घर बनाकर बिगाड़ते हैं। आँखमिचौनी आदिमें प्रयोजनके बिना ही प्रवृत्त होते हैं। धनी लोग ताश' शतरंज, गेंद आदि अनेक खेल प्रयोजनके अनुसन्धानके बिना ही खेलते हैं। और चेतनमात्र श्वास-प्रश्वासरूप क्रियाके लिए जीवनयोनिप्रयत्न प्रयोजनके अनुसन्धानके बिना ही करते हैं, इससे उक्त व्याप्ति ठीक नहीं है। ठीक बात तो यह है कि कार्यकारणभावरूप अनुकूल तर्कसे सहकृत अनुमानसे क्षित्यङ्कुरादिकमें जब सामान्यरूपसे सकर्तृत्व सिद्ध हो गया, तब घट दृष्टान्तके आधारपर ईश्वरमें सशरीरत्व या साधारत्वकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सब अंशमें दृष्टान्तका सादृश्य अनुभवसे विरुद्ध है, अन्यथा घट, पटका कर्त्ता

अल्पज्ञ, और अल्पशक्ति देखा जाता है, इससे क्षितिका कर्त्ता भी अल्पज्ञ और अल्पशक्ति सिद्ध होगा। पाठक यदि महिम्नस्तोत्रके—

'किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चित् मुखरयति मोहाय जगतः॥'

(ईश्वर किस प्रयोजनसे किस आधारपर बैठकर कैसे शरीरका ग्रहणकर किस उपादान और सहकारीके सहकारसे त्रिभुवन बनाता है? यह कुतर्क किसी-किसी हत—अल्प—बुद्धि तार्किकोंको, साधारण जनताको श्रेयःपथसे भ्रष्ट करनेके लिए, वाचाल करता है। हे भगवन्! आपका ऐश्वर्य अनन्त है। आप शरीर, आधार और सहकारीके बिना त्रिभुवनको बना सकते हैं, इससे ऐसे-ऐसे निराधार तर्क कैसे उठ सकते हैं)—इस श्लोकमें आये हुए परमेश्वरके विशाल ऐश्वर्यसूचक 'अतर्क्यैश्वर्ये' पदके अर्थपर ध्यान देंगे, तो झटिति ब्रह्मतत्त्व समझमें आ जायगा। इतना कहनेपर भी जिनके चित्तमें ब्रह्मतत्त्व न आवे, तो उनके लिए हम—

'इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते तारणीया जनाः॥'

अर्थात् पूर्वोक्त अनेक प्रकारकी श्रुति-युक्तिरूपी जलधाराओंसे क्षालित होने पर भी जिनके हृदयमें कुतर्कोंके अभ्याससे आपकी (परमात्माकी) सत्ता प्रस्फुरित नहीं होती, वे सचमुच पाषाणहृदय ही हैं, किन्तु हे करुणासिन्धो भगवन्! आपके विषयमें कुतर्क रखनेवाले वे लोग आपकी कृपासे कदाचित् आपके अनन्यचिन्तक हो सकते हैं, अतः आप ही उनके कुतर्कोंका निराकरण करें, इसके सिवा दूसरा कोई भी उपाय नहीं है—इस उदयनाचार्यकी उक्तिसे प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन् करुणासिन्धो! आप ही ऐसे पुरुषोंको सद्बुद्धि प्रदान करें।



ब्रह्मका जगद्रूप रहस्य

(लेखक—कैलासवासी परमहंस श्रीस्वामी पूर्णानन्दरूप)

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः ॥

करोड़ों ग्रन्थोंमें विविध विचित्र विचारोंके साथ जिस सत्यका प्रतिपादन किया गया है, वेदान्तका वही सारभूत सिद्धान्त—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः' इस आधे श्लोकमें कहा गया है । तात्पर्य यह है कि ब्रह्मकी सत्ता ही सत्य है, दृश्य जगत् मिथ्या है एवं जीव ब्रह्मसे भिन्न नहीं है । श्रुति कह रही है—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा इति ।' (श्वेताश्वतर ६।११) एक ही आत्मारूपी भगवान् सब भूतोंमें ओतप्रोतरूपसे व्याप्त हैं । सब भूतोंके वे अन्तरात्मा हैं ।)

इसी वेदान्तसिद्धान्तके श्रवणसे अनेक लोग विस्मित होते हैं । प्रत्यक्ष जगत्को असत्य कहना सत्यका अपलाप अथवा उन्मत्तका प्रलाप है, ऐसा ही पहले लोगोंके मनमें प्रतीत होता है । देहसे जीवका पृथक् अस्तित्व है कि नहीं, इसीमें बहुतोंको सन्देह है । मन और बुद्धिसे अज्ञात ब्रह्मनामक जो कुछ है, उसकी तो बात ही क्या है ? अर्थात् उसे कौन कह सकता है ? किन्तु प्रत्यक्षसिद्ध जगत्के अपलापको सभी मस्तिष्ककी विकृति ही कहेंगे ।

वेदान्तशास्त्रमें 'जगत् मिथ्या है' यह किस भावसे कहा गया है, इस समय इसी बातका विवेचन करना चाहिए । इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होनेवाले बाह्य जगत्का किसीको अनुभव नहीं होता, यह कहना वेदान्तदर्शनका उद्देश्य नहीं है । वेदान्त-दर्शन उसका सर्वथा अभाव नहीं कहता; किन्तु दृश्य जगत् रूपमें जिसका इन्द्रियों द्वारा अनुभव होता है, उसका उस रूपमें पृथक् अस्तित्व नहीं है । कुछ है सही, किन्तु इन्द्रिय द्वारा उसका शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धमय जगत्रूपसे जो बोध होता है, वह असत्य है अर्थात् स्वरूपतः यह जिस रूपमें है, हम लोग उस रूपमें न जानकर अन्य रूपमें जानते हैं, यही मिथ्या है ।

कोई पुरुष भयभीत होकर अन्धकारमें भयङ्कर भूतके समान सत्य ही कुछ देखता है, किन्तु निर्भीक पुरुष उसे मिथ्या ही कहते हैं । मनका भय ही सत्य है, भूत मिथ्या है । अतएव मूलमें सत्यता रहनेपर भी बाहर जो यह प्रपञ्च दीखता है, वह सब मिथ्या है । सोनेकी अँगूठीको देखकर आप लोग कितने प्रसन्न होते हैं । परन्तु जिसको अँगूठी कह कर अपनी अंगुलीमें बड़े प्रयत्नसे पहनते हैं, भला बताइए तो सही, उसमें कौन वस्तु सत्य है, अँगूठी अथवा सुवर्ण ? सुवर्णकी

सत्ताके बिना अँगूठीका अस्तित्व ही नहीं है। फिर भी लोग उसको स्वर्णरूपमें न देख अँगूठीके रूपमें देखकर ही आकृष्ट होते हैं कि नहीं ? अँगूठीके टूट जानेपर भी सुवर्ण नष्ट नहीं होता। सुवर्ण सभी देशमें और सभी कालमें एकरूप रहता है, किन्तु उसके आकारका और उसके साथ नामका परिवर्तन होता है। इसलिए सुवर्ण ही सत्य है, एवं उससे निर्मित केयूर, कुण्डल आदि अलङ्कारोंके नाम और रूप, भयसे व्याकुल पुरुषके चित्तमें प्रविष्ट भूतके समान, मिथ्या हैं। इसी प्रकार ज्ञात होगा कि अलङ्कारके आश्रय सुवर्णके समान, इन्द्रियों द्वारा गृहीत होनेवाले चराचर दृश्य जगत्की आश्रयरूप सत्ता अति सत्य है, किन्तु नामरूपमय बाह्य जगत् अलङ्कारोंके समान स्वरूपतः अर्थात् जिस रूपसे दृष्ट होता है, उस रूपसे सत्य नहीं है। परम सुन्दर शरीर है, पर वह शीतला या कुष्ठ रोगसे विकृत हो गया, तो सुन्दरताकी सत्यता कहाँ रही ? शरीर वही रहता है, किन्तु इन्द्रियग्राह्य वह सुन्दर रूप नहीं रहता।

शुक्तिमें रजत-ज्ञान जैसे केवल कल्पित आरोप ही है, वस्तुतः उसमें रजतत्व नहीं है, वैसे ही यह जगत् भी सत् आत्मामें केवल कल्पित ही है। ज्ञान द्वारा आत्माके स्वरूपका बोध होनेपर संसारका सत्यत्वभ्रम दूर हो जाता है। ❀ ❀ ❀

जो देश, काल और वस्तुके परिच्छेदके अधीन है, वही असत् है अर्थात् जो अन्यत्र नहीं है, किन्तु यहाँपर है, वह देशपरिच्छेदके कारण असत् है। जो पूर्वमें नहीं था, इस क्षणमें है, किन्तु इसके बाद नहीं रहेगा, वह काल परिच्छेदके अधीन होनेसे सुतरां असत् है। सजातीय, विजातीय और स्वगत—इन तीन प्रकारके भेदका नाम वस्तुपरिच्छेद है। आमके पेड़में और नीमके पेड़में जो भेद है, उसे सजातीय भेद कहते हैं, पत्थर और वृक्षमें जो भेद है, उसका नाम विजातीय भेद है एवं एक ही वृक्षकी शाखाओं, पत्तियों और फूलोंमें जो भेद देखा जाता है, वह स्वगत भेद कहलाता है। अथवा जीव और ईश्वरमें जो भेद है, जीव और जगत्में जो भेद है, जीवोंमें परस्पर जो भेद है, ईश्वर और जगत्में जो भेद है एवं जगत्का परस्पर जो भेद है—इसी पाँच प्रकारके भेदका नाम वस्तुपरिच्छेद है। उक्त पाँच प्रकारके भेदोंमें से कोई भी भेद जिस पदार्थमें देखा जाय, वह पदार्थ असत् है, इस लक्षणके अनुसार जगत् असत् है, यही सिद्ध होता है। कार्यके कारणरूपसे विद्यमान विशुद्ध सत्ता ही सत् है। एवं तदधिकरणमें, अवस्थाविशेषमें, समय-विशेषमें, देशविशेषमें, पात्रविशेषमें अनुभूत, प्रकाशित अथवा आविर्भूत सम्पूर्ण कार्य असत् है।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० उ० ६।२।१)।

'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'

(छा० उ० ६।१५।३)।

हे सोम्य ! यह दृश्यमान प्रपञ्च उत्पत्तिसे पहले सत्‌रूप ही था, वह सत् वस्तु एक और अद्वितीय है। यह सम्पूर्ण जगत् आत्ममय ही है, वही आत्मा सत्य है। हे श्वेतकेतो ! वह सत्स्वरूप आत्मा ही तुम हो। सत्स्वरूपका यह श्रुतिनिर्दिष्ट चित्र किसी परिच्छेद आदि द्वारा नित्य विद्यमानतामें बाधित नहीं होता। सत् जलस्वरूप है और असत् उसकी तरङ्ग या स्फुरण अथवा क्षणविध्वंसी विकाश-मात्र है, जैसे तरङ्ग नामकी कोई स्वतन्त्र वस्तु किसी कालमें नहीं है, वैसे ही असत् वस्तु किसी कालमें नहीं है।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है कि जिसकी सत्यता नहीं है, उसका इन्द्रियों द्वारा अनुभव कैसे हो सकता है ? इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि अच्छा, बुरा, सुरूप और कुरूप आदि भाव हमारे अन्तःकरण और इन्द्रिय आदिकी अवस्थाके अनुसार परिवर्तित होते हैं। पाण्डुरोगी मनुष्य सब वस्तुओंको पीली क्यों देखता है ? जगत्‌के पदार्थोंमें कोई वर्णविकार नहीं हुआ, किन्तु पित्तकी अधिकतासे नेत्रमें दोष आनेपर सब वस्तुएँ पीली मालूम पड़ती हैं। पदार्थका परिवर्तन न होनेपर भी इन्द्रियोंके दोष या गुणसे वह अन्यरूपसे प्रतीत हो सकता है। बूढ़े आदमीकी दृष्टिमें जो वस्तु धुँधली और अन्धकारमय प्रतीत होती है, बालककी दृष्टिमें वह सुस्पष्ट और प्रकाशमय प्रतीत हो सकती है। सूर्यके प्रकाशमें उल्लू आदि आँखसे नहीं देख पाते और अँधेरेमें वे पदार्थोंको स्पष्टरूपसे देखते हैं। अत्यन्त जोरकी आवाज औरोंके लिए श्रुतिकटु होनेपर भी बहरेके कानोंमें वह अतिकोमलरूपसे ध्वनित होती है, एवं अति कड़वी मिर्चा आदि वस्तुएँ किसीके लिए जिह्वाको तृप्त करनेवाली होती हैं। अतएव देखा जाता है कि हमारी इन्द्रियाँ पदार्थके स्वरूपका प्रकाश नहीं कर सकतीं। हम जैसे यन्त्रोंका (इन्द्रियोंका) व्यवहार करते हैं, उसके अनुसार ही हमें पदार्थोंका बोध होता है। आपको जिस घरमें रहनेसे गर्मीका अनुभव होता है, अधिक गर्म देशसे आया हुआ पुरुष उसमें शीतलताका अनुभव करेगा। इस तरह मनकी अवस्थाके अनुसार एक ही घटना किसीके सुखकी और किसीके दुःखकी कारण होती है। अब हम समझ गये कि हमारी इन्द्रियाँ और मन पदार्थके यथार्थस्वरूपको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हैं, इस कारण मन और इन्द्रियोंकी सहायतासे हम लोग अन्यको अन्यरूपसे जानें, तो इसमें विचित्रता ही क्या है ?

चिन्मात्र ब्रह्मसत्ताका मन, बुद्धि या चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ज्ञान नहीं किया जा सकता, कारण कि इस विषयमें 'न तत्र चक्षुर्गच्छति नो मनः', 'अवाङ्मनसगोचरम्', 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। इसी कारण हम ब्रह्मसत्ताकी उपलब्धि नहीं कर सकते हैं तथा हमारी इन्द्रियाँ उस सत्ताका जिस रूपसे प्रकाश करती हैं, उस रूपमें हम ब्रह्म-

स्वरूपका शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धमय चराचर जगत्रूपमें एवं चित्तगत सुख, दुःख, इच्छा और अज्ञानताके आकारसे अनुभव करते हैं। हम कुछ जानते हैं, यह बात ठीक है, किन्तु इन्द्रियोंके द्वारा उसको जिस रूपसे जानते हैं, उस रूपमें वह ब्रह्मरूपसे प्रकाशित न होकर जड़-चेतनमय जगत्रूपसे अनुभूत होता है। इसी कारण वेदान्तशास्त्रमें कहा गया है कि जो तुम जानते हो वह मिथ्या है, जिसको जान नहीं सकते और जिसके अस्तित्वसे ही जगत्की सत्ताका बोध होता है, वही नित्य, सत्य ब्रह्मस्वरूप है।

इस समय यह ज्ञातव्य है कि हम लोग सत्यस्वरूप ब्रह्मको क्यों नहीं जान सकते और किस प्रकारसे हमें उस सत्यस्वरूपका ज्ञान हो सकता है?

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्'।

(कठ० २।१।१)

विधाताने इन्द्रियोंको बहिर्मुख अर्थात् केवल बाह्य विषयोंके ग्रहणमें समर्थ बनाया है, इसलिए उनके द्वारा बाह्य विषयोंका ही बोध होता है, अन्तरात्माका ज्ञान नहीं हो सकता। किसी वस्तुको यदि जानना हो तो वह जिस प्रकारकी है, तदुपयोगी इन्द्रिय द्वारा ही वह जानी जा सकती है। दूधको मुँहसे पीनेपर ही उसका स्वाद ज्ञात होता है, कानों या नाकसे दूधका स्वाद नहीं जाना जा सकता। गुलाबकी सुगन्ध नाक ही ग्रहण कर सकती है। नेत्रसे ही गुलाबका सुन्दर रूप जाना जा सकता है। किन्तु आँखोंसे गन्ध और नाक अथवा कानोंसे रूपका ग्रहण नहीं किया जा सकता। हमारी नेत्र, कान, नाक, जीभ और त्वचा—ये पाँच इन्द्रियाँ पदार्थोंके क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श मात्रका ही ग्रहण करती हैं, इनके सिवा और कोई भी पदार्थका प्रकृत तत्त्व उनसे अवगत नहीं होता।

केवल नेत्र, कान आदि इन्द्रिय द्वारा भी पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता। किसी भी पदार्थके ज्ञानकालमें मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कार युक्त अन्तःकरण सहित (अर्थात् हम किसी विषयको निश्चय करके जानेंगे, इस प्रकार धारणापूर्वक) इन्द्रियोंको व्यापरित करनेपर ही विषयका ज्ञान होता है। मानसिक विषयका ज्ञान करना हो, तो भी इसप्रकार अन्तःकरणका विषयविशेषमें प्रयोग करनेपर हर्ष, शोक, द्वेष, दया आदि मानसिक व्यापार उपलब्ध होते हैं। इन सब विषय ज्ञानोंके मध्यमें देश और कालका संस्कार मनमें निहित रहता है। बाह्य इन्द्रियों द्वारा गृहीत होनेवाले विषय देशके साथ संयुक्त होकर ही इन्द्रियमार्गसे प्रकाशित होते हैं, अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस अथवा गन्ध कोई भी एक ही स्थानमें उपलब्ध होते हैं एवं मानसिक चिन्ता और अनेक घटनाएँ कालके साथ सम्बद्ध होकर अनुभूत होती हैं। देशके ज्ञानके बिना बाह्यज्ञान नहीं होता एवं कालके ज्ञानके बिना भी चिन्ता या घटनाका पार्थक्य नहीं किया जा सकता। अधिकांश स्थलोंमें देश और काल दोनोंके

मिलित संस्कारके साथ विपर्यज्ञान होता है। इससे प्रतीत होता है कि हम लोग देश और कालके अधीन हुए विना किसी भी इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए किसी भी पदार्थका यथार्थ स्वरूप हमारे निकट प्रकाशित नहीं हो सकता। जैसे पाण्डु रोगसे पीड़ित व्यक्तिके चक्षुसे सब वस्तुएँ पीली दिखाई देती हैं, वैसे ही ब्रह्मसत्ता भी देश और कालके मध्यपाती होकर हमारे निकट नाम-रूपमय जगत्‌रूपसे प्रकाशित हो रही है। देश-कालरूप आवरणको दूर किये बिना सत्य पदार्थका स्वरूप नहीं जाना जा सकता है। भगवती श्रुति भी कहती है—

'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा' (क० २।३।१२)

ब्रह्मसत्ता वाक्यसे प्रकाशित नहीं हो सकती; मन अथवा चक्षुके द्वारा भी उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि देश और कालकी अपेक्षा किये बिना हमारी इन्द्रियशक्ति कार्य ही नहीं कर सकती। यही देश और कालका आवरण कहांसे और किस रूपमें आकर हमारे सत्य ज्ञानमें बाधक होता है, यहाँपर इसी बातका अनुसन्धान करना आवश्यक है। हम लोग वेदान्त-सिद्धान्तके उल्लेख-कालमें पहले ही जान चुके हैं कि एकमात्र ब्रह्मसत्ता ही सत्य है। संसार किस रूपमें मिथ्या है, इसका भी पहले निरूपण कर चुके हैं। किन्तु ब्रह्मकी सत्यता हमारी इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं हो सकती। इसके कारणका अन्वेषण करनेके लिए 'जीव ब्रह्मसे अभिन्न है' इस सिद्धान्तकी ओर विशेषरूपसे ध्यान देना होगा। ब्रह्मके ही एकमात्र सत्य पदार्थ होनेपर ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकता। सुतरां जीवका भी ब्रह्मसे पृथक् अस्तित्व नहीं है, किन्तु हम लोग ब्रह्मसे अपनी-अपनी भिन्नताका निश्चय रखकर ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करते हैं। यह पार्थक्य ही ब्रह्मस्वरूपबोधमें बाधक होता है। जैसे अपनेको आप ही जाना जा सकता है अर्थात् अपनेमें क्या हो रहा है इस बात को दूसरा (उस व्यक्तिके साथ योगकौशलसे एकीभूत हुए विना) नहीं जान सकता, वैसे ही ब्रह्मके साथ अभिन्नरूपसे स्थित हुए विना—पार्थक्यका त्याग किये विना—ब्रह्मके स्वरूपका निश्चय नहीं हो सकता।

हम लोग ब्रह्मसे पृथक् हैं, ऐसी ही यहाँपर हमारी धारणा होती है। यही भेदभाव वेदान्तकी माया है। उसीने देश-कालके संस्काररूपमें नाम-रूपमय जगज्जालका विकास किया है। और भी अधिक आलोचना करनेपर यह जटिल प्रश्न कुछ परिमाणमें सरल हो सकेगा। जहाँ जीव और ब्रह्मका भेदज्ञान होता है वहीं जगत्‌के अस्तित्वकी उपलब्धि होती है एवं जिस समय दोनोंकी अभिन्नताकी प्रतीति होती है उस समय जगत्‌की सत्ता नहीं रह सकती, क्योंकि देश अथवा काल द्वारा भेद न होनेपर अपनेसे अन्यका किस प्रकार पृथक्‌रूपसे बोध होगा।

जिन लोगोंका मन ब्रह्मके मननमें संलग्न है उन्हें वैषम्यमय प्रपञ्चात्मक जगत्के अणु-परिमाणमें भी ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी कारण वे जीवितावस्थामें ही मायासे निर्मुक्त हो जाते हैं। रूप, गुण, अवस्था और उपाधि—इन चारोंकी भिन्नताके कारण द्वैतबुद्धिका विकास होता है। किन्तु सबसे अतिरिक्त केवल एकमात्र आत्मामें मनोवृत्तिका सतत प्रवाह होनेपर द्वैतबुद्धि नहीं टिक सकती। आत्मा द्वैतज्ञान आदि दोषोंसे रहित है, इसलिए उसमें वैषम्यकी विकृत छाया पड़ ही नहीं सकती। समदर्शी अथवा ब्रह्मदर्शी पुरुष निरन्तर ब्रह्म-रति द्वारा ब्रह्ममें ही अपनी स्थिति समझते हैं। मगर अज्ञ लोग स्वर्णसिंहासनके ऊपर स्थित स्वर्णप्रतिमाके दर्शनके समय प्रतिमा और सिंहासन दोनोंको पृथक् वस्तु मान बैठते हैं। किन्तु बुद्धिमान् व्यक्तिकी दृष्टिमें दोनों ही वस्तुओंमें एक अर्थात् दोनों ही सिंहासन और प्रतिमामें एकमात्र सुवर्ण ही प्रतीत होता है। इसी-प्रकार अज्ञानीकी दृष्टिमें द्वैतप्रपञ्च है, परतत्त्वज्ञके सन्मुख सम्पूर्ण प्रपञ्च एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म है।

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥'

सर्वत्र समदर्शी योगी पुरुष सब भूतोंमें अपनेको और अपनेमें सब भूतोंको देखता है।

निर्विघ्न योगसमाधिकालमें योगीका मन जहाँपर आत्माकार हो जाता है वहाँ उसकी पूर्वावस्थामें (मलिनावस्थामें—आत्मयोगविरहितावस्थामें) जो जगत्प्रपञ्च प्रतिभासित होता है और मनोवृत्तिके वैषम्यगुणमें एक ब्रह्मके अनन्त-विकासस्वरूप दृश्यमान संसारमें समस्त वस्तु ही स्वतन्त्र हैं, इसप्रकार जो भेद-बुद्धिका उदय होता है उस क्षणमें पुनः वह भेदबुद्धिका उदय नहीं हो सकता। जब मनोवृत्ति विषयाकाराकारित होती है तब जीवको ब्रह्मका दर्शन नहीं होता और जब वही वृत्ति योगबलसे ब्रह्माकाराकारित हो जाती है तब विषयोंका दर्शन नहीं होता, जैसे लकड़ीको खूब धधकती हुई अग्निमें फेंकनेसे वह लकड़ी अपना स्वरूप त्यागकर अग्निका स्वरूप धारण कर लेती है, वैसे ही मन जब आत्मामें सलग्न हो जाता है। उस समय वह अपनी स्वाभाविक मलिनताका त्यागकर चैतन्यस्वरूप हो आत्माके साथ एकीभूत हो जाता है। इसी अवस्थामें योगिराज पुरुष सूत्रसमूहमें वस्त्रत्व और वस्त्रत्वमें सूत्रत्वके समान आत्मासे ही सर्व प्रपञ्च जगत् आविर्भूत हुआ है एवं जगत् एकमात्र आत्माका ही विकास है, ऐसा ज्ञान प्राप्त करते हैं। स्वातन्त्र्यदृष्टि अथवा वैषम्यबुद्धि योगयुक्तावस्थामें नहीं रहती है।

अतएव देखा जाता है कि जीव को अभेदभावसे ब्रह्ममें स्थिति होनेपर माया-जनित भेदभाव नहीं रहता और जगत्का ज्ञान भी नहीं रह जाता। इस समय मायाके विषयमें कुछ आलोचना करनेपर हम जगद्रहस्यको कुछ सरलतासे समझ सकेंगे। हम लोग हरएक भिन्न भिन्न हैं, ऐसी ही हम लोगोंकी धारणा है। सुतरां हम लोगोंको पृथक् करनेवाला कोई कारण है। यह पृथक् ज्ञान है, ऐसा कहनेपर एकत्वकी भी कल्पना स्वतः ही उपस्थित होती है। एकत्वज्ञानके भीतर बहुत्वका ज्ञान नहीं है, किन्तु बहुत्वके ज्ञानके मध्यमें एकत्वज्ञानका आभास कुछ रहता ही है। एक फलके दिखाई देनेपर एकका ही ज्ञान होता है, किन्तु एकसे अधिक फलोंके दिखाई देनेपर बहुत्वज्ञानके साथ एकत्वका ज्ञान भी विद्यमान रहता है। हम लोग बहुत्वबोधके बीचमें हैं। ऐसा कहनेपर इसके कारणरूपमें विक्षेप-शक्ति या मायाशक्ति नामक शक्तिविशेषकी कल्पना होती है, किन्तु एकत्वकी दिशासे ब्रह्मस्वरूपमें स्थिर होनेपर यह भिन्नभाव किस रूपमें उपलब्ध होगा? इसलिए ब्रह्मसत्तामें माया नहीं है। माया सुतरां असत् है, किन्तु बहुत्वज्ञानकी अवस्थामें हमें बोध होता है कि विक्षेपनामक कुछ है। यों विक्षेपकी सत्यता स्वीकार करके हम मायाको सत् कहते हैं। जीवभावमें मायाके सत् और ब्रह्म-भावमें मायाके असत् होनेसे वेदान्तमें प्रतिपादित माया सदसद्रूपिणी है। शुद्ध ब्रह्मसे इस सदसद्रूपिणी अत्यन्त अनिर्वचनीय मायाका विकास होनेपर जगत्की सृष्टि होती है। ब्रह्मसत्तामें जगत्सृष्टिकी कल्पना नहीं की जा सकती। हमारे भेदज्ञानसे केवल सृष्टिका अनुमान होता है। द्वैतज्ञान होनेपर ही मनमें चेष्टा उत्पन्न होती है तभी वह कल्पना कर सकता है।

किस तरह इस पृथग्भावका (भेदभाव) विकास होता है, इस बातका निर्णय होना कठिन है। प्राच्य या पाश्चात्य किसी भी दर्शनमें इसका भली भाँति कोई निर्णय नहीं है। इसका कारण यह है कि पार्थक्यज्ञानकी अवस्थामें ही बुद्धि विचार कर सकती है। जब पार्थक्यज्ञान नहीं रहता है, तब बुद्धिका पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहता। अतएव एकत्व और बहुत्वकी एक जगह तुलना करनेके लिए अवकाश ही कहाँ? इसी कारण जगत्-रहस्य ब्रह्मकी महिमा अथवा अनिर्वचनीय मायाके नामसे वेदान्तशास्त्रमें प्रतिपादित है।

(अपूर्ण)

महर्षि व्यासजीके तात्पर्यका निर्णय

[ज्येष्ठाङ्कसे आगे]

जैसे वेदान्तमें 'पत्युरसामञ्जस्यात्' *इस अधिकरणमें भगवान् वेदव्यासने पशुपतिमतका खण्डन किया है वैसे ही शैवागममें भी भगवान् शिवने केवलाद्वैत ही वेदान्तियोंका अभिमत है, ऐसा अनुवाद कर उसका खण्डन किया है। देखिए—मृगेन्द्रसंहितामें (ज्ञानपाद २य पटल) भरद्वाजके इस प्रश्नपर कि—

वेदान्त, सांख्य, जैन, वैशेषिक, नैयायिक, बौद्ध आदिके मतमें साधन सहित मुक्ति सुनी ही जाती है उनसे शिवागममें क्या विशेष है ? इन्द्रने यों उत्तर दिया है कि तत्-तत् मतोंके प्रवर्तक आचार्य कपिल, कणाद आदि सर्वज्ञ नहीं थे, इस कारण उन्होंने अपने-अपने दर्शनोंमें जो पदार्थोंका संकलन किया है, वह परिस्फुट नहीं है। उसी प्रकार उनके बतलाये हुए उपाय (साधन) और फल (स्वर्ग, अपवर्ग आदि) भी स्फुट नहीं हैं; इसलिए उनके मतमें अर्थ निश्चय होना सम्भव नहीं है। शिवागमके उपदेष्टा सर्वज्ञशिरोमणि साक्षात् पशुपति हैं, इसलिए इसमें उपर्युक्त सभी बातें विशदरूपमें प्रतिपादित हैं, अन्य दर्शनोंसे इसमें यही विशेष है।

सर्वप्रथम वेदान्तका खण्डन करनेके लिए 'वेदान्तेषु' इत्यादि श्लोकों द्वारा निष्प्रपञ्च अद्वितीय आत्मस्वरूपके बोधक वेदान्तमतका अनुवाद कर उसके निराकरणके लिए विकल्प किया गया है—क्या वेदान्त प्रमाण हैं अथवा अप्रमाण ? यदि वेदान्त प्रमाण हैं तो आत्मा प्रमेय ठहरा, यों दो वस्तुएँ (प्रमाण-प्रमेयरूप दो पदार्थ) सिद्ध हो गईं। जहाँपर प्रमाण और प्रमेय रहते हैं वहाँपर प्रमाता और प्रमा-ज्ञान भी अवश्य मानने ही पड़ेंगे, यों दो वस्तुएँ और हुईं। इस प्रकार चार वस्तुओंकी प्राप्ति होनेसे अद्वैतकी हानि हो जायगी। यदि वेदान्त प्रमाण नहीं हैं, तो वेदान्तमत अप्रामाणिक ही हो जायगा। दूसरी बात यह भी है कि आत्माके एक होनेसे सबको सुख आदिके अनुभव समानरूपसे होंगे और मोक्ष भी नहीं होगा। †

---

* ईश्वर प्रधान आदि जगत्के उपादान कारणोंका प्रेरक होनेसे जगत्का निमित्त कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरके विषम जगत्की सृष्टिमें प्रवृत्त होनेपर राग, द्वेष आदिकी प्राप्ति होनेसे असामञ्जस्य होगा।

† भरद्वाज उवाच—

वेदान्तसांख्यसदसत्पादार्थिकमतादिषु।
ससाधना मुक्तिरस्ति को विशेषः शिवागमे॥

शक्र उवाच—

प्रणेत्रसर्वदर्शित्वात् न स्फुटो वस्तुसंग्रहः।
उपायाः सफलास्तद्वच्छैवे सर्वमिदं परम्॥
वेदान्तेष्वेक एवात्मा चिदचिद्व्यक्तिलक्षितः।
प्रतिज्ञामात्रमेवेदं निश्चयः किंनिबन्धनः॥

मृगेन्द्रसंहिताके व्याख्याता पण्डित नारायणभट्ट, श्रीकण्ठाचार्य तथा उक्त व्याख्यानोंके व्याख्याता अघोरशिवाचार्यने वेदान्तमतका अनुवाद और उसका निराकरण बड़े घटाटोपसे किया है। वह सब इतना विपुल है कि उससे एक पोथा तयार हो सकता है इसलिए हम उसका यहाँपर उल्लेख नहीं करते। फिर भी इस ग्रन्थिको सुलझानेके लिए कुछ लिखना ही पड़ता है—

भट्टनारायण और श्रीकण्ठाचार्यकी वृत्तिमें लिखा है—

'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं विश्वं बहुधा यः करोति' (कठ ५।१२)

इत्यादि श्रुतिसे परमात्मा ही सम्पूर्ण जड़ और चेतन पदार्थोंके आविर्भाव और तिरोभावके एकमात्र मूलकारण हैं; ऐश्वर्य, ज्ञान, यश आदि छः गुणोंसे परिपूर्ण भगवान् एक होते हुए भी सृष्टिके लिए तत्-तत् अन्तःकरणरूप विविध उपाधियोंके भेदसे सत्त्व, रज और तमोगुणको धारण करते हैं। उनका यथार्थ रूपसे ज्ञान होनेपर अभ्युदय होता है। वही वेदान्तप्रतिपाद्य भगवान् जगद्रूपसे स्थित हैं। वही सत्य हैं, उनसे अतिरिक्त द्वैतज्ञान द्विचन्द्रके ज्ञानकी नाईं भ्रम है।

इस विषयमें भगवान् भर्तृहरिने भी कहा है—

जैसे तिमिर रोगसे पीड़ित पुरुष विशुद्ध आकाशको नील, रक्त आदि रूपोंसे विचित्र-सा देखता है, वैसे ही यह निर्विकार अमृतरूप ब्रह्म अविद्यासे मानो कलुषता को प्राप्त होकर भिन्न होता है। इस प्रकार वह परमात्मरूप परब्रह्म अद्वितीय ही है, सुख, दुःख आदि संसारधर्मोंसे मनका सम्बन्ध है; परमात्मा तो जैसे एक ही सूर्य जलमें पड़े हुए प्रतिबिम्बोंसे भिन्न-सा (अनेक-सा) मालूम पड़ता है वैसे ही अद्वितीय होता हुआ भी नाना मालूम पड़ता है। जैसा कि भगवती श्रुति कहती है—

'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥'

अर्थात् जैसे ज्योतिःस्वरूप यह सूर्य यद्यपि एक ही है तथापि घटादिभेदसे भिन्न जलोंमें प्रतिबिम्बित होकर अनेक प्रतीत होता है वैसे ही नित्य निर्विकार यह आत्मा एक होता हुआ भी मायारूप उपाधिसे क्षेत्रोंमें (जीव-शरीरोंमें) अनुगत होकर अनेकरूप हो जाता है। लेकिन यह ठीक नहीं है।

अथ प्रमाणं तत्रात्मा प्रमेयत्वं प्रपद्यते।
यत्रैतदुभयं तत्र चतुष्टयमपि स्थितम्॥
अद्वैतहानिरेवं स्यात् निष्प्रमाणकताऽन्यथा।
भोगसाम्याविमोक्षौ च यौ नेष्टावात्मवादिभिः॥
(मृगेन्द्रागम प० २।१०-१४)

अघोरशिवाचार्यरचित मृगेन्द्रागमके व्याख्यानके व्याख्यानमें भी कहा है— अब अन्य दर्शनोंकी अस्फुटताको दर्शानेके लिए पहले वेदान्तमतकी अस्फुटताका सूचन कर उसे दर्शानेके लिए 'वेदान्तेषु' इत्यादि श्लोकसे वेदान्तियोंके मतका उल्लेख किया जाता है। उसीको व्याख्याकार 'आत्मैवेदम्' इत्यादि श्रुतिसे दर्शाते हैं। यद्यपि आत्मा सत्यरूप ही है तथापि अविद्यारूप उपाधिसे जीवात्मा उसे पशु, मृग आदि अनन्त शरीरोंके भेदसे बहुत प्रकारका देखते हैं। जैसे कि स्वप्नमें एक ही जीवात्मा अनेक जीव, गिरि, नद, नदी आदिको देखता है। इसलिए द्विचन्द्रप्रतीतिकी नाईं द्वैतप्रतीति असत्य है, अतः एक ही आत्मा श्रुति और युक्तिसे सिद्ध होता है। इससे मृगेन्द्रसंहिता, उसकी वृत्ति और वृत्तिके व्याख्यानके पर्यालोचनसे भी केवलाद्वैत ही वेदान्तशास्त्रका अभिमत है, यह सिद्ध हुआ।

महर्षि अगस्त्यविरचित शिवरहस्यमें (अंश ३, अ० ३६) भी

न ते गौतमाकाशनित्यत्ववादो
मतो वेदवेदान्ततत्त्वज्ञमूर्ते !।
न ते जैमिनेः शब्दनित्यत्ववादो
न मिथ्यात्ववादोऽपि वेदान्तिनां ते ॥
न वन्धोऽपि मोक्षोऽपि वेदान्तशास्त्रे
तथा दृष्टिसृष्टिप्रवादोऽपि दृष्टः।
अविद्याविलासो न कोऽपीह कल्प्यो
विलासैर्यतस्ते जगज्जालमासीत् ॥
न चाऽनन्तवेदान्तवार्ताविचारे
हराराधकाराध्यभावाभिमानः।
न चेत्तेऽधुना कर्म मार्गो विनष्टः
शिवाधनामार्गवार्ता कुतः स्यात् ॥*

* हे वेद-वेदान्तके तत्त्वज्ञ, हे शिव! आपको गौतमका आकाशनित्यत्ववाद अभीष्ट नहीं है। जैमिनिका शब्दनित्यत्ववाद और वेदान्तियोंका मिथ्यात्ववाद भी आपको अभीष्ट नहीं है। वेदान्तशास्त्रमें प्रतिपादित वन्ध, मोक्ष और दृष्टि-सृष्टिवाद भी आपके अभिमत नहीं है। वेदान्ताभिमत अविद्या माननेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। सम्पूर्ण प्रपञ्च आपकी लीलासे ही उत्पन्न हुआ है। हे हरे, अनन्त वेदान्तवादोंके विचारमें आराध्य-आराधकभावका अभिमान नहीं रह सकता। न रहे, ऐसा यदि कहा जाय, तो हे शिव! कर्ममार्ग ही विनष्ट हो जायगा। आपके आराधनामार्गकी तो वात ही क्या है?

इस प्रकार गौतमके अभिमत आकाशनित्यत्ववाद जैमिनिके अभिमत शब्दनित्यत्व और वेदान्तियोंके अभिमत प्रपञ्चमिथ्यात्व, बन्ध-मोक्ष व्यवस्थाका अभाव, दृष्टि-सृष्टि आदिका, अनुवाद कर, खण्डन किया गया है। इस प्रकार प्रायः गौतम, जैमिनि आदि सूत्रकारोंके मध्यमें पठित वेदान्तशब्द ब्रह्मसूत्रके निर्माता महर्षिका बोधक है, यह सिद्ध ही है। इससे सिद्ध हुआ कि केवलाद्वैतमें ही महर्षि व्यास-जीका तात्पर्य है।

और भी देखिए—जैसे वेदान्तशास्त्रमें 'उपत्त्यसम्भवात्*', 'समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः†', 'नैकस्मिन्नसंभवात्‡', 'एक आत्मनः शरीरे भावात्' ×इन चार अधिकरणोंमें भगवान् वेदव्यासने पाञ्चरात्र, बौद्ध, जैन और चार्वाकके सिद्धान्तोंका खण्डन किया है, वैसे ही पाञ्चरात्र आदि दर्शनोंमें केवलाद्वैत ही वेदान्तशास्त्रका अभिमत है, ऐसा अनुवाद कर उसका खण्डन किया गया है।

उक्त ग्रन्थोंमें जहाँपर केवलाद्वैतका अनुवाद कर खण्डन किया है वहाँपर केवलाद्वैत वेदान्तियोंका सिद्धान्त है यह घोषणा की गई है। इससे सिद्ध हुआ कि केवलाद्वैतमें ही वेदान्तशास्त्रका तात्पर्य है। वेदव्यासजीके वेदान्तशास्त्रके प्रवर्तक होनेसे वेदान्तके वादी होनेमें सन्देह ही क्या है? इससे केवलाद्वैत ही व्यासजीका अभिमत है यह बात दिनके समान स्पष्ट है। इस कारण सम्पूर्ण वादियोंसे स्वीकृत कपिल, कणाद, गौतम, पतञ्जलि और जैमिनि रचित दर्शनोंमें; सूत्र, भाष्य, वार्तिक और वृत्तियोंमें एवं पाशुपत; पाञ्चरात्र; बौद्ध तथा जैन शास्त्रोंमें जहाँपर वेदान्तियोंके मतके खण्डनका अवसर आया है वहाँपर केवलाद्वैतका ही अनुवाद किया गया है, अतएव वादियोंके वादविवादकी अब गुञ्जायश ही नहीं रह गई। सब लोगोंकी हृदयंगम भी यही बात है। इससे अद्वैत ही व्यासजीके तात्पर्यका विषय है यही बात हमें भी युक्तियुक्त मालूम होती है।

---

* वासुदेवसे जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि उत्पत्ति मानी जाय, तो जीवके घटकी भाँति अनित्य होनेसे भगवत्प्राप्तिरूप मोक्ष, जो वैष्णवों द्वारा स्वीकृत है, किसको प्राप्त होगा? इसलिए भागवतसिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है।

† परमाणुहेतुक बाह्य समुदाय और स्कन्धहेतुक आध्यात्मिक समुदायमें भी समुदायकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि अचेतन परमाणु और स्कन्धोंका अपने आप समुदाय नहीं हो सकता। अन्य किसी स्थिर चेतन संघातकर्ताका अभाव है, अतः उनका मत भ्रान्तिमूलक है।

‡ एक परमार्थरूप वस्तुमें विरुद्ध धर्मोंका सम्भव न होनेसे वस्तुमें अनेकरूपता नहीं है।

× चार्वाक लोग शरीरातिरिक्त आत्माकी सत्ता नहीं मानते हैं, क्योंकि शरीरके रहनेपर आत्माकी उपलब्धि होती है, नहीं रहने पर नहीं होती, इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे उस उपलब्धिका शरीरधर्मरूपसे भान होनेसे शरीरातिरिक्त आत्मा नहीं है।

कुछ है, कुछ नहीं है, फिर भी कुछ है ही !

(लेखक—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

एक अफीमची अपने घोड़े और साईसके साथ घरसे चलकर एक ग्राममें जाकर ठहरा। आप तो अफीमका अंटा चढ़ाकर खाटपर लेटकर हुक्का पीते-पीते ऊँघने लगा और घोड़ेकी रक्षाका भार नौकर पर छोड़ दिया। थोड़ी देरमें पीनक उतरी, तो बोला—नौकर !

नौकर—जी हां !

अफीमची—क्या कर रहा है ?

नौकर—विचार कर रहा हूँ।

अफीमची—क्या विचार कर रहा है ?

नौकर—अजी ! बकरीके पेटमें मेंगनियाँ कौन बना देता है ? यह विचार कर रहा हूँ।

अफीमची—भाई ! जागते रहना, सो मत जाना, विचारमें भी कहीं डूब मत जाना। यह चोरोंका ग्राम है, कहीं घोड़ा चोरी न चला जाय।

अफीमची इतना कहकर, दूसरा अंटा चढ़ाकर ऊँघने लग गया और नौकर विचारमें मग्न हो गया। फिर पीनक उतरी, तो अफीमची बोला—नौकर !

नौकर—जी हाँ !

अफीमची—क्या कर रहा है ?

नौकर—विचार कर रहा हूँ।

अफीमची—क्या विचार कर रहा है ?

नौकर—अजी, यह विचार कर रहा हूँ कि वटके छोटेसे बीजमें से इतना बड़ा वटका वृक्ष कहाँसे आ जाता है ?

अरे भाई विचार छोड़ दे, जा, रात्रि हुई, घोड़े पर निगाह रख। पहलेकी भाँति इतना कहकर अफीमची ऊँघमें पड़ गया और नौकर अपना काम करने लगा। तीसरी बार अफीमची चौंक कर बोला—नौकर !

नौकर—जी हाँ !

अफीमची–क्या कर रहा है ?

नौकर–अजी, कर क्या रहा हूँ, एक-न-एक विचार जीमें आ ही जाता है। मनको रोकता हूँ, तो नींद आने लगती है अथवा विचार आने लगता है, विचार कर रहा हूँ।

अफीमची–क्या विचार कर रहा है ?

नौकर–अजी ! यही विचार कर रहा हूँ कि पहले वृक्ष हुआ या पहले वीज हुआ ? समझमें नहीं आता कि कौन पहले हुआ ?

नौकरसे 'जागता रह' कहकर अफीमची फिर ऊँघने लगा और थोड़ी देर वाद बोला—नौकर ! नौकर !! नौकर !!! उत्तर न पाकर बोला—अरे ! क्या कर रहा है ? सो गया क्या ?

नौकर–अजी सो तो नहीं गया, विचार कर रहा हूँ।

अफीमची–अव क्या विचार कर रहा है ?

नौकर–अजी ! गजव हो गया ! घोड़ा चोरी चला गया ! विचार कर रहा हूँ कि घोड़ेका जीन आप ले चलेंगे अथवा मुझे ले जाना पड़ेगा ?

अफीमचीके नौकरके समान एक विचारशील मनुष्य था, उसका स्वभाव विचार करनेका था। किसी मन्दिरके फाटकपर लिखे हुए उपर्युक्त शीर्षकको देखकर विचार करने लगा—

यह किसने लिखा है ? लिखा हुआ तो किसी विद्वान्‌का प्रतीत होता है, परन्तु इसका अर्थ मेरी समझमें नहीं आता ? यह वाक्य क्या है ? यह तो एक पहेली है—अबूझ पहेली है ! लिखा है–'कुछ है, कुछ नहीं है, फिर भी कुछ है ही ! कुछ हो, कुछ न हो और फिर भी कुछ हो ही, ऐसी वस्तु तो आज तक कोई मेरे देखनेमें नहीं आई ? कभी-कभी भ्रम तो हो जाता है। वह यह कि रहती तो है रस्सी, पर रस्सीके वदले दिखाई देता है सर्प। अथवा रहती तो है शुष्क मरुभूमि, पर भ्रमसे दिखाई देता है जल। कहीं ऐसा हो तो कुछ कहना नहीं है। हाँ, हाँ, ऐसा ही है। भ्रमसे सर्प कुछ है ऐसी प्रतीति होती है, पीछे भ्रम दूर होनेपर जो सर्प कुछ था, वही कुछ नहीं हो जाता है। परमार्थसे वह सर्प कुछ नहीं हो, ऐसा नहीं है; किन्तु है ही। सर्प तो नहीं है, परन्तु रस्सी तो है ही। रस्सीको कुछ नहीं है,

ऐसा नहीं कह सकते, किन्तु है ही, ऐसा भी कहना होगा। इससे सिद्ध हुआ कि अधिष्ठानके विना भ्रम नहीं होता और न हो ही सकता है। यदि रस्सी न हो, तो सर्प आदिका भ्रम होना असंभव है। रस्सी हो, तभी सर्पका भ्रम हो सकता है। अब कुछ है, कुछ नहीं है, फिर भी कुछ है ही, यह पहेली तो वूझ ली गई—जान ली गई। परन्तु मन्दिरके फाटकपर यह क्यों लिखी गई है, यहां इसके लिखनेका अभिप्राय क्या है? यह समझमें नहीं आता। इसमें कुछ गूढ़ रहस्य है।

कहीं इस मन्दिरके लिए ही तो यह नहीं लिखा है कि यह मन्दिर कुछ है, कुछ नहीं है, फिर भी कुछ है ही? कहीं यह मन्दिर भी तो रस्सीमें सर्पके समान किसी अधिष्ठानमें अध्यस्त नहीं है? विचार करना चाहिए कि यह कुछ है, या कुछ नहीं है? यदि कुछ है, तो क्या है? मन्दिर दीखता तो प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष तो भ्रमकालमें सर्पका भी होता है। क्या उसीके समान यह भी मिथ्या तो नहीं है? नहीं मिथ्या नहीं है, सामने खड़ा है, सब लोग इसे मन्दिर कहते हैं, सव यहां दर्शन करने आते हैं, वैठते-उठते हैं। लाख दो लाख रुपये इसकी तैयारीमें लगे होंगे, जब इसकी प्रतिष्ठा हुई होगी, तो हजार दो हजार साधु-ब्राह्मण जिमाये गये होंगे। जबतक यह मन्दिर वना रहेगा, तबतक इसका बनानेवाला स्वर्गमें स्वर्गके दिव्य भोग भोगेगा, ऐसा शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। यहां भी बनानेवालेकी, जबतक यह मन्दिर है, तबतक और पीछे भी कुछ कालतक, कीर्ति गाई जायगी, तब यह मिथ्या कैसे है? सच्चा ही है, बावन तोले बावन रत्ती सच्चा है, सोलह आने सच्चा है। निश्चय सच्चा है, विचार की आवश्यकता नहीं है।

नहीं, नहीं! गुरु महाराजने तो मुझे यह मंत्र दिया है कि विना विचारे कोई कार्य मत करो और विना विचारे किसी वस्तुको सच्ची मत मानो। लोकमें भी कहावत है कि—'विना विचारे जो करे सो पीछे पछताय' विद्वानोंका वचन है—विचार परम तप है, विचार परम बल है, विचार परम धर्म है, विचार ही ज्ञान है और विचार ही योग है, इस वाक्यसे भी मुझे विचार करना चाहिए।

सुनता हूँ कि नाम और रूप—आकार—मिथ्या होते हैं, जैसे घटका नाम

घट और घटकी आकृति गोलपेट आदि मिथ्या हैं और वस्तुरूप मिट्टी सच्ची है। इसी प्रकार मन्दिरका नाम मन्दिर और मन्दिरका आकार तो कल्पित हैं ही, परन्तु वस्तु क्या है ? वस्तु तो इसमें ईंट, पत्थर, लोहा और लकड़ी है, क्योंकि यदि मन्दिर सच्चा माना जायगा, कल्पित नहीं माना जायगा, तो ईंट, पत्थर आदि सच्चे नहीं रहेंगे। परन्तु ईंट, पत्थर आदि सच्चे हैं ही, उनमें भी मन्दिरके नाम और रूपकी कल्पना है, इसलिए ईंट, पत्थर आदि सच्चे हैं, और मन्दिर कल्पित होनेसे मिथ्या है, यह सिद्ध हुआ। ईंट, पत्थर आदि पृथिवीके विकार हैं, पृथिवीसे भिन्न नहीं हैं, पृथिवी ही हैं। इसलिए ईंट, पत्थर आदि पृथिवीमें कल्पित होनेसे मिथ्या हैं, पृथिवी ही सच्ची है। तब मन्दिर कहाँ है ? पृथिवी ही मन्दिरके आकारसे भासती है, इसलिए मन्दिर नहीं है। सुना है कि प्रलयमें पृथिवी अपने परमाणुओंमें लीन हो जाती है, तब पृथिवी ही कहाँ रहती है ? परमाणु ही सच्चे रहे। पृथिवी नहीं है, परमाणु ही हैं। परमाणुको आजतक किसीने देखा नहीं है, परमाणुका स्वरूप यह है कि जो देखनेमें न आवे और जिसका आकार नहीं है, वह परमाणु है। परमाणु क्या, अणु भी देखनेमें नहीं आता। जब द्व्यणुक त्र्यणुक होता है, तब अणुकी कल्पना की जाती है, क्योंकि अणुकी उत्पत्ति अनणु परिमण्डलसे बतलाई जाती है। अनणुमें से अणुका उत्पन्न होना ही असंभव है, क्योंकि जो अणु न हो वह अनणु है। भला जो अणु नहीं है, उसमें से अणु कैसे उत्पन्न हो सकता है ? नहीं हो सकता। इसलिए अणु नहीं है। जब अणु नहीं है, तब अणुओं की बनी हुई पृथिवी भी नहीं है। जब पृथिवी नहीं है, तब इसी न्यायसे अन्य चार भूत भी नहीं हैं। इसलिए यह ब्रह्माण्ड ही नहीं है। जैसे ब्रह्माण्ड नहीं है, वैसे ही पिण्ड भी नहीं है। इसलिए यह सब जो कुछ है, अब कुछ नहीं है, क्योंकि भ्रम है। भ्रम अधिष्ठानके बिना नहीं हो सकता, इसलिए इस भ्रमका अधिष्ठान ब्रह्म ही सच्चा है। तब तो कुछ है ही, इसलिए ठीक कहा है—कुछ है, कुछ नहीं है, फिर भी कुछ है ही ?

अहा हा ! 'यह सब ब्रह्म ही है' इस श्रुतिका अर्थ आज मेरी समझमें आया कि यह सब जो कुछ दिखाई देता है, ब्रह्मके सिवा कुछ नहीं है, सब ब्रह्म ही है। जैसे रज्जुमें दिखाई देनेवाला सर्प, रज्जुके सिवा कुछ नहीं है, रज्जु ही है अथवा जैसे मरुभूमिमें दिखाई देनेवाला जल मरुभूमिसे

भिन्न नहीं है, मरुभूमि ही है वैसे ही ब्रह्ममें दिखाई देनेवाला यह जगत् ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, ब्रह्म ही है, इसलिए श्रुति ठीक कहती है कि यह सब ब्रह्म ही है। जगत्को साधारण मनुष्य कुछ कहते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, फिर भी जगत्में अनेक अवयव तो देखनेमें आते हैं, जैसे आकाशादि पञ्च भूत, शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ, महत्, अहंकार आदि विकृति, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे आदि ज्योतियाँ इत्यादि अवयव तो अनेक हैं, परन्तु अवयवी कोई देखनेमें अथवा जाननेमें नहीं आता, इसलिए भ्रम होनेसे कुछ नहीं हैं। जैसे गवर्नमेन्टको आजतक किसीने देखा नहीं है, फिर भी गवर्नमेन्ट नाम लोकमें प्रसिद्ध तो है ही, क्योंकि उसके अवयव मंत्री आदि देखनेमें आते हैं, फिर भी अवयवीरूप गवर्नमेन्टका नाम ही नाम है, वस्तुतः वह कोई नहीं है। किसी एक अवयवको भी गवर्नमेन्ट कह सकते हैं और सब अवयवोंको भी उसी नामसे पुकार सकते हैं, इसलिए अवयवोंके सिवा कोई अवयवी भिन्न सिद्ध नहीं होता। इसलिए जैसे गवर्नमेन्ट कुछ है और कुछ नहीं है, इसलिए भ्रम है, इसी प्रकार जगत् कुछ है और कुछ नहीं है—दोनों होनेसे कल्पना—भ्रम—है।

परन्तु कल्पना अधिष्ठानके बिना नहीं हो सकती। जैसे रज्जुके बिना सर्पकी कल्पना—भ्रम—नहीं हो सकती वैसे ही जगद्रूप भ्रमकी कल्पना स्वयं ब्रह्मके बिना नहीं हो सकती, इसलिए सत् ब्रह्म जगत्का अधिष्ठान है, वही कुछ है और कुछ होनेसे सत्य है। श्रुति कहती है कि यह आत्मा ब्रह्म है। आत्मा नाम आपका है, इसलिए आप ब्रह्म है और ब्रह्म आप है। आप और ब्रह्म दोनों एकके ही नाम हैं, क्योंकि ब्रह्म यदि आप न हो, तो अन्य हो जाय। अन्य होनेसे जड़ हो जाय। श्रुति ब्रह्मको चेतन बतलाती है। 'प्रज्ञान ब्रह्म है', 'सत् ब्रह्म है, चित् ब्रह्म है' इत्यादि अनेक श्रुतियाँ प्रमाण हैं, इसलिए ब्रह्म आत्मा है। यदि आत्मा ब्रह्म न हो, तो परिच्छिन्न हो जाय, क्योंकि ब्रह्म नाम व्यापकका है। जो ब्रह्म न हो, वह व्यापक भी नहीं हो सकता है, परन्तु आत्मा—आप—व्यापक है, क्योंकि आजतक आत्मा—आप—का अभाव किसीने नहीं देखा है। सोनेमें, स्वप्नमें, जागनेमें, उत्पत्तिमें, स्थितिमें और प्रलयमें आत्माका—आपका—अभाव नहीं होता। यदि आत्माका अभाव हो, तो जन्म-मरण आदिको कौन जाने—कौन प्रकाश करे? आत्मा जगत्के भावका और अभावका प्रकाशक है, इसलिए वह सर्वत्र, सर्वदा विद्यमान है। अतएव वह अपरिच्छिन्न है और अपरि-

च्छिन्न होनेसे ब्रह्म है। 'मैं' शब्दका अर्थ भी यह आत्मा ही है, इसीलिए श्रुति कहती है—'तेरा वह आत्मा ब्रह्म है' 'मैं ब्रह्म हूँ' आज तक म 'मैं' का अर्थ देह समझता था, इसलिए मुझे जगत् दिखाई देता था। आज गुरु और शास्त्रकी कृपासे मेरी समझमें आ गया है कि मैं देह नहीं हूँ, किन्तु आत्मा—ब्रह्म—ही हूँ, इसलिए सर्वत्र पूर्ण हूँ, मेरे सिवा अन्य कुछ नहीं है, जो कुछ है, मैं ही हूँ। जो कुछ देखने, सुनने, छूने, चखने, सूँघने, और जाननेमें आता है, सब मैं ही हूँ, अन्य कुछ नहीं है। कुछ, कुछ नहीं—सत् और असत्से रहित मैं ही कुछ हूँ, तब तो 'कुछ है ही' यह अन्तका परमार्थ कुछ मैं ही रहा।

भाई मन! क्या सुना? क्या समझा? अफीमचींके नौकरका तो घोड़ा ही चोरी चला गया था, इस विचारशीलका जगत् ही चोरी चला गया। नौकरको तो घोड़ेके बोझके ले जानेकी चिन्ता रह गई थी कि मैं बोझा ले चलूँगा या मालिक ले चलेगा। उक्त विचारशीलको तो कोई चिन्ता ही नहीं रही, क्योंकि जबतक संसार सच्चा प्रतीत होता रहता है, तबतक दौड़-धूप होती रहती है। जहां संसार गया, वहीं चिन्ता कर्पूर हो जाती है। श्रुति कहती है—'एकत्व देखनेवालेको शोक कहां और मोह कहां?' जबतक द्वैत दिखाई देता है तबतक ही शोक, मोह, चिन्ता, भय, ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि हैं। पीछे तो ऐसे भाग जाते हैं, जैसे राजाके मरनेसे सेना भाग जाती है। द्वैतदर्शनसे शोक, मोह आदि दुःख देते हैं और अद्वैतदर्शनसे वे दुःख नहीं देते, किन्तु सुख देते हैं, क्योंकि वे दिखाई ही नहीं देते हैं। यदि दिखाई देते हैं, तो मिथ्या दिखाई देते हैं। इसलिए भाई मंसाराम! यदि तू सुख चाहता है अर्थात् सुखी होनेकी—सर्वदाके लिए सुखी होनेकी—तुझे इच्छा है, तो नित्य निरन्तर अद्वैतदर्शनका अभ्यास किया कर। भगवान् तो गीतामें कहते हैं—'कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म जो देखता है, वह बुद्धिमान् है, युक्त है और कृत्स्नकर्मकृत् है'। वेदवेत्ता कहते हैं—'जगत्में ब्रह्म और ब्रह्ममें जगत् जो देखता है, वह कमलके पत्तेके समान, कर्म करता हुआ भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता'। भाई मन! तू तो जगत्को छोड़ दे, जगत्में मत भटक, अपनेमें—मनमें—आत्मा और आत्मामें अपनेको—मनको—देखा कर, अपना आत्मामें लय कर दे, अपनेको मिटाकर आत्मा—आप—ही हो जा यह भी यदि तू नहीं कर सकता है, तो निम्नलिखित पदोंको एकाग्रचित होकर पढ़ा कर।

ब्रह्मात्मदर्शन—

(१)

यह दृश्य जो है दीखता, ना ब्रह्मसे कुछ अन्य है ।
ज्यों रज्जुसर्पित रज्जु ही है, रज्जुसे ना भिन्न है ॥
यह भूमिमें अध्यस्त जल, ज्यों जल नहीं मरुमात्र है ।
त्यों ब्रह्ममें अध्यस्त जग, जग है नहीं चिन्मात्र है ॥

(२)

सो जायँ या मर जायँ जब, तब द्वैत नाहीं भासता ।
मूर्च्छा समाधी माँहि भी, पाता नहीं इसका पता ॥
मनका रचा है भेद यह, मन हो तहाँ ही देखता ।
होता नहीं है मन जहाँ, तहँ विश्व होता ला-पता ॥

(३)

यह विश्व तबतक भासता, मन माँहि जबतक वासना ।
पाता नहीं इसका पता, जब होय मन निर्वासना ॥
अद्वैतदर्शनयोगसे यह द्वैत जब मिट जाय है ।
होता तभी नर है सुखी, शिवतत्त्वमें डट जाय है ॥

(४)

अद्वैत कीजे भावना, अद्वैतदर्शन कीजिए ।
अद्वैतकी लीजे शरण, भ्रम-भेद सब तज दीजिए ॥
अद्वैतका कीजे श्रवण, अद्वैतका कीजे मनन ।
अद्वैतमें मन दीजिए, हो जायगा मन शुचि अमन ॥

(५)

हो जायगा जब मन अमन, तब द्वैतलय हो जायगा ।
ना भेद भासेगा कहीं, भयका विलय हो जायगा ।
ना शोक नाहीं मोह ही, फिर दुख कभी दिखलायगा ।
निर्द्वन्द्व भोला हो सके, सुख-नींदमें सो जायगा ॥



ब्रह्मतत्त्व निर्विशेष ही है

(लेखक—पण्डितवर श्रीचण्डीप्रसादजी शुक्ल)

पूर्व लेखमें 'ब्रह्मतत्त्व श्रुति, अनुमिति आदि प्रमाणोंसे सिद्ध है, यह बात दिखाई गई है। इस लेखमें वह ब्रह्म निर्विशेष ही है, यह यथाशक्ति दिखलानेका प्रयत्न करेंगे। वेदान्तवेद्य ब्रह्म निर्विशेष एवं निश्शरीर है, क्योंकि 'अस्थूलमनण्व-ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रम-वागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन' (बृ० ३।८।८) (वह अक्षर—ब्रह्म—स्थूल, अणु, ह्रस्व और दीर्घ नहीं है, रक्त रूप तथा स्नेह गुणसे रहित है, छाया तथा तमोरूप नहीं है, तेज और वायु नहीं है, रस तथा गन्धसे रहित है, चक्षु, श्रोत्र, वाक् और मनकी वृत्तिसे रहित है, प्राण और मुखसे रहित है, अमातृ—मेयका नापनेवाला नहीं है, भीतर ही और बाहर ही नहीं है, किन्तु (सब जगह पूर्ण है, वह कुछ खाता नहीं है, न उसको कोई खाता है), 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ० ३।१५) (वह ब्रह्म शब्द, स्पर्श और रूपसे रहित और अव्यय है,) 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मुण्डक २।१।२) (स्वप्रकाश, अपरिच्छिन्न, बाहर ही नहीं, भीतर ही नहीं, किन्तु कृत्स्न अज—नित्य वह ब्रह्म है), 'तदेतद् ब्रह्म अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१९) (उसका पूर्व—कारण नहीं है, अर्थात् वह कार्य नहीं है, उसका पर—कार्य नहीं है, अनन्तर—सजातीय अन्य उससे नहीं है, बाह्य—विजातीय अन्य भी उससे नहीं है, वह आत्मा है, वह ब्रह्म है, सबका साक्षी—प्रकाशक है)। इन श्रुतियोंसे ब्रह्म निर्विशेष—निर्गुण और अशरीर है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

प्रश्न—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्य-केशः' (जो यह आदित्यमण्डलके भीतर हिरण्यके तुल्य उज्ज्वल श्मश्रुकेश-वाला पुरुष योगियोंको दीखता है) तथा 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (जो यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष योगियोंको दीखता है) ऐसा आरम्भ कर 'एष उ एव वामनीः' (यही कर्मका फलका दाता है) 'एष उ एव भामिनीः' (यही आदित्यादिरूपसे जगत्में भासता है)। तथा 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति' (जो पृथिवीमें स्थित और उसके भीतर विद्यमान है। पृथिवी देवता जिसको नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है और पृथिवीका जो नियमन करता है) इन श्रुतियोंसे दिव्य शरीर और कल्याण गुणवाला ईश्वर है, यह प्रतीत होता है। फिर वह निर्विशेष ही और निश्शरीर ही कैसे है ?

उत्तर—ठीक है, इन स्थलोंमें ईश्वरके शरीरका तथा विशेष गुणोंका कथन आया है ? परन्तु 'योऽसौ आदित्ये पुरुषः सोऽहमस्मि' 'सैवक् तत्साम तदुकथम्' 'एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः' इत्यादि श्रुतियोंसे इन स्थलोंमें अभेदका भी प्रतिपादन किया गया है। भाव यह है कि ईश्वरका जीवके साथ वाच्यार्थ लेकर अभेद नहीं होगा, किन्तु लक्ष्यार्थ शुद्ध चैतन्य लेकर ही होगा, अतः सब वाक्योंका मुख्य तात्पर्य निर्विशेष चैतन्यमें ही है। सविशेष चैतन्यमें तात्पर्य किसी भी वाक्यका नहीं है।

प्रश्न—जब सविशेषमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है, तब सविशेषका श्रुतिमें कथन क्यों किया गया है, हम तो कहते हैं कि सविशेष और निर्विशेष दोनोंका श्रुतिमें कथन है, इससे दोनोंमें श्रुतिका तात्पर्य है। अन्यथा सविशेषप्रतिपादक श्रुति व्यर्थ हो जायगी और श्रुतिका वैयर्थ्य होना इष्ट नहीं है ?

उत्तर—जैसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंका ब्रह्मात्मैक्यमें ही भाग-त्याग-लक्षणासे तात्पर्य है और उसकी सिद्धिके लिए लोकसिद्ध ईश्वर और जीवका अनुवादमात्र किया गया है, उनके प्रतिपादनमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है, वैसे ही 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' 'एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः' इत्यादि वाक्यका भी ऐक्यमें ही भाग-त्याग-लक्षणासे तात्पर्य है, और उसकी सिद्धिके लिए लोकसिद्ध अन्तर्यामीका अनुवादमात्र है, भेदमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है।

प्रश्न—जो सविशेषप्रतिपादक श्रुतियाँ ब्रह्मात्मैक्य-प्रतिपादनके प्रकरणमें हैं, उनका सविशेषमें तात्पर्य न हो और वे ऐक्य-प्रतिपादनके अंग भले ही हों, परन्तु जो सविशेष-प्रतिपादक श्रुतियाँ ऐक्यप्रकरणमें नहीं हैं, उनका सविशेषमें तात्पर्य क्यों न माना जाय ? क्योंकि यदि उनको सविशेषपरक न मानें, तो वे व्यर्थ हो जायँगी। निष्कर्ष यह है कि 'स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्पः' (वह शमगुणयुक्त पुरुष मनोमय, प्राणशरीर अर्थात् मन और प्राणसे युक्त स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप सत्यसङ्कल्प ब्रह्मकी उपासना करे) इत्यादि श्रुतिवाक्य सविशेष ब्रह्मका ही प्रतिपादक है, अतः एवंविध श्रुतियोंका वैयर्थ्य न हो, इसलिए ब्रह्मको सविशेष भी मानना ही पड़ेगा, इससे ब्रह्म निर्विशेष ही है, यह कथन युक्त नहीं है।

उत्तर—इन श्रुतियोंका भी सविशेष ब्रह्ममें तात्पर्य नहीं है, किन्तु सविशेष ब्रह्मकी उपासनामें तात्पर्य है। और यदि उपासनामें तात्पर्य है, तो उसके विषय ब्रह्ममें भी तात्पर्य है, यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे 'वाचं, धेनुमुपासीत' (धेनुरूपसे वाणीकी उपासना करे) यहाँपर आरोपित धेनुरूपसे वाणीकी उपासना है वैसे ही आरोपित सविशेषरूपसे भी ब्रह्मकी उपासना हो सकती है फिर ब्रह्मको वास्तविक सविशेष मानना युक्त नहीं है, क्योंकि

ब्रह्मके सविशेष और निर्विशेष दोनों रूपोंको मानना असंगत है, क्योंकि लोकमें परस्पर विरुद्ध दो रूप एकमें कहींपर भी नहीं देखे जाते हैं। भावार्थ यह है कि उपनिषद्में कहीं-कहींपर निर्विशेष ब्रह्मका कथन आता है और कहीं-कहींपर सविशेष ब्रह्मका भी कथन आता है और ब्रह्मके परस्पर विरुद्ध उभय रूप मान नहीं सकते, इसलिए एक रूपको पारमार्थिक और दूसरे रूपको अपारमार्थिक मानना होगा। इस परिस्थितिमें यह विचारना चाहिए कि निर्विशेष ब्रह्मके प्रतिपादक वचनका तात्पर्य निर्विशेष ब्रह्ममें ही है, अन्यत्र नहीं है। और सविशेष ब्रह्मके प्रतिपादक वचनोंका तात्पर्य उपासनामें है, सविशेष ब्रह्ममें नहीं; क्योंकि आरोपितरूपसे भी 'वाचं धेनुमुपासीत' इसके समान आरोपित रूपसे उपासना हो सकती है, अतः 'तत्पराणि वाक्यानि अतत्परवाक्येभ्यः प्रबलानि' इस न्यायके अनुसार निर्विशेषपरक वचन सविशेषपरक वचनको बाध लेंगे और निर्विशेषमें उपनिषद्का तात्पर्य प्रामाणिक माना जायगा। यह बात—'अरूपवदेव तत्प्रधानत्वात्' (।३।२।१४।) [ब्रह्म अरूप अर्थात् अशरीर निर्गुण ही है, क्योंकि निर्विशेषप्रतिपादक वचन निर्विशेषब्रह्मतात्पर्यक हैं। इससे यदि ब्रह्मको निर्विशेष न मानें, तो वे व्यर्थ हो जायेंगे] इस सूत्रमें महर्षि व्यासने स्पष्ट ही कही है।

यहाँपर यह भी विचारना चाहिए कि यदि ब्रह्मको वृत्तिकार बोधायन मुनिके मतानुयायियोंके अनुसार तथा महाशैव नीलकण्ठादिके अनुसार केवल सशरीर सगुण ही मानें अर्थात् केवल वैकुण्ठनिवासी मेघश्याम पीतकौशेयवासा आदि विशेषणोंसे विशिष्ट तथा कर्पूरगौर, पञ्चवक्त्र, त्रिनेत्र आदि विशेषणोंसे युक्त ही मानें, निर्गुण निश्शरीर न मानें, तो उस सशरीर सगुण ब्रह्मका 'मेघश्यामं पीतकौशेयवासम्' 'कर्पूरगौरम्' इत्यादि वचनों द्वारा कथन हो ही सकता है फिर 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते प्राप्य मनसा सह', 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' 'न सत् तन्नासदुच्यते' (गी० १३।१२) 'स होवाच अधीहि भो इति स तूष्णीं बभूव तं ह द्वितीये तृतीये वा वचने उवाच ब्रूमः त्वं न विजानासि उपशान्तोऽयमात्मा' इत्यादि श्रुति और स्मृति निर्विषय—निरर्थक—हो जायँगी। इससे भगवान् शङ्करावतार आचार्यचरण श्रीशङ्करके मतानुसार ब्रह्मको परमार्थमें निर्गुण निश्शरीर मानना चाहिए और अनादि अनिर्वचनीय मायारूप उपाधिके वश सशरीर और सविशेष भी मानना चाहिए। ऐसा माननेसे दोनों प्रकारके वचन सार्थक हो जायँगे। ब्रह्ममें सविशेषता और सशरीरता मायाकृत है, स्वाभाविक नहीं है। यह बात—

'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद!।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां मन्तुमर्हसि ॥'

इस श्लोकमें विश्वरूपधारी नारायणने साफ-साफ कही है।

और मोक्षशास्त्रमें—

'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपो भिन्ना वहुधैकोऽनुगच्छन् ।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोयमात्मा ॥'

जैसे तेजस्स्वरूप सूर्य भिन्न-भिन्न जलमें प्रतिविम्वित होकर अनेकरूप हो जाता है, वैसे ही एक देव परमात्मा क्षेत्रमें प्रतिविम्वित होकर अनेकरूप हो जाता है।

'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा वहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥'

सत्य परमात्मा एक ही है, परन्तु प्रतिशरीर प्रतिविम्वित होकर जलचन्द्रके तुल्य एकधा वहुधा दीखता है, अर्थात् जैसे एक ही चन्द्र जलमें अनेकरूप दीखता है, वैसे ही एक ही परमात्मा देहभेदसे अनेकरूप दीखता है। इन वचनोंसे परमात्माको सूर्य और चन्द्रकी उपमा दी गई है। इस उपमासे उपदेशका यही अभिप्राय है कि परमार्थमें परमात्मा एक तथा निर्विशेष है और उपाधिसे अनेक एवं सविशेष हो जाता है।

प्रश्न—ब्रह्म परमार्थमें निर्विशेष ही है, परन्तु मायारूप उपाधिसे सविशेष और सशरीर हो जाता है, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि मायाके अस्तित्वमें कुछ प्रमाण नहीं है। इसीसे—

'इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितः ।
मूलत्वात् प्रकृतिः प्रवोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता ॥'

इस कारिकामें श्रीउदयनाचार्यने जीवोंके अदृष्टको अन्य सहकारियोंसे विलक्षण होनेसे शक्ति, दुर्विभाव्य कार्य-कारी होनेसे माया, मूल कारण होनेसे प्रकृति और ज्ञाननाश्य होनेसे अविद्या कहा है?

उत्तर—अदृष्ट ही माया है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (वृ० २।५) (इन्द्र—परमात्मा—मायासे अनेकरूप हो जाता है)

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।'
'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम् ।'

माया जगत्की कारण है और उसका स्वामी ईश्वर है और 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' (सृष्टिके पहिले अर्थात् प्रलयकालमें तम (माया) ही था, यह जगत् उसमें लीन था) इत्यादि श्रुति और स्मृति अदृष्टसे पृथक् मायाके अस्तित्वमें प्रमाण हैं।

माया परमेश्वरकी ज्ञानशक्ति ही है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः' (अन्तमें फिर सव माया निवृत्त हो जाती है)।

'तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन् निवेशिते ।
योगी मायाममेयाय तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥'

(जिस परमेश्वरका हृदयमें ध्यानकर योगी वितत मायाको—अविद्याको—पार कर जाते हैं, उस अमेय परमात्माको नमस्कार है) इन वचनोंमें माया नाश्य और अविद्या कही गई है । भगवान्का ज्ञान न नाश्य है और न अविद्या ही है । 'तम' शब्द ज्ञानके अभावको कहता है, यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि 'न असदासीत्' इस श्रुतिमें प्रलयकालमें अभावका निषेध किया गया है और ज्ञानाभाव भी अभाव ही है ।

प्रश्न—'स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' जैसे यहाँपर उपासनाविधिके शेषरूपसे मनोमयत्वादि गुणोंसे युक्त ईश्वरका कथन है, प्राधान्यसे नहीं। यह आप (वेदान्ती) कहते हैं, वैसे ही हम भी कह सकते हैं कि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस दर्शनादिरूप प्रतिपत्तिविधिके शेषरूपसे ही 'अस्थूलमनणु' इत्यादि वचन निर्विशेष ब्रह्मका कथन करते हैं, प्रधानरूपसे नहीं । इससे निर्विशेष ब्रह्ममें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है फिर निर्विशेष ब्रह्म कैसे सिद्ध होगा ?

उत्तर—कर्म और ब्रह्मविद्याके फल स्वर्ग और मोक्ष परस्पर विलक्षण हैं, कर्मफल स्वर्ग अनित्य है, क्योंकि 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' (पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गी जीव फिर मर्त्य लोकमें आ जाते हैं) इत्यादि वचनसे स्वर्ग अनित्य प्रतीत होता है और कर्मफलमें अतिशय भी देखा जाता है, क्योंकि मनुष्यसे चतुर्मुख ब्रह्मा तक प्रत्येकमें न्यूनाधिकसे सुख प्रतीत होता है । और ब्रह्मविद्याका फल मोक्षकी—नित्य सुखरूप आत्माकी—प्राप्ति नित्य है तथा अतिशयसे रहित है। वह यदि प्रतिपत्तिविधि-नियोगसे (अपूर्वसे) जन्य माना जाय, तो अनित्य हो जायगा और मोक्षको सभी मोक्षवादी नित्य मानते हैं, क्योंकि नित्यत्वकी साधक 'न स पुनरावर्त्तते न स पुनरावर्त्तते' यह श्रुति है । इससे प्रतिपत्तिविधिके शेषरूपसे ब्रह्मका उपदेश है, यह कथन युक्त नहीं है । और यह भी विचारना चाहिए कि जैसे यागके अनुष्ठानसे नियोग—अपूर्व—और उससे स्वर्ग फल होता है, वैसे ही यदि प्रतिपत्तिके अनुष्ठानसे अपूर्व और उससे मोक्ष माना जाय, तो जैसे जन्मान्तरमें स्वर्ग होता है, वैसे ही जन्मान्तरमें मोक्ष होगा, इस जन्ममें मोक्ष नहीं होगा । इससे जीवन्मुक्तिकी व्यवस्था नहीं होगी । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' [मुण्डक ३।२।९।] (जिस कालमें ब्रह्मको जानता है उसी कालमें ब्रह्म हो जाता है) और 'तदात्मानमवेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' [बृह० १।४।१०] (अपनेको 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जाना और सर्वात्मा हो गया) 'तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च' [बृ० १।४।१०] (उस ब्रह्मका साक्षात्कार करते हुए वामदेवने देखा कि मैं ही मनु और सूर्य हूँ अर्थात मैं सर्वात्मा हूँ) इन श्रुतियोंसे

ज्ञानके कालमें ब्रह्मात्मभाव–सर्वात्मभाव–रूप मोक्ष प्रतीत होता है मध्यमें नियोगकी—अपूर्वकी—प्रतीति नहीं होती है, न जन्मान्तरमें मोक्ष प्रतीत होता है। 'तिष्ठन् गायति' जैसे यहाँपर स्थिति और गानका समान काल प्रतीत होता है, वैसे ही ज्ञान और मोक्ष दोनोंका समान काल प्रतीत होता है।

और 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति' [प्रश्न० ६।८] (आप ही मेरे पिता हैं, क्योंकि आप मुझे अविद्यारूप सागरके पर पार पहुँचाते हैं अर्थात् मेरी अविद्याकी निवृत्ति करते हैं) इत्यादि वचनोंसे ज्ञात होता है कि ज्ञान भी मोक्षकी प्रतिबन्धक अविद्याकी (अज्ञानकी) निवृत्ति करता है, मोक्षको उत्पन्न नहीं करता है, क्योंकि मोक्ष तो नित्यसुख आत्मस्वरूप होनेसे नित्य है। और इसपर भी ध्यान देना चाहिए कि जो याग, होम आदि क्रिया पुरुषके अधीन हैं जिनके करनेमें पुरुष स्वतन्त्र हैं उनकी ही विधि हो सकती है और जो दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप ज्ञान प्रमाणके अधीन हैं, पुरुषके अधीन नहीं हैं; उनकी विधि नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह है कि चक्षुःसन्निकर्षादि कारण होनेपर पुरुषके न चाहनेपर भी ज्ञान हो जाता है, इससे ज्ञान पुरुषके अधीन न होनेसे उसकी विधि नहीं हो सकती। 'द्रष्टव्यः' इत्यादि तव्य प्रत्यय अर्ह अर्थमें है, विधि अर्थमें नहीं है। जो हित चाहते हैं, परन्तु वास्तविक हितकी राह नहीं जानते और स्वाभाविक प्रवृत्तिमें लगे हैं, उनको स्वाभाविक प्रवृत्तिसे हटाकर आत्मश्रवण आदि श्रेयःपथमें प्रवृत्त कराना, इन वचनोंका लक्ष्य है। इससे यह सिद्ध हो गया कि प्रतिपत्तिकी विधि न होनेसे उसके शेषरूपसे निर्विशेष ब्रह्मका बोध वेदान्त नहीं करते हैं, किन्तु स्वप्राधान्यसे प्रतिपादन करते हैं।

अद्वैत वेदान्त-मतमें परमार्थ सत् निर्विशेष ब्रह्म ही है और उसका साक्षात्कार ही मोक्षका साधन है, क्योंकि 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इस श्रुतिसे ऐसा ही ज्ञात होता है। इससे ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप ब्रह्माभ्यास ही मनुष्य जीवनका मुख्य लक्ष्य है—'तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वञ्च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥' परन्तु जबतक ब्रह्माभ्यासकी योग्यता प्राप्त न हो अर्थात् विवेक, वैराग्य आदि साधन प्राप्त न हों तबतक चित्तके मल (दोष) दूर करनेके लिए नित्य, नैमित्तिक कर्मका अनुष्ठान करना चाहिए और मायारूप उपाधिके वश जो परमात्माका सविशेष रूप है उसकी उपासना करनी चाहिए। जब चित्तका मल और विक्षेपरूप दोष दूर हो जायँ एवं विवेक, वैराग्य आदि साधन प्राप्त हो जायँ तभी निर्विशेष ब्रह्मके साक्षात्कारके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए पहले नहीं, अन्यथा श्रेयः प्राप्त नहीं होगा, यह बात—

'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाऽऽविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥'

(जो पुरुष निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें असमर्थ हैं, अल्पबुद्धि हैं, उनपर करुणा कर भगवती श्रुतिने सविशेष—सगुण—ब्रह्मका निरूपण किया है, सगुण ब्रह्मकी उपासनासे जब उपासकका चित्त स्थिर (वश) हो जाता है, तब उपाधिकल्पनासे रहित वह निर्विशेष ब्रह्म अपने-आप साक्षात् भासने लगता है) इन वचनोंमें साफ-साफ कही गई है। यही अद्वैत वेदान्तका सिद्धान्त है, सनातन धर्मका रहस्य है, संसारसागरसे पार उतरनेके लिए सुदृढ़ विशाल जहाज है और वर्ण-आश्रम-व्यवस्थाका मूल आधार है ।



श्रीरामचरितमें हेमन्त

(लेखक—पण्डित श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी, साहित्यरञ्जन)

श्रीगोस्वामीजीने छवों ऋतुओंमें आनन्दकन्द श्रीरामचन्द्रजीकी कीर्त्तिसरिताकी शोभाका वर्णन किया है। यथा—

हिम हिमसैलसुता-सिव-ब्याहू। सिसिर सुखद प्रभु जनम उछाहू॥
बरनब राम-बिवाहसमाजू। सो मुदमंगलमय रितुराजू॥
ग्रीषम दुसह राम बन गवनू। पंथकथा खर आतप पवनू॥
बर्षा घोर निशाचररारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी॥
रामराज-सुख - बिनय - बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सोहाई॥
कीरति सरित छवों रितु रूरी। समय सुहावनि पावनि भूरी॥

इनमें हिमशैलसुता और शिवजीके विवाहको हिम ऋतु माना है। कविने शिव-पार्वतीके ब्याहको भी रामचरितके अन्तर्गत ही माना, परन्तु स्पष्टरूपसे रामचरित शिशिर ऋतुसे ही आरम्भ होता है और दैवात् मैंने भी शिशिर ऋतुसे ही लिखना आरम्भ किया। शरद्‌में रामराज्यका वर्णन करके श्रीरामचरित समाप्त हुआ। अब यह दिखलाना है कि शिवपार्वतीका ब्याह रामचरितके अन्तर्गत कैसे है?

पहिली बात तो यह है कि श्रीरामजीकी कीर्तिसरिताका बीज शिवपार्वतीके ब्याहमें निहित है। श्रीरामचन्द्रके आरण्य-चरित्रको देखकर सतीको व्यामोह होना ही सतीत्यागका प्रधान कारण है और सतीका ही जन्म पार्वतीरूपमें हुआ। पार्वतीजीका शङ्कर भगवान्‌से ब्याह होनेसे ही उस व्यामोहकी निवृत्तिके लिए श्रीरामकीर्तिसरिताका प्रादुर्भाव हुआ। अतः हिमशैलसुताशिव-ब्याहको रामचरित्रके अन्तर्गत मानना अनुचित नहीं है।

दूसरी बात यह है कि शिवपार्वतीका ब्याह वस्तुतः रामचरित ही है। शङ्कर भगवान्‌ने सतीजीका त्याग किया, उन्होंने दक्षयज्ञमें जाकर शरीर छोड़ा और समय पाकर हिमगिरिके घर जन्म लिया; पर ब्याह कैसे हो? शङ्कर भगवान् प्रतिज्ञा कर चुके हैं—

'सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं। एहि तन सती-भेंट अब नाहीं॥'

अतः अब रामचरित सुनिये:—

नेम प्रेम संकर कर देखा। अबिचल हृदय भगतिकी रेखा॥
प्रगटे रामु कृतज्ञ कृपाला। रूप - सील - निधि तेजबिसाला॥
बहु प्रकार संकरहिं सराहा। अस ब्रत तुम बिनु को निर्बाहा॥

बहुबिधि राम सिवहि समझावा। पारवती कर जन्म सुनावा॥
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥

अब बिनती मम सुनहु सिव, जौं मोपर निज नेहु।
जाइ बिवाहहु सैलजहि, यह मोहि माँगे देहु॥

कह शिव यदपि उचित अस नाहीं। नाथबचन पुनि मेटि न जाहीं॥
सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥
मात पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिय सुभ जानी॥
तुम सब भाँति परम हितकारी। आज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी॥
प्रभु तोषेउ सुनि संकरबचना। भक्ति-बिवेक-धर्मयुत रचना॥
कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ। अब उर राखेहु जो हम कहेऊ॥
अंतरधान भये अस भाखी। संकर सोइ मूरति उर राखी॥

श्रीरामचन्द्रजीके अनुरोधसे ही यह व्याह हुआ, अतः इसका श्रीरामचरित्रके अन्तर्गत होना सभी तरहसे प्राप्त है। अब रही यह बात कि हिमशैलसुताशिव-व्याहमें हिम ऋतुसे कौन-सा साधर्म्य है ?

हिम ऋतुमें दो महीने होते हैं:—(१) मार्गशीर्ष और (२) पौष। इसी भाँति शिवपार्वती व्याहमें भी दो चरित हैं, यथा—

(१) उमा चरित सुन्दर मैं गावा।
(२) सुनहु संभुकर चरित सुहावा॥

हिम ऋतु आते ही संसार कम्पायमान हो उठता है, जीवमात्र जाड़ेसे काँपने लगते हैं। कितना ही कपड़ा पहनिये, कितनी ही रजाई और दुशाला ओढ़िये, पर बिना अग्निके जाड़ाका नाश नहीं होता। सो शङ्कर पार्वतीके व्याहके उपक्रममें ही जाड़ा और आगका सामना पड़ गया। कामको जाड़ेसे और शङ्कर भगवान्को अग्निसे स्वयं भगवती हिमगिरिनन्दनीने ही उपमित किया है, यथा—

तात अनलकर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहि काऊ॥
गये समीप सो अवसि नसाई। अस मनमथ महेस कै नाईं॥

हिम ऋतु कामियोंको अति सुखद है और नित्य कृत्यमे महाविघ्नप्रद है, इस भाँति भी जाड़ाका कामसे साधर्म्य मिलता है। कामरूपी जाड़ाका प्रकोप शङ्कररूपी अग्निपर हुआ, जिसका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं:—

तब आपन प्रभाव बिस्तारा। निज बस कीन्ह सकल संसारा॥
कोपेउ जबहि बारिचरकेतू। छनमहु मिटे सकल स्रुतिसेतू॥
ब्रह्मचर्जब्रत संजम नाना। धीरज धर्म ज्ञान बिज्ञाना॥
सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक-कटक सब भागा॥

छंद—भागेउ विवेक सहाइ सहित सो सुभट संजुग महि मुरे।
सदग्रंथ पर्वत कंदरन्हि महँ जाइ तेहि अवसर दुरे॥
होनिहारका करतारको रखवार जग खरभरू परा।
दुइमाथ केहि रतिनाथ जेहि कहँ कोपि कर धनुसरधरा॥

दो०—जे सजीव जग अचर चर नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजाद तजि भये सकल बस काम॥

सबके हृदय मदन अभिलाखा। लता निहारि नवहि तरु साखा॥
नदी उमगि अंबुधि कहँ धाई। संगम करहिं तलाव तलाई॥
जहँ असि दसा जड़न कै बरनी। को कहि सकै सचेतन्ह करनी॥
पसु पच्छी नभ-जल-थल-चारी। भये कामबस समय बिसारी॥
मदन-अंध व्याकुल सब लोका। निसि-दिनु नहि अवलोकहि कोका॥
देव दनुज नर किन्नर व्याला। प्रेत पिसाच भूत बेताला॥
इन्हकै दसा न कहेउ बखानी। सदा कामके चेरे जानी॥
सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि कामबस भये बियोगी॥

छं०—भये कामबस जोगीस तापस पामरनकी को कहै।
देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे॥
अबला बिलोकहिं पुरुषमय जग पुरुष सब अबलामयं।
दुइ दण्ड भरि ब्रह्माण्ड भीतर कामकृत कौतुक अयं॥

सो०—धरा न काहू धीर सबके मन मनसिज हरे।
जेहि राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महु॥

जाड़ारूपी कामका यह पुरुषार्थ त्रैलोक्यको कम्पायमान करनेमें समर्थ तो हुआ, परन्तु कालाग्निके सदृश रुद्र भगवान्‌को देखते ही सङ्कुचित हो गया, यथा—

सिवहि बिलोकि ससंकेउ मारू। भयेउ जथाथिति सब संसारू॥
रुद्रहिं देखि मदन भय माना। दुराधर्ष दुर्गम भगवाना॥
तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयेउ जरि छारा॥

यह तो हुई मार्गशीर्षकी बात, पौषमें तो अग्निदेव भी मन्दे पड़ गये। कारण यह कि भगवती हिमगिरिनन्दनीके साथ व्याह हो गया। अब तो—

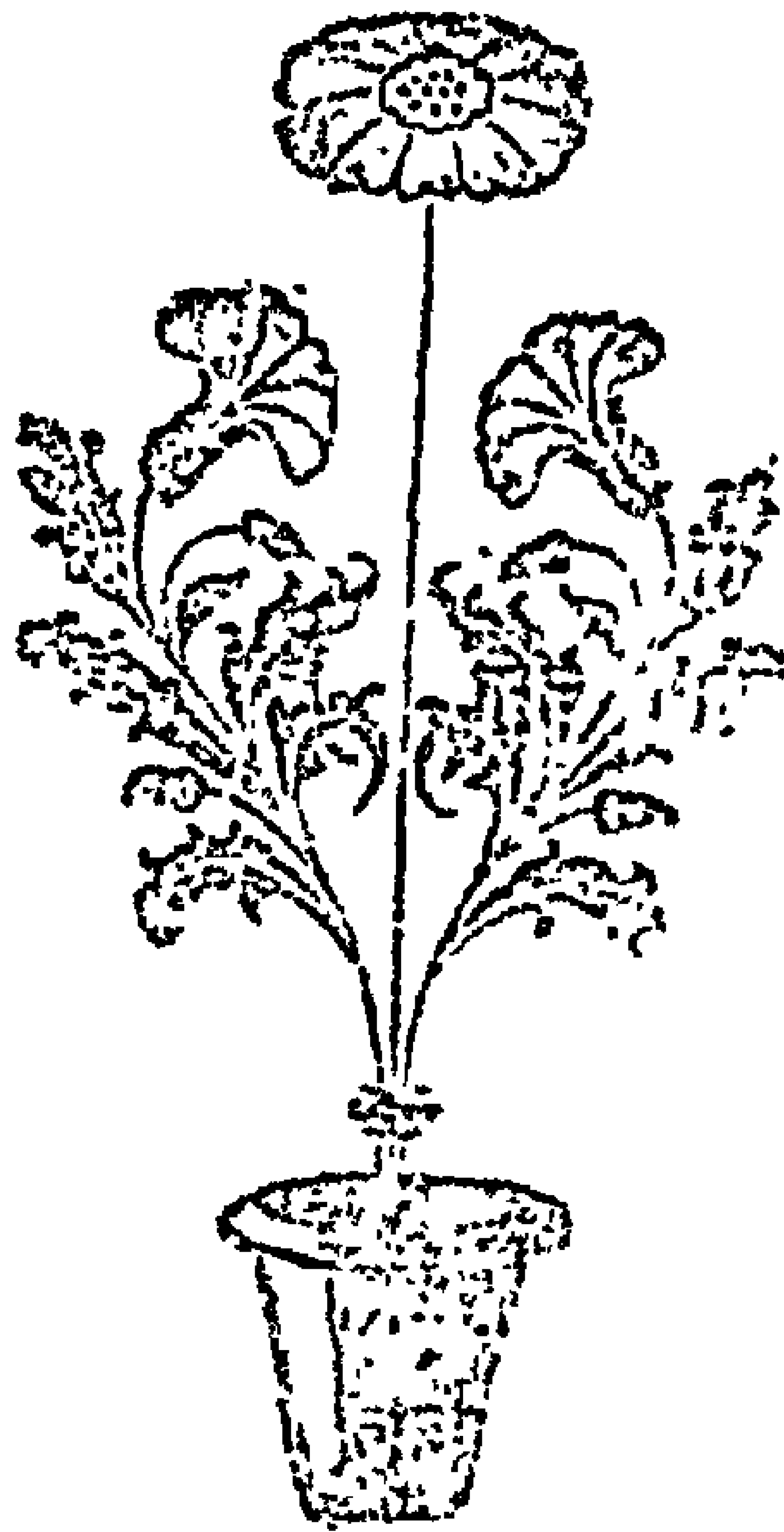
जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहि सिंगारु न कहहूँ बखानी॥
करहि बिबिध बिधि भोग बिलासा। गनन्ह समेत बसहि कैलासा॥
हर-गिरिजा-बिहार नित नयऊ। इहि बिधि बिपुल काल चलि गयऊ॥

तब जनमेउ षटवदन कुमारा। तारक असुर समर जेहि मारा॥
आगम-निगम-प्रसिद्ध पुराना। षण्मुख जन्म सफल जग जाना॥

इस हिम ऋतुकी महिमा भी बहुत बड़ी है, गोस्वामीजी कहते हैं—

'यह उमा-संभु-विवाह जे नर नारि कहहिं जे गावहीं।
कल्याण काज विवाह मंगल सर्वदा सुख पावहीं॥

इस भाँति हिम ऋतुका वर्णन करके मैं अपने पाठकोंसे छुट्टी लेता हूँ। शिशिर ऋतुके वर्णनके समय ही मैं षट्-ऋतु-वर्णनकी प्रतिज्ञामें बँध गया था। सो उमा-महेश्वरकी कृपासे पूरी हुई। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं सेवासे ही विरत हो जाऊँगा, बल्कि इतना ही कि प्रतिज्ञात सेवा यथाकथञ्चित् पूर्ण हुई।



७० करोड़ मनुष्योंका तीर्थ कैलास और मानसरोवर

(ले०—स्वामी भतीतानन्दजी, अखण्डमहादेव, हिमालय)

कैलास हिन्दुओंका सबसे बड़ा तीर्थ है। यों तो सम्पूर्ण हिमालय ही पवित्र मोक्षप्रद और स्वर्गोपम बतलाया गया है, किन्तु उसमें भी कुछ स्थान विशेष पवित्र हैं—जैसे काश्मीरमें अमरनाथ, गढ़वालमें बद्रीनाथ और केदारनाथ, कुँमाऊमें नन्दादेवी आदि। हिमालयमें कैलासपर्वत सबसे पवित्र, सबसे उत्तम, सबसे महान्, साक्षात् शिवका निवास है। पुराण, महाभारत, रामायण आदि पुस्तकोंमें कैलासखण्डका साक्षात् देवलोक, गन्धर्वलोक और किन्नरलोकके नामसे स्मरण किया गया है। उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी कैलासका नाम श्रद्धापूर्वक आया है। लोगोंकी धारणा है कि संसारमें प्रथम गणनीय स्थान कैलास है और पश्चात् इतर जगत्।

अर्जुन, युधिष्ठिर, ययाति आदि महाभारतके देवोत्तर पुरुष इसी कैलास पर्वत द्वारा स्वर्ग पहुँचे थे। तुलसीदासने कैलास और महाभारतको अपने रामचरित्रमानससे भी अधिक पवित्र माना है। डमरुपाणि देवाधिदेव भगवान् शङ्करकी अनन्त समाधिका मुख्य स्थान कैलास ही है। शिवपुराण तो कैलासखण्डकी ही महिमासे ओत-प्रोत है। इतर पुराणोंमें भी इतस्ततः कैलासका वर्णन आया है। संस्कृतके श्रेष्ठ कवि कालिदास, भवभूति आदि भी कैलासका वर्णन किये बिना सुखी नहीं हो सके। नाम-रूपात्मक जगत्में हिन्दू कैलाससे बढ़कर अन्य किसी स्थानको नहीं सोच सकता। २५ करोड़ हिन्दुओंके लिए कैलास जीवनका तत्त्व, जीवनका सार और जीवनका अन्तिम ध्येय है। यूनानियोंके लिए ओलम्पिया पर्वत उतना बड़ा मान नहीं रखता, जितना कि हिन्दुओंके लिए कैलास पर्वत रखता है।

यह पर्वत ४५ करोड़ बौद्धोंका भी तीर्थ है। तिब्बत, चीन, जापान, साइबेरिया और रूस तकके बौद्ध प्रतिवर्ष बड़े-बड़े कष्ट उठाकर इस पर्वतको नमते और इसकी परिक्रमा करते हैं। अभिप्राय यह है कि कैलास पर्वत (तिब्बती नाङ्गला पर्वत) एशियाके धार्मिक तत्त्वका मेरु दण्ड रहा है। कैलास पर्वतका दूसरा नाम मेरु पर्वत भी है, क्योंकि हिन्दुओंके विचारोंसे यह पर्वत जगत्का मेरु दण्ड (Axis) ही है। कैलासके सामने मानसरोवरके पास जहां मान्धाताने घोर तप किया था ? गुरला मान्धाता, जो २५००० फीट ऊंचा है, सुमेरुके नामसे भी प्रख्यात है।

बौद्धकालीन धार्मिक जगत्के इतिहासका कैलास पर्वतसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। कहते हैं—बुद्धदेवने स्वयं इस तीर्थके दर्शन किये थे। भारतीय बौद्धोंने इसी कैलासखण्डके द्वारा समस्त जगत्में बौद्धधर्म्मका प्रचार किया था। तिब्बतमें बौद्धोंका सबसे बड़ा मठ समोयाका मठ है, जिसमें आज दिन भी दस हजार बौद्ध भिक्षु और ब्रह्मचारी रहते हैं। इस मठकी दीवारोंमें बुद्धदेवकी स्तुति संस्कृत भाषामें देवनागरीके सुनहरे अक्षरोंमें अंकित है। इस मठका स्थापक उदयन, दो हजार वर्ष हुए, पाटलीपुत्र (पटना) से कैलासको गया था और वहांसे किसी तिब्बती महात्माके साथ समोया पहुंचा, जो ल्हासासे ऊपर टैङ्गनी नौर झीलके पास है। यहीं मठ स्थापित कर उदयनने मंगोलिया, चीन, जापान और रूस तक बौद्ध धर्म्मका प्रचार किया।

जैनमतानुसार भी कैलास पवित्र है। जैन धर्मके आदि तीर्थंकर ऋषभदेवने इसी कैलास पर्वतपर मुक्ति प्राप्त की थी और यहीं जैनियोंके महामन्त्र प्राप्त किये थे। जैनियोंका 'आदि पुराण' कैलासकी महिमासे भरा हुआ है।

सिक्खोंके प्रायः दसों गुरुओंने कैलास तीर्थकी यात्रा की थी। गुरु गोविन्द-सिंहने कैलासके कई-बार दर्शन किये थे। भारतके वैष्णवसम्प्रदायके सैकड़ों महात्मा कैलासदर्शनसे वञ्चित न रहे। महात्मा एकनाथस्वामीजीने कैलासके दो बार दर्शन किये थे।

कैलासकी महिमा इतनी बड़ी है कि ईसाइयोंके महात्मा सुन्दरसिंहने केवल एक बारके कैलासके दर्शनसे यूरोपभरके ईसाईजगत्में ख्याति प्राप्त कर ली और साधु सुन्दरसिंह जर्मनी, फ्रांस, इङ्गलैण्ड आदि देशोंकी धार्मिक संस्थाओंमें महात्मा सुन्दरसिंहके नामसे प्रसिद्ध हो गये।

कैलासखण्ड हमारे भारतवर्षकी पवित्र नदियोंका उद्गम भी है। श्रीगङ्गाजीका खास कैलास पर्वतके शीर्षसे उतरना बतलाया गया है। यह तो निश्चित ही है कि कैलासके आसपासका कुछ जल गढ़वालमें बद्रीनाथ और केदारनाथके पास भी आता है, इस प्रकार गङ्गाजीका स्रोत कैलासको मानना अयुक्त नहीं है। सिन्धु नदी तो कैलासके एक ग्लेसियर (हिमनद) से निकली है। सतलज नदी कैलासके पास राकस तालसे निकलती है। घाघरा नदीकी सहायक कौड़ियाली नदी जो ताकलाकोटके पास करनाली नदी कहलाती है, वह कैलासके सामनेकी हिमश्रेणीसे निकली है। ब्रह्मपुत्रा नदी मानसरोवरके सामने मान्धाता पर्वतकी दूसरी ओर एक ग्लेसियरसे निकलकर तिब्बतके मैदानमें दो हज़ार मील साँपू नदीके नामसे बहकर आसाममें भारतकी ओर मुड़कर गङ्गाजीमें मिल गई है। इस प्रकार कैलास पर्वतने भारतवर्षकी समस्त नदियोंको जन्म दिया है।

कैलासकी प्राकृतिक शोभा

कैलासखण्डकी प्राकृतिक शोभाके विषयमें यूरोपके पर्यटक विद्वान् एकमत हैं। वे कहते हैं कि संसारभरमें ऐसी नैसर्गिक शोभा किसी भूखण्डमें नहीं है। कैलास पर्वत एक स्वाभाविक बर्फका शिवलिंग है, जो अपनी सैकड़ो सहचरी पर्वतश्रेणियोंके मध्य २२६०० फीट ऊँचा मस्तक खड़ा किए चतुर्दिक् संसारको देखता है। उसके सामने मान्धाता पर्वतके पास हिमाच्छादित पर्वतशिखरोंके पदोंको धोता हुआ मानसरोवर ८० मीलके अष्टभुजाकार घेरेमें विस्तृत है। इसकी अपूर्व शोभा देखते ही बनती है।

इसका जल इतना स्वच्छ, निर्मल और स्फटिकके समान आभावान् है कि संसारका कोई भी सरोवर इसकी तुलना नहीं कर सकता।

सचमुच कैलास व मानसरोवरके भूखण्डपर वह आध्यात्मिक शक्ति संचारित है कि मनुष्यकी वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती, हिन्दूओंके लिए यह पर्वत केवल प्राकृतिक शोभाके लिए पूज्य नहीं है, किन्तु हिन्दू इस पर्वतको साक्षात् त्रिलोकीनाथ भगवान् शङ्करकी अनन्त समाधिका पर्वत मानते हैं।

कैलासका मार्ग

बहुत समयसे कैलास अगम्य और अलभ्य समझा जाता रहा। इसीलिए वैराग्यवान् सन्त व महात्माओंके अतिरिक्त साधारण गृहस्थोंने इसके दर्शन करने छोड़ दिए थे। लेकिन स्कन्दपुराणमें कैलासकी तीर्थ-यात्राके विषयमें इस प्रकार लिखा है—

यात्रीको पहले कूर्माचल जाना चाहिए। मार्गके पुण्यक्षेत्रोंका दर्शन करते हुए कैलास व मानसरोवर जाना चाहिए। कैलासकी विभूति, मान-सरोवरका जल और तीर्थपुरीकी भस्म लेकर बद्रीनाथ और केदारनाथके दर्शन करने चाहिएँ। वहांसे ऋषीकेश और हरिद्वार आकर ब्रह्मकुण्डमें स्नान करना चाहिए। फिर विन्ध्याचलके दर्शन कर प्रयागराज पहुँचना चाहिए। एक कुटम्बमें एक मनुष्य भी जो इस प्रकार तीर्थयात्रा करता है, वह अपने पूर्व पितर और भविष्य सन्तान सबको तारता है।

यदि यात्री कुछ भी शास्त्रोंकी विधिमें श्रद्धा करेगा, तो वह इसी प्रकार तीर्थ करेगा।

कैलासका मार्ग कूर्माचलमें अल्मोड़ा नगरमें होकर गया है। काठ-गोदाम रुहेलखण्ड-कुमाऊँ रेलवेका अन्तिम स्टेशन है। यहांसे अल्मोड़ाको नित्य दस-बीस लारियाँ दौड़ती रहती हैं। ये आठ घण्टेमें यात्रीको अल्मोड़ा

पहुँचा देती हैं। अल्मोड़ासे लीपू पर्वतकी घाटी १५० मील है। यह लीपू पर्वत कैलासखण्डका द्वार है। जो समुद्रधरातलसे १७६०० फीट ऊँचा है। ग्रीष्म ऋतुमें इस पर्वतपर केवल दो-तीन मीलतक वर्फ रहती है। ब्रिटिश भारतकी सीमाका यहांपर अन्त हो जाता है। इसके नीचे गव्यार्ङ्ग-पर अन्तिम डाकखाना है। लीपूसे उतरकर दूसरी ओर तिब्बत देशकी सीमाका आरम्भ होता है। लीपूकी चोटीसे सात मीलपर तिब्बती मैदानमें तिब्बती मण्डी ताकलाकोट है, जहां भारतीय, नेपाली और तिब्बती लोगोंमें ऊन, नमक, सुहागा, चँवर, मुश्क आदिका व्यापार होता है। ताकलाकोटमें ल्हासा सरकारका अधिकारी जौङ्गपुन रहता है। ताकलाकोटसे मान्धाता पर्वत २० मील होता है। मान्धाता पर्वतसे नीचे पाँच मीलपर मानसरोवरका एक तट मिलता है। इसी तटपर श्राद्धादि कर्म किये जाते हैं। मानसरोवरके किनारे-किनारे चलकर जिऊ गुफाके पास दूसरा वास करना होता है। मानसरोवरका शेष जल जिऊ गुफाके नालेसे निकल कर राकसतालमें पहुँचता है। जिऊ गुफासे कैलासकी जड़पर दरचिन एक छोटीसी मण्डी है। यहां कैलासकी नदीके तटपर ऋणमोचन कर्म किया जाता है। कैलासकी परि-क्रमा तीन दिनमें होती है और तीस मीलकी है। गौरीकुण्ड १८००० फीटकी ऊँचाईपर वर्फसे ढका हुआ सरोवर है, जिसके वर्फको तोड़कर स्नान किया जाता है। यहांसे कैलास उतारकी परिक्रमा होती है, जिसका दरचिन या ऋणमोचनपर अन्त हो जाता है।

यात्री मानसरोवर होता हुआ ताकलाकोटके रास्ते फिर अल्मोड़ा पहुँच जाता है। अल्मोड़ासे श्रीबद्रीनाथके दर्शन सात दिनमें हो जाते हैं। वहांसे ऋषीकेश पहुँचकर हरिद्वारमें स्नानकर विन्ध्याचलके दर्शन कर प्रयागराजमें गंगाजल लेकर काशीमें कैलासके तीर्थोंकी भेट चढ़ाकर शास्त्रानुसार तीर्थयात्रा पूरी करता है।

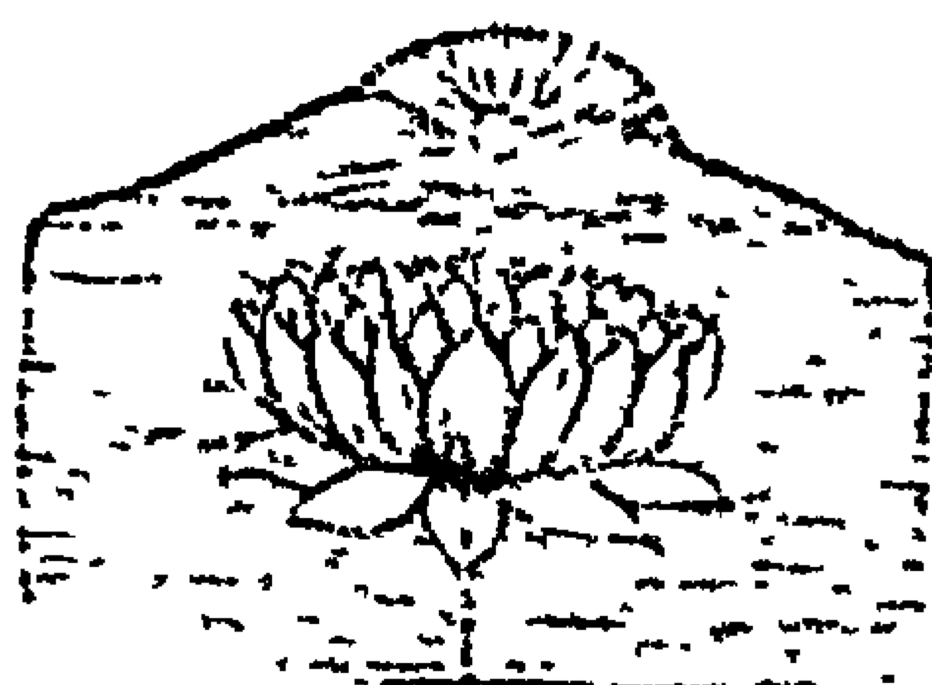
सैकड़ों यात्री मार्गकी कठिनतासे कुछ दूर पहाड़ोंमें जाकर वापिस होते देखे

गये हैं, इसलिए इस वर्ष महात्मा श्री १०८ स्वामी नित्यानन्द सरस्वतीजी महाराजकी प्रेरणासे अल्मोड़ामें एक कैलास मानसरोवरक्षेत्रकमेटीके नामसे सभा स्थापित हुई है, जिसका उद्देश्य कैलासके यात्रियोंको सुभीता पहुँचाना और महात्माओं तथा धार्मिक साधुओंको उनके तप-जपमें सहायता पहुँचाना है।

शारदा-स्तव

गोद लिएँ सोहै मति-पतनी खिलावै ताहि
देखि-देखि आवै ताके हिय सियराई तौ,
अविवेक-नरक समूल नसि जाइ, होइ
सुन्दर सु-भाव मीत-दलकी अवाई तौ।
संसय-समूह-अरि जाइ परि पाँरौ सुनि
मिटि जाइ ताकी अति ओज-गरुवाई तौ,
देइ सारदा जौ कृपा-कानि करि ज्ञान-सुत
मेरे मन-मंदिर हूँ बजइ बधाई तौ॥

—पं० श्रीबलदेवप्रसादजी।



बैठेसे बेगार भली

(लेखक—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी, महाराज)

अरे भाई मन ! ठहर जा, क्षणभरके लिए रुक जा, बन्दरके समान उछल-कूद मत मचा, लम्बी-लम्बी छलांगें मत भर ।

अजी ! आप तो सचमुच बहुत ही भोले हैं, बच्चोंकी-सी बातें करते हैं !

अरे भाई ! मैं भोला कैसे हूँ ? बच्चोंकी-सी बातें कैसे करता हूँ ?

अजी ! आपका कथन तो ऐसा है, जैसे कोई घड़ीमें चाबी लगा दे और घड़ीसे कहे कि चल मत । तब आप भोले नहीं, तो क्या हैं ? बच्चोंकी-सी ही आपकी बातें हैं । जैसे चाबी लगायी हुई घड़ी रुक नहीं सकती, जबतक चाबी समाप्त नहीं होगी, चलती ही रहेगी, वैसे ही जबतक प्रारब्धकी चाबी लगी हुई है, तबतक मैं ठहर नहीं सकता, चलता ही रहूँगा । आपने ही तो 'बैठेसे बेगार भली' 'बैठेसे बेगार भली' ऐसा कह-कहकर मुझमें चाबी भर दी है और अब आप कहते हैं कि ठहर जा । भला, चाबी भरा हुआ मैं कैसे ठहर सकता हूँ ? आपकी घड़ी ठहर जाय तो मैं भी ठहर जाऊँ ! मैं भी चाबी भरी हुई घड़ीके समान हूँ, तभी तो विद्वानोंका कथन है कि वायुको रोकना, समुद्रको पी जाना, सुमेरुको निगल जाना और हाथीको कमानकी डंडीमें बांध देना सहज है, परन्तु मनको रोकना कठिन है । आप असम्भव बात करना चाहते हैं, इसलिए मेरी समझसे तो आप भोलोंसे भी अधिक भोले और बच्चोंसे भी अधिक बच्चे हैं ।

मेरे ठहरनेकी आवश्यकता भी क्या है ? लोकमें कहावत है ही कि 'बैठेसे बेगार भली' । विद्वानोंका वचन है कि निरुद्यमी पुरुष जीता हुआ भी मरे हुएके समान है, आलसी पुरुषकी सब निन्दा करते ही हैं । भगवान्‌का गीतामें वचन है कि न करनेसे करना श्रेष्ठ है, चेष्टा किये बिना तो शरीरका निर्वाह भी नहीं हो सकता । कोई प्राणी क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता, यह आप मानते ही हैं, फिर मुझसे रुक जानेके लिए क्यों आग्रह करते हैं ?

बिना किसी युक्तिके मैं रुकनेवाला नहीं हूँ, युक्ति भी मैं, जबतक मेरी समझमें नहीं आवेगी तबतक, माननेवाला नहीं हूँ। सब प्राणी सुख चाहते हैं, मुझे चलनेमें आनन्द आता है, आप कहते हैं कि ठहर जा, भला मैं अपने आनन्दको कैसे छोड़ दूँ? अभी तो छोड़ नहीं सकता, जब ठहरनेमें आनन्द आने लगेगा, तब ठहरने भी लगूँगा! आप मुझे समझा दें कि ठहरनेमें आनन्द है, तब मैं ठहरनेका अभ्यास करने लगूँगा, अभी तो मुझे चलना अच्छा लगता है।

अरे भाई! देख, क्रियामात्र दुःखरूप है, चलनेमें पैरको श्रम होता है, बोलनेमें वाणीको श्रम होता है, धरने-उठानेमें हाथको परिश्रम होता है और ध्यान करनेमें तुझे दुःख होता है, तभी तो तू किसी एक वस्तुका क्षणभर भी ध्यान नहीं कर सकता, इससे क्रिया दुःखसाध्य है, यह सिद्ध होता है। दुःखरूप ही क्रिया हो, इतना ही नहीं है, किन्तु पापरूप भी है, क्योंकि कोई क्रिया कामनाके बिना नहीं होती और कामना—इच्छा—ही सब अनर्थोंकी जड़ है। इच्छा करनेसे ही हे मन! तू दीन-दुःखी हो रहा है, नहीं तो परब्रह्म ही है। इच्छाके कारणसे तू अनेक कर्म करता है, उनका फल अनेक योनियोंमें भोगता है। यदि तू इच्छा न करे, तो कर्म न हो। यदि कर्म न हो, तो तेरा जन्म भी न हो, इसलिए तू ठहर जा, निश्चेष्ट हो जा, तुझे आनन्दका—अपार आनन्दका—अनुभव होगा?

अजी! चिरकालतक तो आप मुझे बेगार करना सिखाते रहे हैं, कुछ आठ दिनोंसे सन्त-महात्माओंका संग करने लगे हैं। जबसे सत्संग करने लगे हैं, तबसे मुझे ठहरने का उपदेश देते हैं और ठहराने भी लगे हैं, परंतु बेगार करते-करते तो मुझे न मालूम कितने जन्म बीत गये हैं, थोड़े दिनोंके अभ्याससे मैं कैसे ठहर सकता हूँ? ठहरना तो दूर रहा, मेरा एकाग्र होकर रहना ही प्रथम तो कठिन है, ठहरने की तो बात दूर रही। जब बेगार करनेका स्वभाव छूट जाय, तब कहीं एकाग्र और निरुद्ध होनेका समय आवे।

भाई! मैंने तुझे बेगार करना कब सिखाया है। मैं तो तुझसे बार-बार ठहरनेके लिए ही कहता रहता हूँ।

अजी ! दो दिनसे आप मुझे ठहरानेका प्रयत्न करने लगे हैं, उमरभर बेगार करना ही सिखाया है। आप ही क्या, सब ही मेरे समान बेगार ही कर रहे हैं, बेगारमें ही सुख मानते हैं, दुःख पाते हैं, फिर भी बेगार छोड़ना नहीं चाहते। छोड़ें भी कहांसे ? बेचारे सीखे ही यही हैं, उनके गुरुओंने भी उन्हें बेगार करना ही सिखाया है, तब बेगार छोड़ें कैसे ?

अरे भाई ! सब बेगार कैसे कर रहे हैं। बेगार कहते किसको हैं ? मुझे तो कोई भी बेगारी नहीं दीखता।

अजी ! तो आप भोले हैं, यह मेरा कथन ठीक ही है ! उमरभर रामायण सुनी, राम कौन थे, रावण कौन था, यह अभीतक खबर ही नहीं, यही कहावत आपकी है। उमरभर सत्संग किया, बेगार क्या है, यह जानते ही नहीं। सुनिये, बहुतसे ऐसे आलसी और कामचोर होते हैं कि कुछ करना ही नहीं चाहते, वे न तो अपने पेटके लिए और न बाल-बच्चोंके लिए कुछ कमाई करना चाहते हैं, किन्तु पूर्वजों द्वारा उपार्जित धनको बैठे-बैठे खा जाते हैं, अथवा अन्य व्यर्थ कार्योंमें खर्च कर देते हैं, अंतमें आप अपने कुटुम्बसहित भूखों मरने लगते हैं। उनके लिए विद्वानोंने कहा है कि 'बैठेसे बेगार भली'। निरुद्यमी मनुष्य मरे हुए के समान है। कितने ही ऐसे होते हैं कि अपने लिए कमाना और अपना खाना-पीना ही मुख्य समझते हैं, ऐसे लोग कमाई तो करते हैं, परंतु अपने तनके लिए ही करते हैं। ये लोग ऊपरके बैठे-बैठे खानेवालोंसे श्रेष्ठ हैं। बहुतसे अपना और अपने परिवारका ही पेट पालते हैं, अन्य किसीका नहीं। ये लोग उपर्युक्त अपने तनका पोषण करनेवालोंसे श्रेष्ठ हैं। कोई अपना और अपने परिवारका पोषण करते हुए दान-धर्म भी थोड़ा-सा करते हैं, कोई-कोई अपने ग्रामका यथासंभव उद्धार करते हैं, कोई अपनी जातिके उपकारमें तत्पर रहते हैं, उपकार भी लौकिक और पारलौकिक भेदसे दो प्रकारका है, पहलेसे पिछला श्रेष्ठ है, ऐसे लोग प्रशंसनीय हैं। कोई कूप-बावड़ी बनाते हैं, क्षेत्र लगाते हैं, कोई विद्यालय खोलते हैं, कोई धर्मार्थ औषधालय खोल देते हैं, गोशाला बनाते हैं, इत्यादि दान करनेवाले श्रेष्ठ हैं, लोकमें प्रशंसनीय भी हैं। इत्यादि सकाम कर्मकी उपासना करनेवाले इस लोकमें प्रशंसा पाते हैं और अपने-अपने कर्मानुसार गंधर्वलोक, पितृलोक अथवा स्वर्गलोकको प्राप्त होकर वहांके दिव्य भोग चिरकालतक भोगते हैं, इसलिए

प्रशंसाके पात्र हैं। सकाम वैदिक उपासना करनेवाले तो महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक यानी ब्रह्मलोकतक यथाक्रम प्राप्त करते हैं। उनके भोग कर्मियोंसे श्रेष्ठ हैं, इसलिए उनसे अधिक प्रशंसनीय हैं और देवताओंके भी पूज्य हैं। इस प्रकार क्रम-क्रमसे ये सभी श्रेष्ठ हैं और पूजनीय भी हैं, फिर भी हैं ये सब बेगारी।

प्यारे भाई! इस लोकमें तो थोड़े दिनका जीवन है, यहांके लोग बेगारी हों, तो हों, स्वर्ग और स्वर्गसे ऊँचे लोकोंके लोग बेगारी क्यों हैं? वहां तो बहुत कालतक जीते हैं, नीरोग रहते हैं और एक-से-एक बढ़ कर भोग भोगते हैं।

अरे भाई! इन्द्र, ब्रह्मा आदि तो सब देवताओंसे श्रेष्ठ हैं, इनका पद तो बड़ा भारी तप करनेसे किसी विरले भाग्यवान्‌को प्राप्त होता है। ये तो त्रिलोकी और चौदह भुवनोंके अधिपति होते हैं, उनको बेगारी नहीं कह सकते?

अजी! बेगार उसको कहते हैं, जो बलात्कारसे कराई जाय और जिसमें मजदूरी थोड़ी मिले। लोकदृष्टिसे चाहे कोई इनको बेगारी न कहे, अथवा स्वयं ये अपनेको बेगारी न समझें, क्योंकि 'देवाः स्वयंभातवेदाः' इस न्यायके अनुसार ये सब वेदज्ञ होते हैं, परन्तु ब्रह्मदृष्टिसे तो बेगारी ही हैं, क्योंकि काल्पनिक होनेसे उनके सब पद मिथ्या हैं और मिथ्यासे भय होता है। मिथ्याको प्राप्त करनेसे लाभ कुछ नहीं है। मिथ्या पद एक दिन छूट जाता है और इसमें मोहित होनेका भय होता है, इसलिए विद्वान् मिथ्यासे दूर ही रहते हैं। जैसे उपर्युक्त सब बेगार करनेवाले हैं, वैसे ही मुझे भी आपने बेगार करना सिखाया है। मैं भी अनादि कालसे बेगार करता आया हूँ। सब जल्दीसे बेगार कैसे छोड़ दूँ? मुझसे आप ठहरनेका आग्रह न करें, जब मैं शुद्ध हो जाऊँगा, तब स्वयं ही ठहर जाऊँगा।

भाई! परन्तु तू शुद्ध कैसे होगा और कब होगा?

अजी! अबतक आप कामनासे देवताओंका पूजन करते रहे हैं अथवा मुझसे कराते रहे हैं। अब आप ईश्वरार्पणबुद्धिसे सब कर्म कीजिए, ऐसा करनेसे ऋषि, पितर और देवता प्रसन्न हो जायँगे। जहाँ ईश्वरके अङ्गरूप देवता आदि प्रसन्न हुए कि अङ्गी अन्तर्यामी ईश्वर भी प्रसन्न हुआ। ईश्वरके प्रसन्न

होते ही मैं अप्रसन्न हो जाऊँगा, मेरे अप्रसन्न होते ही आप प्रसन्न हो जायँगे। यद्यपि आप तो स्वभावसे ही प्रसन्न हैं, फिर भी जैसे मलिन दर्पणमें स्पष्ट मुख दिखाई नहीं देता, निर्मल दर्पण हो जानेपर स्पष्ट दिखाई देने लगता है, वैसे ही मेरे शुद्ध हो जानेपर आपको अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव होने लगेगा, इसलिए आप ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करके मुझे शुद्ध कर लीजिए।

अरे भाई! तेरी इन बातोंसे तो मुझे ऐसा अनुमान होता है कि तू इस जन्ममें अथवा पूर्व जन्ममें ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म कर चुका है, तभी तो विवेकियोंके समान बातें करता है, अब तो तू मुझे अपने ठहरनेका उपाय बता, तू स्थिर किस प्रकार होगा, यह मुझे बतला!

अजी! मेरे स्थिर होनेके अनेक उपाय हैं, परन्तु उन सबमें अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय मुख्य हैं।

भाई! दोनोंका स्वरूप, साधन और फल बतला। तेरा कल्याण हो!

अजी! श्रुति कहती है—'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है', 'यह सब ब्रह्म ही है', 'यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि। इन श्रुतियोंके अनुसार सब दृश्यरूप जगत्में सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मको देखिए। नाम और रूप जगत्के मिथ्या हैं, नाम और रूप उपाधिको छोड़कर सत्यस्वरूप, चैतन्यस्वरूप और सुखस्वरूप ब्रह्म ही सच्चा है, यह ब्रह्म आत्मा है, ऐसा नित्य निरन्तर अभ्यास कीजिए। ऐसा अभ्यास करनेसे वैराग्य स्वयं ही सिद्ध हो जायगा, क्योंकि जहाँ ब्रह्मात्माका सत्यत्व और जगत्का मिथ्यात्व ज्ञात हुआ, जगत्से वैराग्य और ब्रह्मात्मामें अनुराग हो ही जायगा। जगत्में राग न रहना और ब्रह्ममें अनुराग होना, यही दोनोंका स्वरूप है, इसीका अभ्यास करना साधन है और ब्रह्मात्माके सिवा समस्त द्वैतका लय हो जाना फल है, यही जीवन्मुक्ति है और यही विदेहमुक्ति है, इसका अभ्यास करके देखिए, अभी मैं स्थिर हुआ जाता हूँ, ऐसा स्थिर हो जाऊँगा कि मेरा चलना-चलाना भी कठिन हो जायगा।

अहा हा! अब तो भाई ठहरने लगा है, कुछ देरके लिए ही ठहरता है, अधिक नहीं ठहरता। अधिक क्यों नहीं ठहरता, तेरे ठहरनेमें मुझे आनन्द आता है। जब तू चलने लगता है, तो मेरा आनन्द जाता रहता है। यही मैं चाहता हूँ कि तू सर्वदा ठहरा ही रहे, कभी कहीं चले ही नहीं।

अजी ! मेरे ठहरनेमें आपको आनन्द आता है, मेरे न ठहरनेसे आपका आनन्द चला जाता है, तो चला जाय, और आ जाय, वह आनन्द नहीं है। आनन्द तो वही है, जो न कभी जाय, न कभी आवे। मेरा ठहर जाना आनन्द नहीं है, किंतु आनन्दाभास है—आनन्द-सा प्रतीत होता है—परंतु आनन्द है नहीं। जैसे जलकी शीतलता जल नहीं है, वैसे ही आनन्दाभास भी आनन्द नहीं है। आनन्द तो अक्रिय है, शान्त है, नित्य है। आपको तो मेरे ठहरनेमें आनन्द आता है, परन्तु मैं अक्रिय नहीं हुआ, क्योंकि पूर्वमें शरीरादिको चलानेकी क्रिया करता था, अब शरीरादिको चलनेसे रोकनेकी क्रिया करता हूँ, तब मैं तो आनन्दरूप नहीं हुआ। जब मैं नहीं हुआ तब आप भी नहीं हुए। आप तो मुझे आपमें लय करके आप ही शेष रह जाइये, मेरा क्रिया करना और न करना दोनों मिथ्या ही हैं। यदि आप मेरी क्रिया करनेको सुख समझ लेंगे, तो आप कभी मुक्त न होंगे। मेरी क्रिया या अक्रियासे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। आप तो कूटस्थ, असङ्ग, क्रिया अथवा अक्रियासे पर नित्य आनन्द स्वरूप हैं। मेरी क्रिया या अक्रिया दोनोंमें आप आनन्दस्वरूप विद्यमान हैं, मेरी क्रिया या अक्रियासे आपका तीनों कालमें सम्बन्ध नहीं है। आप, तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वरूप ही हैं। आप तो पूर्ण होनेसे सर्वदा बैठे ही रहते हैं, बेगारसे आपका कोई कभी कहीं प्रयोजन ही नहीं है। 'बैठेसे बेगार भली', यह लोकोक्ति आप अलौकिकके लिए नहीं है। आपका स्वरूप तो वेद भगवान्‌ने इस प्रकार गाया है—

आत्मदर्शन

(१)

अच्युत निरामय देव जो निष्कल निरंजन नित्य है,
ना बुद्धि ही पहुँचे जहां, नहीं पहुँचता चित्त है।
सो देव मेरा इष्ट है, जो शुद्ध शाश्वत मुक्त है,
योगी जिसे है जानता, जाने न विषयासक्त है॥

(२)

अच्युत-अचल, अक्षय-अचल, शिवशान्त सबका आप है।
माया रहित काया रहित, निस्संग है, निष्पाप है॥

जो सर्वका आधार है, जो आप बिनु आधार है।
सो देव मेरा ध्येय है, पाता न जिसका पार है॥

(३)

जो सर्वमें है रम रहा, फिर भी सभोंसे भिन्न है।
जो आप सबका आप है, ना आपसे कुछ अन्य है॥
जो धीर इसको जानते, सो ही नरोंमें धन्य है।
सो देव मम भजनीय है, जो सर्वशून्य अनन्य है॥

(५)

यह लोक ही सब जानते, परलोक ना जो मानते।
ना धर्म ही ना ईश, केवल देह आत्मा जानते॥
ऐसे अभागे मूढ़ नर यमयातना सहते रहें।
सो कल्प तक भवसिंधुसे होते नहीं वे पार हैं॥

(४)

यज्ञादि करि इन्द्रादिसे फल मांगते जो मूढ़ हैं।
वे मोक्ष पदसे सैकड़ों लाखों हि कोसों दूर हैं॥
इन्द्रादिकी बेगार है ऐसा सदा करते रहें।
ऊँचे चढ़े नीचे गिरें, जन्मा करें मरते रहें॥

(६)

मम देव अच्युत जे भजें, संसारमें ना आये हैं।
शिव शान्त अच्युत माँहि मिल बेगारसे छुट जायँ हैं॥
बेगार भोला! छोड़ दे, तज देह अनुसंधान रे।
पर ध्यान अच्युतका, इसीका रात-दिन करि गान रे॥

अद्वैत-दर्शन

(पूर्व लेखसे आगे)

(लेखक—पं० श्रीअमृतलाल शास्त्री, वेदान्त-व्याकरणतीर्थ)

पूर्व लेख द्वारा अद्वैतदर्शन-सिद्धान्तमें समस्त दृश्य प्रपञ्चका मिथ्यात्व प्रतिपादन किया। जो द्वैतवादी श्रुति और सूत्रके आधारसे जगत्के सत्यत्वका प्रतिपादन करनेका यत्न करते हैं, उनके प्रति इतना ही कथन पर्याप्त है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे जगत्की सत्यता सम्पूर्ण प्राणियोंको ज्ञात है, और अबाधित अर्थका ज्ञापक होना ही शास्त्रके प्रामाण्यका प्रयोजक है। वेद यदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे प्रमित अर्थका प्रतिपादन करेगा, तो वह अनुवादक हो जायगा, वह स्वतन्त्ररूपसे प्रमाण नहीं रहेगा, क्योंकि जिस प्रमाणसे अज्ञातार्थ ज्ञात हुआ है वही मूल प्रमाण रहेगा। उसकी अपेक्षा रखनेवाले वेदवाक्यमें स्वतःप्रमाणत्व दुर्घट हो जायगा। इसलिए सर्वविदित जगत्के सत्यत्वका प्रतिपादन करना शास्त्रके तात्पर्यका विषय नहीं है। वेदप्रतिपादित कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड व्यावहारिक सत्ताको लेकर चित्तशुद्धि द्वारा परम-प्रयोजनमें उपकारक होनेसे उपदिष्ट हैं। जहांतक प्रपञ्चके अधिष्ठान ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार नहीं होता है, वहांतक सम्पूर्ण द्वैतव्यवहार अबाधित चलता है। ब्रह्म-साक्षात्कार होनेके बाद कोई लौकिक या वैदिक व्यवहार रहता ही नहीं। इस-लिए अद्वैतसिद्धान्तमें उक्त व्यवस्था सर्वथा समञ्जस है। अब अद्वैतका विचार करेंगे। द्वयोर्भावो द्विता, द्विता एव द्वैतम्, न द्वैतम् अद्वैतम्—भेदका अभाव। एक ही परमार्थ सत् तत्त्व है, यह अद्वैतपदका अर्थ है। भेदमात्र कल्पनारूप है। मनःस्पन्दन होनेपर ही भेदका स्फुरण होता है। दृश्य प्रपञ्चकी प्रतीति भी मनःस्पन्दनके अधीन है। जाग्रत् और स्वप्नमें मनःस्पन्दन अविरत हुआ करता है, इसलिए उस अवस्थामें प्रपञ्च दीख पड़ता है। सुषुप्ति और समाधिमें मनका उपराम हो जाता है अतः कुछ दृश्य और भेद देखनेमें नहीं आता, इससे उक्त सिद्धान्त उपपन्न है। चलित—भ्रान्त—चित्तके अधीन जिसकी प्रतीति है, उसका सत्यत्व कैसे कहा जाय? अतः अद्वैत ही परमार्थ है। द्वैत सभी उसमें कल्पित है। श्रुतियोंके अनेक वाक्य अद्वैतका प्रतिपादन करते हैं। छान्दोग्य-

उपनिषद्के छठे अध्यायके द्वितीय खण्डमें आरुणिनामक महर्षिने अपने पुत्र श्वेतकेतुको उपदेश दिया है—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'

(यह जगत् उत्पत्तिके पूर्व एक अद्वितीय सद् ब्रह्मरूप ही था) यहां 'एकम्', 'एव' और 'अद्वितीयम्' इन तीन पदों द्वारा स्वगत, सजातीय और विजातीय तीनों भेदोंका निषेध किया गया है। वृक्षमें शाखा, पत्र, पुष्प आदिके भेदको स्वगतभेद कहते हैं, एक वृक्षका सजातीय दूसरे वृक्षसे जो भेद है, उसको सजातीय भेद कहते हैं। एक वृक्षका विजातीय शिलादिसे जो भेद है, उसको विजातीय भेद कहते हैं। इनमें से कोई भेद ब्रह्ममें नहीं है। ब्रह्म निरवयव है, अतः उसमें स्वगत भेद नहीं है। ब्रह्मके समान स्वतन्त्र सत्तावाला कोई पदार्थ नहीं है, अतः उसमें सजातीय भेद नहीं है। ब्रह्ममें विजातीय जड़ पदार्थ कल्पित हैं, अतः वे उसके तादात्म्यसे ही भासते हैं, इसलिए उसमें विजातीय भेद भी नहीं है। इस तरह उत्पत्तिके पूर्व अद्वैतका उपदेश करके 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि वचन द्वारा जगदुत्पत्त्यादिका अध्यारोप करके अनेक उदाहरणों और युक्तियों द्वारा कारणतत्त्वके ही सत्यत्व और सर्वानुस्यूतत्वका उपदेश कर उपसंहारमें 'स एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (जो यह अतिसूक्ष्म पदार्थ है, तद्रूप यह सब विश्व है, वही सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु! तुम तद्रूप हो) इस तरह तत्त्वोपदेश देकर मिथ्याज्ञानवालेको, अनृतवादी चौरके दृष्टान्तसे तप्त परशुके दाहके समान, संसारसन्तापकी प्राप्ति और सत्यवादीमें तप्तपरशुदाहके अभावके समान तत्त्वज्ञानीमें संसारदुःखनिवृत्तिरूप फल बतलाया है। इससे अद्वैतब्रह्मनिष्ठा ही कल्याणकारक है, यह स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया। बृहदारण्यक उपनिषद्में भी प्रथमाध्यायके चतुर्थ ब्राह्मणमें 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवत्। तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' इस वचनसे अपने आत्माको ब्रह्मरूप जाननेसे सर्वात्मताप्राप्ति और देव, ऋषि और मनुष्योंमें जिसको यह ज्ञान हुआ वह तद्रूप हो गया, इस प्रकार अभेदनिष्ठावालेको उत्तम फलप्राप्ति बतला कर भेदबुद्धिवालेकी निन्दा की है—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' (जो मनुष्य देवताकी अपनी

आत्मासे भिन्न मानकर उपासना करता है, वह देवता अन्य है, मैं अन्य हूँ, ऐसी बुद्धि रखता है, वह सत्यको नहीं जानता है, वह देवोंमें पशुतुल्य है)। ये सब श्रुतिवचन इतने स्पष्ट हैं कि इनमें कोई खींचातानी हो ही नहीं सकती। व्यर्थ शास्त्रार्थ करनेकी यहां जरूरत नहीं है। यह अर्थ प्रमाणान्तरसे अविदित होनेसे अपूर्व है और सफल है, इसलिए अभेदमें ही श्रुतिका तात्पर्य है। एवं 'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद। क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद। लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद। देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद। भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद। सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद। इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा।' बृहदारण्यकके इस वचननिचयमें भी अद्वैतका ही उपदेश है। जो मनुष्य ब्राह्मण-जातिको अपनी आत्मासे (ब्रह्मस्वरूपसे) भिन्न मानता है, उसको वही ब्राह्मण-जाति मोक्षपदसे दूर करती है, एवं क्षत्रियजाति, लोक, देव, भूत, सर्ववस्तुको आत्मासे पृथक् माननेवाले मिथ्याज्ञानीको वे सब मिथ्याभिमान स्वार्थसे गिरा देते हैं।

भेदवादी लोग 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वाक्योंका ऐसा अर्थ बतलाते हैं कि जैसे 'अस्मिन् ग्रामेऽयमद्वितीयः पुरुषः' अर्थात् इस ग्राममें यह पुरुष अद्वितीय है, इसके तुल्य दूसरा कोई नहीं है, यही सर्वोत्तम है वैसे परमेश्वर ही सर्वोत्तम है, तत्समान कोई नहीं है। परन्तु इस अर्थमें श्रुत्युक्त एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाकी सिद्धि नहीं हो सकती। और छान्दोग्यमें एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञानकी प्रतिज्ञाके उपपादनके लिए मृल्लोहादि दृष्टान्त बतलाये हैं, उनका तात्पर्य कारणतत्त्वके पारमार्थिकत्वमें ही है। भेदवादीके मतमें कार्य और कारण दोनों सत्य माने गये हैं। श्रुति 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (घटादि विकार—कार्य—वाङ्मात्र हैं, कुछ वस्तु नहीं हैं; मृत्तिकारूप कारण ही सत्य है) ऐसा स्पष्ट उपदेश करती है। इसलिए भेदवादीका मन्तव्य केवल हठाग्रह है।

जीवका स्वरूप और ब्रह्मके साथ उसका सम्बन्ध

(लेखक—पण्डितवर श्रीचण्डीप्रसादजी शुक्ल)

संसारमें लौकिक कारणोंके समान होनेपर भी कार्यमें भेद—वैचित्र्य—देखा जाता है अर्थात् एक ही माता-पितासे जायमान तथा समानरूपसे पोषित बालकोंमें एक बुद्धिमान्, दूसरा मूर्ख, एक सुखी, दूसरा दुःखी, एक नीरोग और दूसरा सरोग देखा जाता है, सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर भी कोई लौकिक कारणका भेद प्रतीत नहीं होता, फिर यह वैचित्र्य कहांसे आया। व्याकरण-भाष्यकार पतञ्जलिमुनिने भाष्यमें लिखा है—

'समानमीहमानानामधीयानानां केचिदर्थैर्युज्यन्ते नाऽपरे तत्र किं कर्तुं शक्यतेऽस्माभिः।'

अर्थात् समानपरिश्रमसे पढ़नेवाले छात्रोंमें कोई कोई पण्डित होते हैं और कोई कोई नहीं होते, उसमें हम क्या करें? हम समानरूपसे पढ़ानेसे अधिक क्या कर सकते हैं?

इस वैचित्र्यका कारण अलौकिक हेतु है, जिसको हम सनातनधर्मी प्रारब्ध कर्म कहते हैं अर्थात् इस जन्ममें जो हम सुख-दुःख भोगते हैं, वे पूर्व-जन्ममें अपनेसे किये गये पुण्य और पापके फल हैं और अब जो पुण्य-पाप करते हैं, उनके फल—सुख-दुःख—अगले जन्ममें भोगेंगे। सारांश यह है कि आत्मा नित्य और अनादि है। वह कर्मके अनुसार कभी ऊँच और कभी नीच शरीरको ग्रहण करता रहता है।

'नद्याः कीटा इवाऽऽवर्त्तात् आवर्त्तान्तरमाशु ते।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम्॥'

(जैसे नदीके आवर्त्तमें पड़े हुए कीड़े एक आवर्तसे दूसरे आवर्तमें विवश होकर जाते हैं और कभी सुख नहीं पाते, वैसे ही एक शरीरसे अन्य शरीरमें भ्रमण करता हुआ यह जीव कभी सुख नहीं पाता)। यद्यपि जीव नित्य है वस्तुतः उसके जन्म-मरण नहीं होते, तथापि नवीन शरीरका ग्रहण और प्राचीन शरीरका त्याग ही जन्म-मरण कहलाते हैं। इसमें प्रमाण हैं—

'न जायते म्रियते वा विपश्चित् नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥'

अर्थात् विद्वान् न जन्म लेता है और न मरता है, क्योंकि पहले न रहकर पीछे होना ही जन्म है, और होकर न होना मरण है। वे दोनों जीवात्माके नहीं हो सकते, कारण कि वह सदा रहता है—वह अज, नित्य, सदातन और पुराना है। शरीरके नष्ट होनेपर भी वह नष्ट नहीं होता।

'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥'

कोई-कोई कर्म और उपासनाके अनुसार शरीरका ग्रहण करनेके लिए योनिमें प्राप्त होते हैं और अन्य स्थावरभावको प्राप्त होते हैं।

'देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥'

अर्थात् जैसे देहमें बचपन, जवानी और बुढ़ापा—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं वैसे ही जीवको देहान्तरकी प्राप्ति होती है, इसमें धीर मोहको प्राप्त नहीं होते।

'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नरोऽपराणि ॥'

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंका त्याग कर नये वस्त्र धारण करते हैं, वैसे ही जीव पुराने शरीरका त्याग कर नये शरीरका ग्रहण करते हैं—इत्यादि अनेक वचन। यही प्रारब्धवाद—पुनर्जन्मवाद—सनातनधर्मरूपी कल्पवृक्षकी प्रधान जड़ है और वैदिक धर्मरूप प्रासादकी बुनियाद है। सनातन वैदिक धर्ममें अनेक मत-भेद होनेपर भी इस विषयमें ऐक्य है। इस विषयपर पूज्यचरण उदयनाचार्यने—

'सापेक्षत्वादनादित्वात् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः ।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः ॥'

(कारणकी अपेक्षासे ही सभी कार्य उत्पन्न होते हैं और वे कारण भी अपने कारणकी अपेक्षासे ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् कार्यकारणभावका प्रवाह अनादि है, अतः कारणसे ही कार्य उत्पन्न होते हैं, विना कारणके नहीं; यह सिद्ध होता है। और मूर्खसे पण्डित तक मनुष्यमात्रकी स्वाभाविक धार्मिक प्रवृत्तिसे और लौकिक कारणके समान होनेपर भी बुद्धि, विद्या, सुख आदि कार्योंमें भेद होनेसे तथा प्रतिजीव भोगके नियत होनेसे अलौकिक प्रारब्धकर्म भी कार्यके प्रति कारण है, यह

सिद्ध होता है) इस वचनसे खूब प्रकाश डाला है। यही ईसाई और इसलाम धर्मसे सनातनधर्ममें अन्तर है। उन मतोंमें प्रारब्ध कर्म और पुनर्जन्म नहीं माना गया है। हम दार्शनिकोंसे प्रार्थना करते हैं कि इस विषयपर अधिकसे अधिक प्रकाश डालें।

थियोसोफिष्ट-सम्प्रदायकी अधिनेत्री वासन्तीदेवीने हिन्दू-धर्मकी दीक्षाके ग्रहणमें कारण बतलाते समय एक पत्रमें लिखा था कि मेरा प्रिय पुत्र विमार हो गया, मैंने जी-जानसे सब उद्योग किये, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध अनेक डाक्टरोंकी ओषधि की, परन्तु रोग नहीं छूटा, अन्तमें मुझे प्रिय पुत्रके वियोगसे असह्य दुःख भोगना पड़ा और यह निश्चय हुआ कि पूर्व-जन्ममें सञ्चित अनुकूल कर्म होनेपर ही लौकिक उपाय सफल होते हैं अन्यथा नहीं। उन्होंने तुरन्त प्रारब्धवाद और पुनर्जन्मवाद पर विश्वास कर हिन्दू-धर्मकी दीक्षा ली।

'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता'।

विधिके—प्रारब्धके—प्रतिकूल होनेपर बहुत-से उपाय व्यर्थ हो जाते हैं, अभिलषित कार्य सिद्ध नहीं होता, इस अभियुक्तकी उक्तिके अनुसार यह ठीक ही है।

'परमेश्वर सृष्टि बनाता है' इस ईश्वरसृष्टिवादमें विपक्षी दो प्रश्न करते हैं। प्रथम प्रश्न यह कि यदि परमेश्वर सृष्टि बनाता है, तो सभी जीवोंको सुखी, धनी, नीरोग और बुद्धिमान् क्यों नहीं बनाता? विषम सृष्टि क्यों बनाता है? दूसरा प्रश्न यह है कि दुःखियोंके हा! हा! शब्द सुनकर उनपर दया उसे क्यों नहीं आती? प्रश्नका आशय यह है कि चेतन ऐसा कार्य नहीं करता जिससे उसमें वैषम्य और नैर्घृण्यका दोष लगे। सृष्टिके निर्माणमें दो दोष हैं, इससे वह चेतनसे—ईश्वरसे—कृत नहीं है। इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर प्रारब्धवादमें बड़ी खूबीसे हो जाता है कि ईश्वर जीवोंके सञ्चित कर्मोंके अनुसार अर्थात् जिस जीवका जैसा कर्म है, उसके लिए वैसी ही सृष्टि बनाता है। इससे उसमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं है। किसी भी न्यायी राजामें योग्यका सत्कार करने और अयोग्यको दण्ड देनेसे वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं लगता। यह बात वेदान्तदर्शनमें व्यासदेवने 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' (जीवोंके कर्मोंके अनुसार ईश्वर सृष्टि बनाता है, इससे उसमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं लगते) इस सूत्रमें स्पष्ट दिखलाई है। इन प्रश्नोंका उत्तर ईसाई प्रभृतिके मतानुसार कभी नहीं हो सकता।

अब तकके लेखसे यह सिद्ध हो गया कि जीव नित्य है और अपने कर्मोंके अनुसार नये शरीरका ग्रहण और पुराने शरीरका त्याग करता रहता है। इसी

ग्रहण और त्यागको जन्म और मरण कहते हैं। वस्तुतः जीवके जन्म-मरण नहीं होते। अब जीवका स्वभाव और परमात्माके साथ उसका सम्बन्ध क्या है? यह यथाशक्ति दिखलावेंगे—

'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भिन्नरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा'॥

जैसे एक ही ज्योतिःस्वरूप सूर्य भिन्न-भिन्न जलमें प्रतिबिम्बित होकर अनेकरूप हो जाता है, वैसे ही प्रकाशस्वरूप एक ही परमात्मा अविद्या, सूक्ष्म और स्थूल शरीरमें प्रतिबिम्बित होकर अनेक जीवरूप हो जाता है।

'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥'

जैसे चन्द्रमा आकाशमें एकरूपसे और जलमें अनेकरूपसे दीखता है वैसे ही एक ही सत्य परमात्मा शरीर-शरीरमें प्रतिबिम्बित होकर अनेकरूपसे दीखता है।

इन वचनोंसे यह प्रतीत होता है कि जीव परमेश्वरका प्रतिबिम्ब है और परमेश्वर एक है एवं अविद्या, सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंके भेदसे उसके प्रतिबिम्ब (जीव) अनेक हैं। तथा 'मम इदं मुखं दर्पणे भासते' (मेरा यह मुख दर्पणमें भासता है), 'आकाशस्थः सूर्यो जले भासते' (आकाशका सूर्य जलमें भासता है)—इन अनुभवोंसे प्रतीत होता है कि भेदके भासनेपर भी वस्तुतः बिम्ब और प्रतिबिम्ब एक ही है, अतः ब्रह्म और जीव भी एक ही हैं, भेदप्रतीति भ्रमसे होती है। और जैसे परमार्थ ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द रूप निर्विशेष है, वैसे ही उसके साथ ऐक्य होनेसे जीव भी सत्, चित्, आनन्दरूप निर्विशेष ही है। फिर भी माया—अविद्या—उपाधिसे जैसे ब्रह्म सर्वज्ञत्व, अन्तर्यामित्व, भूतानुग्राहकत्व आदि कल्याण गुणोंका भाजन होता है, वैसे ही जीव अविद्यावश अज्ञत्व, दुःखित्व आदि अशुभ गुणोंसे युक्त होता है। यह बात—

'मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यः तद्वैचित्र्यादनेकधा॥'

(बिम्बस्थानीय ब्रह्म मायारूप उपाधिको अपने वशमें कर सर्वज्ञ, ईश्वर—अन्तर्यामी—है और अविद्याके स्वयं वशमें होकर जीव अनेक और दुःखी हैं।) इस वचनमें स्पष्ट कही गई है।

प्रश्न—चन्द्र और सूर्य मूर्त्त हैं और जल भी मूर्त्त और भिन्न रूपसे प्रत्यक्ष है, अतः वहाँ उनका प्रतिबिम्ब होना युक्त है, परन्तु ब्रह्म अमूर्त्त एवं व्यापक है और अविद्या एवं अन्तःकरण अप्रत्यक्ष तथा उससे अलग नहीं हैं। अतः यहाँ प्रतिबिम्ब कैसे होगा ?

उत्तर—दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकका साम्य सब अंशोंमें कहीं भी नहीं होता, किन्तु विवक्षित अंशमें होता है, वह यहाँ भी है ही। जैसे जलकी वृद्धि या अल्पता होनेपर प्रतिबिम्ब भी बढ़-घट जाता है और चलनेपर वह चलता है, बिम्ब सदा एकरूप रहता है, वैसे ही उपाधि शरीर और अन्तःकरणके छोटे, बड़े और चलित होनेपर प्रतिबिम्ब—जीव—भी छोटे, बड़े एवं चलित होते हैं। बिम्ब—ब्रह्म—सदा एकरस रहता है, यही विवक्षित अंश है, उसमें साम्य है, इससे उपमा ठीक ही है।

प्रश्न—'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥'

(जैसे अग्नि काष्ठरूप भुवनमें प्रवेश कर प्रत्येक काष्ठमें उसके सदृश होती है। अथवा जैसे वायु पंखारूप भुवनमें प्रवेश कर प्रत्येक पंखेमें उनके सदृश हो जाता है, वैसे ही सब भूतोंके भीतर रहनेवाला एक ही परमात्मा अविद्या, अन्तःकरण और स्थूल शरीरमें प्रवेश कर—उन शरीरोंसे अवच्छिन्न होकर—उनके सदृश छोटा या बड़ा हो जाता है) इन वचनोंमें जब अविद्या आदिसे अवच्छिन्न चैतन्य जीव है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है, तब प्रतिबिम्ब ही जीव है, यह क्यों माना जाता है ?

उत्तर—आप ठीक कहते हैं, इन वचनोंमें अवच्छेदवादका ही प्रतिपादन होता है, परन्तु इससे अद्वैतसिद्धान्तकी कोई हानि नहीं है, क्योंकि ये वाद मन और वाणीके अगोचर उपेय ब्रह्मके प्रतिपादनके उपाय हैं। और उपायोंके विषयमें अभियुक्तोंकी यह उक्ति है कि 'उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः' (उपाय उपेयके ज्ञानके लिए हैं और वे नियत नहीं हैं)।

'यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चाऽनवस्थिता॥'

(जिस-जिस प्रक्रियासे—उपायसे अर्थात् अवच्छेवाद या प्रतिबिम्बवाद आदिसे—अधिकारी पुरुषको ब्रह्मका बोध हो वही उपाय साधु है और वह उपाय व्यवस्थित नहीं है।) इन वचनोंमें जो 'अव्यवस्थित और अनवस्थित' शब्द हैं, उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदान्तशास्त्रका मुख्य तात्पर्य अद्वय ब्रह्ममें है, उसीमें वे प्रमाण हैं। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' (जिस अर्थमें शब्दका तात्पर्य हो, वही अर्थ होता है।) इस अभियुक्तकी उक्तिका भी यही तात्पर्य है। जैसे महाकाश—निरवच्छिन्न आकाश—और घटाकाश—घटसे अवच्छिन्न आकाश—परमार्थमें एक ही हैं, वैसे ही ब्रह्म—निरवच्छिन्न चैतन्य—और जीव—अन्तःकरणसे अवच्छिन्न चैतन्य—दोनों एक ही हैं और दोनों निर्विशेष शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और आनन्दरूप हैं, यह जीव और ब्रह्मका ऐक्यरूप वेदान्तका मुख्य तात्पर्यविषय अर्थ अवच्छेदवादसे उपपादित होता है, उससे मुख्य सिद्धान्तमें कोई हानि नहीं है। पूर्व लेखसे यह सिद्ध हो गया कि परमात्मा और जीवका परमार्थमें अभेद—ऐक्य—ही सम्बन्ध है और परमात्माके तुल्य जीवात्मा भी परमार्थमें सत्, चित् और आनन्दरूप निर्विशेष है।

प्रश्न—यदि दोनोंमें ऐक्य मानें तो—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति॥'

(एक शरीररूप वृक्षमें सदा साथ रहनेवाले सुन्दर पंखवाले चिद्रूप होनेसे समान दो ईश और जीवरूप पक्षी रहते हैं। उनमें एक जीवरूपी पक्षी कर्मफलरूपी स्वादिष्ट पिप्पलफलोंका—विषयभोगोंका—स्वाद चखता है और दूसरा ईश्वररूप पक्षी कुछ भी नहीं खाता हुआ अर्थात् कर्मफलोंका उपभोग न करता हुआ भी सदा एक-सा प्रकाशमान रहता है।)

'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः'

(जब ध्याताके चित्तमें सत्त्वगुण शुद्ध होता है, तब वह निष्कल परमात्माको ज्ञानदृष्टिसे देखता है।)

'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥'

(जैसे नदियाँ बहती हुई अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी पुरुष नाम-रूपको छोड़कर पर—हिरण्यगर्भसे पर—पुरुषको प्राप्त होते हैं।)

'सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति'

(जो परमात्मा सब भूतोंके भीतर विद्यमान होकर उनका नियमन करता है।)

इन वचनोंमें जो भेदसम्बन्ध अर्थात् ध्यातृध्यातव्यभाव, द्रष्टृद्रष्टव्यभाव, गन्तृगन्तव्यभाव और नियन्तृनियन्तव्यभाव सम्बन्ध प्रतीत होते हैं, उनकी क्या गति होगी ? वे वचन अप्रमाण हो जायँगे । वेद स्वतःप्रमाण है, अतः उसके किसी वचनको अप्रमाण कहना युक्त नहीं है ?

उत्तर—आप सत्य कहते हैं, उन वचनोंमें जीव और ब्रह्मके भेदका प्रतिपादन अवश्य है, परन्तु 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१) 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।३) इन वचनोंमें अभेद भी स्पष्ट ही प्रतीत होता है। भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं अर्थात् यदि जीव और ब्रह्ममें भेद मानें, तो अभेद नहीं मान सकेंगे और यदि अभेद मानें, तो भेद नहीं मान सकेंगे। वेदमें दोनों प्रकारके वचन आते हैं। वेद परस्पर विरुद्धभाषी होनेसे अप्रमाण ही है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसके स्वतःसिद्ध प्रामाण्यमें आस्तिकमात्रका ऐकमत्य है अर्थात् भेदवादी और अभेदवादी सभी वेदका प्रामाण्य एकस्वरसे मानते हैं, अतः इस विरोधको मिटानेके लिए ही अद्वैतवादी वेदान्तियोंने पारमार्थिक—सत्य—और अपारमार्थिक (मिथ्या) भेदसे जीवके दो स्वरूप माने हैं, जीवका परमार्थस्वरूप सच्चिदानन्द निर्विशेष है, इसी पारमार्थिक स्वरूपका ग्रहण कर 'तत्त्वमसि' आदि वचन हैं और अपारमार्थिक जो कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अज्ञत्व और दुःखित्वसे युक्त जीव-स्वरूप है, उसका ग्रहण कर भेद तथा नियन्तृनियम्यभाव आदि सम्बन्धके प्रतिपादक 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि वचन हैं। और उस अवस्थामें जीव अपनेको दुःखी एवं अज्ञ मानता है, सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिके लिए नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्म और परमात्माकी उपासना करता है। जीवकी पारमार्थिक और आविद्यिक दो अवस्थाएँ हैं, यह बात 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्' (जैसे सूर्यप्रकाश आदि उपाधिके भेदसे भिन्न-सा हो जाता है, वैसे चेतन भी कर्म—उपाधि—अन्तःकरणमें भिन्न हो जाता है, परन्तु परमार्थमें वह निर्विशेष चिद्रूप ही है) इस ब्रह्मसूत्र (अ० ३ पा० २ सू० २५) में स्पष्ट कही गई है अर्थात् अवस्थाभेदसे दोनों प्रमाण हैं। अद्वैत-वेदान्तका निष्कर्ष यह है कि जब तक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे जन्य ब्रह्मात्मैक्यका अपरोक्ष अनुभव नहीं हुआ है अर्थात् अविद्याकृत आवरण निवृत्त नहीं हुआ है, भेद भासता है, तबतक जो

जीवकी लोकसिद्ध अवस्था है, उसका अवलम्बन कर 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि वचन हैं, व्यर्थ नहीं हैं।

प्रश्न—जैसे 'मृद् घटः' 'सुवर्णं कुण्डलम्' इस सामानाधिकरण्यप्रतीतिके अनुसार मृद् और घटमें एवं सुवर्ण और कुण्डलमें भेद और अभेद दोनोंको परमार्थ-सत्य-मानते हैं, क्योंकि केवल अभेद मानें, तो 'घटो घटः' के तुल्य और केवल भेद मानें तो 'घटः पटः' के तुल्य सामानाधिकरण्यप्रतीति नहीं होगी, अतः सामानाधिकरण्यके अनुरोधसे उक्त स्थलमें भेद और अभेद दोनोंको पारमार्थिक मानते हैं, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यमें सामानाधिकरण्यके अनुरोधसे जीव एवं ब्रह्ममें भेद और अभेद दोनोंको पारमार्थिक मानिये, हानि क्या है ?

उत्तर—दृष्टान्त विषम है अर्थात् मृत् और घटमें उपादान-उपादेयभाव है इससे भेदाभेदका सम्भव है, परन्तु जीव और ब्रह्म दोनों नित्य हैं, उनमें उपादानोपादेयभावका सम्भव नहीं है और चैतन्यरूपसे सदृश होनेपर भी जीव और ब्रह्म दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, उनमें भेद और अभेद दोनों पारमार्थिक एक कालमें कैसे हो सकते हैं ? उनमें तो परमार्थमें अभेद और व्यवहारमें अविद्याकल्पित भेद अवस्थाभेद तथा कालभेदसे ही हो सकेंगे।

प्रश्न—जीव और ब्रह्मका पारमार्थिक भेद ही मानिये ? इससे लोकप्रसिद्धिसे तथा न्याय आदि शास्त्रोंसे विरोध नहीं होगा। यदि कहें कि 'तत्त्वमसि' इस वाक्यकी क्या व्यवस्था होगी, तो सुनिये—जैसे 'अथ सम्पदः' इस अधिकारमें 'अनन्तं वै मनः अनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' (बृ० ३।१।९) मन वृत्तियोंके भेदसे अनन्त है और विश्वेदेव देवता भी अनन्त हैं, इससे मनको अविद्यमान-सा कर उसमें विश्वेदेवका सम्पादन कर उपासना करे, उससे उपासक अनन्त लोकका जय करता है। यहाँपर जैसे मनमें विश्वेदेवका सम्पादन कर उपासना करते हैं, वैसे ही 'तत्त्वमसि' यह वाक्य जीवमें ब्रह्मका सम्पादन कर उपासनाका विधान करता है और उससे अमृतत्व फल होता है। ऐसा माननेमें कोई हानि नहीं है, अतः ऐसा ही क्यों न मानें ?

उत्तर—ऐसा माननेपर 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका (तू वह है) इस अक्षरार्थका त्याग करना पड़ेगा। 'त्वं ब्रह्म सम्पाद्य उपासीत' (अपनेको ब्रह्म सम्पादन कर उपासना करे) ऐसी गौणी वृत्ति माननी पड़ेगी। यदि कहें कि मुख्यार्थका—जीव और ब्रह्मके ऐक्यका—बाध है, इससे लक्षणा 'अग्निर्माणवकः' इस वाक्यके तुल्य मानते हैं, इसमें कोई हानि नहीं है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि—

'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'॥ (कठ० ४।११)

(यह ब्रह्म श्रवण, मनन, और निदिध्यासनसे संस्कृत मनसे ही जानने योग्य है, इस संसारमें ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है। जो ब्रह्मसे भिन्न देखता है वह मरकर फिर मरता है अर्थात् जन्म-मरण सदा प्राप्त करता रहता है।)

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्' (श्वेता० १।१२)

(भोक्ता—जीव, भोग्य—शब्दादि विषय—और प्रेरिता—परमेश्वर, ये तीनों विचारदृष्टिसे ब्रह्म ही हैं।)

इन वचनोंके अनुसार जब सम्पूर्ण द्वैत मिथ्या ही भासता है, परमार्थमें है ही नहीं, तब जीवमें कर्तृत्व, अज्ञत्व, दुःखित्व आदि भी मिथ्या ही हैं, परमार्थमें नहीं हैं। अतः लक्षणाके बिना 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे अखण्ड विशुद्ध चित्का बोध हो सकता है, फिर उसे लक्षणासे सम्पाद्य उपासनापरक क्यों मानें। यह बात पूज्यचरण श्रीवाचस्पतिमिश्रने बड़ी खूबी से—

'विगलितपरागवृत्त्यर्थत्वं पदस्य तदस्तदा
तदिति हि पदेनैकार्थ्ये त्वमित्यपि यत्पदम्।
तदपि च तदा गत्वैकार्थ्यं विशुद्धचिदात्मताम्
त्यजति सकलान् कर्तृत्वादिपदार्थमलान्निजान्॥'

(जब 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें स्थित 'तत्' पद शुद्ध चित्को कहता है, तब तत् पदके अर्थभूत विशुद्ध चित्के एकत्वको प्राप्त 'त्वम्' पदार्थ भी अविद्यासे आरोपित कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि मलको त्याग देता है)—दिखलाई है। और यह भी विचारना चाहिए कि जब 'तत्त्वमसि' वाक्य ब्रह्मात्मैक्यपरक नहीं है, किन्तु सम्पाद्य उपासनापरक है, तब ज्ञानसे मोक्ष—अमृतत्व—प्राप्त होता है, यह बात नहीं रहेगी, किन्तु वह उक्त उपासनासे जन्य अदृष्टसे जन्य होगा। इस परिस्थितिमें 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है) 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (उस परमात्माका साक्षात्कार होनेपर अविद्यामूलक गाँठ [शरीरमें आत्माध्यास] खुल जाती है, सब सन्देह दूर हो जाते हैं, सब कर्म क्षीण हो जाते हैं) इत्यादि वचनका अर्थ बाधित हो जायगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव सच्चिदानन्दरूप निर्विशेष है और ब्रह्मसे परमार्थमें ऐक्य ही उसका सम्बन्ध है।

श्रद्धा

अरे भाई मन ! संशय क्यों किया करता है ? विश्वास क्यों नहीं करता ? श्रद्धा क्यों नहीं करता ? संशय त्याग दे, विश्वास कर, श्रद्धा कर। 'संशयात्मा विनश्यति' इस न्यायसे संशय करनेवालेका कल्याण नहीं होता किन्तु उसे अधोगतिकी ही प्राप्ति होती है, संशय करनेवाला यहीं सुख नहीं पाता, परलोकमें तो कहांसे सुख पावेगा ? संशयालुको कर्मफलमें संशय होता है, इसलिए वह सकाम कर्म नहीं करता, सकाम कर्म न करनेसे उसे चन्द्रलोक आदिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। खाने-पीने आदिमें भी उसे संशय होता है कि खाऊं या न खाऊं ? किसीने विष तो नहीं मिला दिया है ! इसको खा-पीकर कहीं बीमार तो नहीं हो जाऊंगा ! बीमार हो गया, तो अच्छा होऊंगा या नहीं ? मर तो नहीं जाऊंगा ? अच्छा भी हो गया, तो वैद्य आदि न मालूम मेरा कितना धन खींच ले जायंगे ? इत्यादि संशयोंके कारण संशयालुको इस लोकका भी सुख नहीं होता, जब उसे लोक परलोकका ही सुख नहीं, तो उपासनाके फल ब्रह्मलोक आदिकी प्राप्ति और ज्ञानके फल मोक्षकी प्राप्ति तो कहांसे होगी ! परिशेषसे उसे नरककी ही प्राप्ति होती है, यही उसका नष्ट होना है, जो नष्ट होनेसे भी बुरा है। नष्ट होनेमें दुःख तो नहीं होता, उसमें दुःख होता है। 'धोबीका कुत्ता घरका न घाटका' यह कहावत संशयालु-पर घटती है, इसलिए संशय छोड़ दे, श्रद्धा कर।

अजी ! आप तो मेरे कान खा गये श्रद्धा कर, श्रद्धा कर, दिन रात यही कहा करते हैं। हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ गये हैं। मेरी जान लेकर भी न मालूम मेरा पीछा छोड़ेंगे, या नहीं ! कैसे श्रद्धा करूं ? क्या मर जाऊं ? श्रद्धा करता तो हूं, श्रद्धा किये बिना रह भी कैसे सकता हूं ? त्रिलोकीमें क्या चौदह लोकोंमें भी कोई ऐसा प्राणी नहीं है, जो श्रद्धाहीन हो। संशयालु भी किसी-न-किसी अंशमें श्रद्धालु होता ही है। सबकी श्रद्धा है कि भोजन करनेसे भूखकी निवृत्ति हो जायगी, सबकी श्रद्धा है कि ऊंचे स्थानसे गिरनेसे चोट लग जायगी अथवा मर ही जाऊंगा। सबको श्रद्धा है कि जलती आगमें हाथ देनेसे जल जाते हैं, इत्यादि अनेक दृष्टान्त हैं। सिद्ध हुआ कि श्रद्धासे रहित कहीं कोई कभी नहीं है, सभी श्रद्धालु हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण मानने-वालोंको अनुमान प्रमाण मानना ही पड़ता है। अनुमानके बिना उनका व्यापार चल ही नहीं सकता, इसलिए सब श्रद्धालु हैं, तब मैं कैसे अश्रद्धालु हूं ?

भाई ! मरना क्या है और जीना क्या है ? यह बात अभी तेरी समझमें नहीं आ सकती, मंगल मंगल आठ दिन, अभी एक चतुर्मास ही तो तुझे सत्संगमें आये हुए हुआ है। मर जायँ तब तो सब पाप ही कट जाय, सर्वदाके लिए जी जायँ। श्रुति कहती है—'स्वयं भूत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते'—आप मर कर आप होकर आप ही शेष रहता है, इस-पर तुझे श्रद्धा कराना ऐसा है, जैसे बकरे को दिन भर खिलाना पिलाना और रातको भेड़िया दिखा देना। मरना ही जीना है, यह सुनते ही तेरी नाड़ी छूट जायगी, आँखें निकल आवेंगी। यहां जङ्गलमें कोई निपुण वैद्य भी नहीं है, जो तेरी चिकित्सा करे और मेरे पास कोई सेवक भी नहीं है, जो पवनसुनके समान द्रोणगिरिपरसे संजीवन बूटी ले आवे। सचमुच तू मर ही जायगा। शम, दम आदि जो कुछ अब कर रहा है, उन्हें छोड़ कर भाग जायगा, अथवा दम, नियम आदि करनेके लिए भी मना कर देगा। पूर्वाचार्योंका वचन है कि अभयमें भय देखनेवाले भेददर्शियोंके लिए निर्विकल्प समाधि दुर्लभ है, यह उनका कथन ठीक ही है।

मैं तुझसे अभी यह नहीं कहता कि तू एक दम मौन हो जा, फिर भी तू प्रत्यक्षमात्र माननेवाला तो है नहीं, शब्दप्रमाणको भी तो मानता ही है, उसीपर श्रद्धा कर।

शास्त्रके ऊपर मेरी पूर्ण श्रद्धा है। मैं मानता हूँ कि यह पुरुष श्रद्धामय है, जैसी श्रद्धावाला मनुष्य होता है वैसा ही वह होता है। भूत-प्रेतोंका, यक्ष-राक्षसोंका पूजन मैं कभी नहीं करता। शास्त्रमें अविहित घोर तप कीलों आदिपर बैठना आदि भी नहीं करता, और न दुराग्रहसे शरीरको भोजन न देकर पांचों भूतोंको मैं कष्ट ही देता हूँ। शरीरमें रहनेवाले हृषीकेशको भी मैं भूखा रहकर दुःख नहीं देता। दम्भ और अहंकार तो मेरे पास ही नहीं फटकते। कामना भी नहीं करता, राग द्वेषसे भी मैं दूर ही रहता हूँ। देवताओंका मैं अवश्य पूजन करता हूँ, उनसे फल भी मैं नहीं चाहता, शास्त्र कर्म करनेको कहता ही है, फिर मैं अश्रद्धालु कैसे हूँ? विद्वानोंका साधु महात्माओंका सत्कार करता हूँ, स्वाध्याय करता हूँ, कड़वी वाणी बोलकर किसीके चित्तको भी नहीं दुखाता। सत्य, हित और थोड़ा यथासंभव बोलता हूँ, युक्त आहार-विहार करता हूँ, सीधा, सरल और सच्चा व्यापार करता हूँ, धर्म पर चलता हूँ और मनसे, कर्मसे और वाणीसे किसीको पीड़ा नहीं देता। पहले मैं यह सब अपने सत्कार, मानपूजाके लिए करता था, सब मुझे शिष्ट और श्रेष्ठ कहें, यह मेरी इच्छा रहती थी, उसमें भी यदि मेरी अश्रद्धा हो तो कहिये, जैसा आप कहें, वैसा करनेको मैं तैयार हूँ, शिर-आँखोंसे आपकी आज्ञाका पालन करूँगा, युक्तियुक्त प्रामाणिक हितकी बात मैं अवश्य मानूँगा और करूँगा भी।

भाई! तू अवश्य अपना कल्याण कर लेगा, यह मैं मानता हूँ। अपना मन ही अपना शत्रु होता है और मन ही मित्र होता है, ऐसा विद्वानोंका मत है। जो मन स्वेच्छाचारी होता है, वह आत्माको नरकमें ले जाता है और आप भी नरकमें जाता है, इसलिए शत्रु है। जो आज्ञानुसारी होता है, वह भवसागरसे आप पार होता है और अपने आत्माको भी चौरासीके चक्रसे छुड़ा लेता है, ऐसा मैंने सुना है, तू मेरी आज्ञा माननेको तैयार है, इसलिए तू मेरा मित्र है, शत्रु नहीं है। अब तेरे और मेरे कल्याणमें देर नहीं है, ऐसा मैं समझता हूँ। जिससे सुनता हूँ, उससे यही सुनता हूँ कि मेरा मन वशमें नहीं है, मेरी आज्ञामें नहीं चलता, अपनी मनमानी करता है, मनने मुझे बड़ा दुःखी कर रक्खा है। क्या करूँ, कैसे करूँ? जिससे मेरा मन मेरे अधीन हो जाय। मन ही बंधका कारण है, मन ही मोक्षका कारण है, ऐसा वेदवेत्ता कहते हैं परन्तु मेरी समझमें तो मन बंधका ही कारण है, मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि वशमें तो होता ही नहीं। जिस दिन वशमें हो जायगा, उस दिन समझूँगा कि मन मोक्षका भी कारण है। अभी तो वेदवेत्ताओंकी बात मेरी समझमें नहीं आती इत्यादि कह कर प्रायः सभी मनकी बुराई करते हैं। जिसकी सभी बुराई करते हैं, वही तू मेरी आज्ञामें चलनेको कहता है, उससे मैं समझता हूँ कि शङ्कर त्रिपुरारि और माधव मुरारि दोनों ही मेरे ऊपर प्रसन्न हैं, क्योंकि समुद्रको पी जानेसे, अग्निको खा जानेसे और सुमेरुके उखाड़नेसे भी जिसका रोकना कठिन है, वही अपने वश होकर आज्ञानुसार चलने लगे, तो समझना चाहिये कि केशवकंसारि मुझपर प्रसन्न हैं।

भाई! सुन, जो तू करता है, वह ठीक है, फिर भी उतना करनेसे कार्यकी सिद्धि हो नहीं सकती, उससे भी अधिक करना है। श्रद्धामय पुरुष है, जैसी श्रद्धावाला जो होता है, वैसा ही वह हो जाता है, इसपर तो तेरी श्रद्धा है ही। अब तू ऐसा कर कि जितने तेरे संशय हैं, उन सबको अपनेमें से निःशेष निकाल दे, क्योंकि जबतक संशयकी निःशेष

निवृत्ति नहीं होगी, तबतक दृढ़ श्रद्धा नहीं होगी। दृढ़ श्रद्धा उसका नाम है कि जो किसी कालमें, किसी देशमें किसी प्रमाणसे टाली न जा सके, हिलाई हिले नहीं, टाली टले नहीं, किन्तु मेरु पर्वतके समान, अथवा ध्रुवके समान अटल और अचल रहे। संशय उसको कहते हैं कि एक कालमें, एक देशमें, एक प्रमाणसे एक वस्तुमें श्रद्धा कर ली, दूसरे कालमें, दूसरे देशमें दूसरे प्रमाणसे श्रद्धा हट गई, उसी वस्तुमें अश्रद्धा हो गई। ऐसी श्रद्धा श्रद्धा नहीं है, किन्तु अश्रद्धा ही है अथवा संशय ही है।

अजी! इस समय मुझमें तीव्र वैराग्य और तीव्र मोक्ष इच्छाका वेग है, शीघ्र ही बतलाइये कि क्या-क्या संशय नहीं करूँ?

भाई! शीघ्रता राजसी गुण है, धैर्यसे विचार करके कार्य प्रारंभ करना चाहिए। प्रायः मुमुक्षुओंको ऐसे संशय हुआ करते हैं कि आत्मा चेतन है या अचेतन? चेतन है, तो नित्य है या अनित्य? नित्य है, तो देहादिसे भिन्न है या अभिन्न? भिन्न है, तो देहादिसे उसका सम्बन्ध है या नहीं? सम्बन्ध नहीं है, तो आत्मा स्वयं कर्ता है या अकर्ता? अकर्ता है, तो भोक्ता है या अभोक्ता? अभोक्ता है, तो आप असंग है या नहीं? असंग है, तो देहादिकी क्रियासे लिप्त होता है या नहीं? कर्म का लेप आत्मामें नहीं होता, तो भी आत्मा ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न है? ब्रह्मसे अभिन्न है, तो मुझे आत्मा और ब्रह्मके एकत्वका विज्ञान हुआ है या नहीं? ज्ञान हो गया है, तो वह ज्ञान यथार्थ है या नहीं है? यथार्थ है, तो मुक्तिका साधक है या नहीं? साधक है, तो मुझे जीवन्मुक्ति प्राप्त हुई या नहीं हुई? प्राप्त हुई है, तो मुझे विदेह मुक्ति प्राप्त होगी या नहीं इत्यादि।

भाई! तुझे ऐसे संशय कभी भी न करने चाहिए, किन्तु ऐसी दृढ़ श्रद्धा करनी चाहिए कि आत्मा चेतनोंका भी चेतन है—बुद्धि आदि चेतनोंको—लोकमें माने हुए चेतनोंको—चेतन करनेवाला होनेसे चेतनोंका चेतन है; नित्योंका भी नित्य है—लोकमें नित्य माने हुए परमाणु, आकाश, काल आदिकी अपेक्षासे भी नित्य है—प्रलयमें जब ये नहीं रहते, तब भी आत्मा रहता है, इसलिए नित्योंका भी नित्य है; देहादिसे भिन्न है—लोकमें अचेतन माने हुए देहादिका द्रष्टा—साक्षी—प्रकाशक है, इसलिए देहादिसे भिन्न है। चेतन होनेसे ही अचेतन देहादिसे आत्माका सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध न होनेसे ही आत्मा कर्ता और भोक्ता भी नहीं है। किसीसे आत्माका सम्बन्ध नहीं है, इसीसे आत्मा असंग है। असंग होनेसे ही देहादिकी क्रियासे आत्मा लिप्त नहीं होता। असंग होनेसे आत्मा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, किन्तु अभिन्न है—दोनों एक ही हैं, जब दोनों एक ही हैं, तब दोनोंके एकत्वका ज्ञान है ही, जब एकत्वका ज्ञान है, तो जीवन्मुक्ति सिद्ध ही है; जीवन्मुक्ति है, तो विदेहमुक्तिमें संशय करनेका काम ही नहीं है।

अजी! शास्त्रसे और युक्तिसे दोनोंका एकत्व होनेमें संशय नहीं है किन्तु पूर्ण श्रद्धा होनेपर भी पूर्वकी वासनाओंसे जगत्-भेद दिखाई देता ही है, उसका क्या उपाय है? शास्त्रसे मैंने सुना है कि आपमें और ब्रह्ममें जो कोई थोड़ासा भी भेद मानता है, उसको भय होता है—वह जन्ममरणरूप संसारसे मुक्त नहीं होता। यह भेददृष्टि कैसे जाय, इस भेद दृष्टिके निवृत्त होनेका क्या उपाय है? यह बतलाइए। स्थाणुको पुरुष समझना अथवा पुरुषको स्थाणु समझना, इसका नाम संशय है और स्थाणुको स्थाणु अथवा पुरुषको पुरुष देखना, इसका नाम श्रद्धा है। अभी तो मुझे जगत् और ब्रह्म दोनों ही भासते हैं, कभी जगत्को ब्रह्म देखने लगता हूँ, कभी ब्रह्मको जगत्

देखने लगता हूँ, कभी अनुभव करने लगता हूँ कि मैं देह हूँ, कभी अनुभव करता हूँ कि मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा नहीं होता कि सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते फिरते मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसा अनुभव करूँ, तीनों कालमें मुझे देहका अनुसन्धान न हो, किन्तु सर्वदा ब्रह्मका ही अनुसन्धान हो ऐसा मैं चाहता हूँ, यह मेरी इच्छा कब पूरी होगी? देह छूटनेसे पहले ही मुझे ऐसा अनुभव होने लगे, ऐसी मेरी तीव्र इच्छा है।

भाई! ईश्वर सबकी इच्छाएं पूर्ण करता है और तीव्र इच्छा तो तुरन्त पूर्ण करता है। यदि तू भेददृष्टि मिटाना चाहता है, तो सब धर्मोंको छोड़ दे और अन्तर्यामी ईश्वरकी शरण ले—अपनी चीं-चपड़ लगाना छोड़ दे और जैसी ईश्वर प्रेरणा करे, वैसा ही कर लिया कर। यदि ईश्वर सुख दे, तो सुख पाकर उछल मत, यदि दुःख दे, तो दुःख पाकर हाय हाय मत कर। यदि रुखी-सूखी रोटी मिल जाय, तो पेट भर कर ठंडा पानी पीकर सो जा। यदि मोहनभोग मिल जाय, तो भी वैसा ही कर। यदि ईश्वर रथ, हाथी और घोड़ों पर चढ़ावे, तो हां ना मत कर चढ़ ले, गदहे पर चढ़ावे तो भी हां ना मत कर, चढ़ ले। यदि पैदल चलावे तो पैदल चलनेमें ही सुख मान। यदि ईश्वर मण्डलेश्वर बना दे, तो मंडली रख साथमें, यदि ईश्वर पात्र छीन ले, तो भिक्षा ले लिया कर हाथमें। इतना स्मरण रख कि मण्डलेश्वरसे करपात्री उत्तम है, क्योंकि लक्ष्मी महारानी विष्णुकी पटरानी बड़ी सयानी है, विष्णुभक्तोंसे दूर ही रहती है, क्योंकि जानती है कि मेरे संगसे सत्पुरुषोंका भी मन विमन हो जाता है, अमनसे दूर कर देता है, इसलिए लक्ष्मी भक्तोंके पास स्वयं नहीं आती, क्योंकि समझती है कि ये विष्णुकी भक्ति छोड़कर मेरी ही भक्ति—आसक्ति—करने लगेंगे।

अजी! आप मेरी तरफसे ऐसी शङ्का न कीजिए, मैं जानता हूँ और मुझे पूर्ण श्रद्धा है कि संन्यास ब्रह्म है, ब्रह्म सबसे परे है, वही सबकी चरम गति है। ऋत तप है, सत्य तप है, शान्ति परम तप है, अभय परम धर्म है, अहिंसा परम धर्म है, त्यागसे ही आत्माका ज्ञान और विज्ञान होता है, हजारों अश्वमेधोंसे मनका एकाग्र होना उत्तम है, मनकी एकाग्रताका सोलहवां अंश भी अश्वमेध आदि नहीं हैं। तपस्वीसे योगी श्रेष्ठ है, श्रोत्रियसे भी ब्रह्मनिष्ठ योगी श्रेष्ठ है, कर्मियोंसे भी ब्रह्मनिष्ठ योगी श्रेष्ठ है। ब्रह्मनिष्ठासे ही भेदबुद्धिकी निवृत्ति होती है, ब्रह्मनिष्ठाके सिवा सर्वात्मदर्शनका अन्य उपाय नहीं है। ब्रह्मनिष्ठाके सिवा अब मैं दूसरा व्यापार नहीं करूँगा। नामरूपका त्याग करके अब मैं सबमें ब्रह्मका ही दर्शन करूँगा। मुझे श्रद्धा है कि श्रुति कहती है कि आदित्य ब्रह्म है, नामरूप छोड़कर आदित्य ब्रह्म ही है, इसमें मुझे संशय नहीं है। श्रुति कहती है कि मन ब्रह्म है, ठीक ही है, मेरा नामरूप छोड़कर मेरा आत्मा ब्रह्म ही है। श्रुति कहती है कि यह सब ब्रह्म ही है, ठीक है, सर्वका नामरूप त्यागकर सब ब्रह्म ही है। श्रुति कहती है कि यह आत्मा ब्रह्म है, ठीक ही है, यदि आत्मा ब्रह्म न हो, तो परिच्छिन्न हो जाय और ब्रह्म यदि आत्मा न हो, तो अन्य हो जाय, अन्य होनेसे दृश्य हो जाय, दृश्य होनेसे जड़ हो जाय और जड़ होनेसे मिथ्या हो जाय, इसलिए आत्मा और ब्रह्म एक ही के दो नाम हैं। सबका स्वरूप होनेसे ब्रह्म आत्माका किसी कालसे, किसी देशसे और किसी प्रमणासे बाध नहीं होता, इसलिए आत्मा पूर्ण है और पूर्ण होनेसे ब्रह्म है। अब मैं इस ब्रह्म आत्माका ही सर्वत्र सर्वदा, सर्वथा सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, अनुसन्धान करूँगा। मुझे पूर्ण श्रद्धा है, दृढ़ श्रद्धा है कि ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ नहीं है और वही मेरा आत्मा और सबका आत्मा है, अब मैं उसीमें निष्ठा करूँगा—उसमें स्थित होकर अचल, पूर्ण और स्थिर हो जाऊँगा। आपकी आज्ञा सुनकर और श्रुतियोंका उपदेश सुनकर मैं तनमें फूला नहीं समाता

हूँ । ऐसा अनुभव होता है कि मैं सर्वत्र भरा हूँ, एक शरीरमें नहीं, सबके शरीरोंमें मैं ही भर रहा हूँ। मुझे स्मरण हो गया है कि कृष्णका मनमुख सखा मैं ही हूँ। यदि मैं पार्थके सारथीका सखा नहीं होता, तो मुझमें इतनी सामर्थ्य कहांसे आती कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण, सबका ध्यान करता हुआ सर्वाकार हो जाऊँ, सर्वाकार ही नहीं, एकाकार, आत्मान्तर, ब्रह्माकार भी हो जाऊँ ।

और भी सुनिए, बन्ध और मोक्ष, संसार बनाना और संसार मिटाना, ये दोनों मेरे बाएँ हाथके खेल हैं, श्रद्धा तथा अश्रद्धा ये दोनों मेरे ही धर्म हैं, आपमें कोई धर्म नहीं है, आप तो सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अखण्डानन्द, एकरस हैं, जब मैं अशुद्ध होता हूँ, तब मैं अपने धर्म आपमें दिखता हूँ, और जब मैं शुद्ध होता हूँ, तो मैं अपने और आपके स्वरूपको भिन्न-भिन्न करके बना देता हूँ। पीछे मैं भी आपमें लीन होकर आपही हो जाता हूँ। परमार्थसे मेरा ही बन्ध है और मेरा ही मोक्ष है, क्योंकि बन्ध और मोक्ष गुणोंमें ही हैं, आप निर्गुणमें—गुणातीतमें—दोनोंमें से एक भी नहीं है। सच पूछिए, तो न किसीमें बन्ध है और न मोक्ष है। भूलसे मन बन गया है, मनसे मनु बन गए हैं और मनुसे मनुष्य बन गए हैं, भूलसे अश्रद्धा है और भूल निकल जाना श्रद्धा है। किसीने कहा है—

संन्यास [हरिगीत छन्दमें]

जो न्यास है, सो ब्रह्म है, संशय न इसमें जान रे । जो ब्रह्म है, सो आप तू, यह बात पक्की मान रे ॥
मत अन्यको कर प्यार तू, कर आपको ही प्यार रे । पल्ला छुड़ाकर अन्यसे, भवचक्रसे हो पार रे ॥
तज सूत्र दे, तज दे शिखा, तज पुत्र दे, तज दार रे । तज कर्म दे, तज धर्म दे, तज गेह, तज परिवार रे ॥
कौपीन कंथामात्र ले, मत अन्य कुछ रख पास रे । यदि हो सके वह भी न रख, एकान्तमें कर वास रे ॥
ना खानकी ना पानकी, चिन्ता कभी कर लेश रे । भग मत किसीका कर कभी, मत मान तनको क्लेश रे
जो गर्भमें था साथ सो ही साथ है विश्वेश रे । रक्षा करेगा देव सो प्रारब्ध तब यदि शेष रे ॥
निश्चिन्त हो मन शान्त कर जा बैठ तू आसन लगा । सब वृत्तियोंको एक कर, दे आपमें ही मन लगा ॥
कुछ भी मती कर चिन्तवन, हो आप अपना आप रे । कट जायँगे सब पाप रे, मिट जायँगे सन्ताप रे ॥
कुछ कालके अभ्याससे, अज्ञान मल जल जायगा । ब्रह्मात्मदर्शन होयगा, भ्रमभेद सब गल जायगा ॥
निर्वासना हो जायगा, आनन्द अभय पायगा । स्वराज्य पा होगा अमर, भव चक्रमें ना आयगा ॥
यदि तू विरागी धीर है, घर छोड़कर धर मार्ग रे । यदि राग तव मन माहिं है, तो घर कभी मत त्याग रे
नित्यादि वैदिक कर्म कर, फल कर्मका मत मांग रे । कर कृष्णअर्पण कर्म सब ही कृष्णमें अनुराग रे ॥
ऐसा किए ऋषि, पितर, सुर, राजी सभी हो जायँ रे । तब श्रेय चाहें नित्य ही, ना विघ्न कोई लायँ रे ॥
ईश्वर करे तुझपर कृपा, दे काट तेरे पाप रे । दे तत्त्व भी अपना बना, हर लेय तीनों ताप रे ॥
नरदेह नाहीं मिला है, भोग करनेके लिए । विश्वेशने यह है दिया, निज योग करनेके लिए ॥
जैसे बने वैसे तुरत दे त्याग नश्वर भोग रे । करके श्रवण अथवा मनन, कर नित्य सुखसे योग रे
तत्त्वज्ञ यदि तू होय तो, तेरा न कुछ कर्तव्य रे । प्राप्तव्य जब कुछ है नहीं, तो होय क्या ज्ञातव्य रे ॥
मत तज शिखा, मत सूत्र तज, मत पुत्र तज मत दार रे । कुछ भी मती व्यापार कर, पा कर सभी व्यापार रे
हरिगान कर शिवध्यान धर, स्वाध्याय कर दे दान रे । तल्लीन हो जा ब्रह्ममें, या विष्णुको दे मान रे ॥
दे कान सुन भगवत्कथा मीचे भले रख कान रे । है एक कर्मोपासना तेरे लिए अठ जान रे ॥
सब धर्म भोला ! त्याग अब क्यों कर रहा तकरार रे । करना न करना धर्म सब, धर्मेश शिरधरमार रे ॥
धर्मेशको क्या भार, जिसके शेष हैं अवतार रे । [illegible] बेड़ा पया, इस पारसे उस पार रे ॥

अच्युतग्रन्थमालासे प्रकाशित पुस्तकोंका

सूचीपत्र



(क) विभाग

१–भगवन्नामकौमुदी—[भगवन्नामकी महिमाका प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ] मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधरकी कृति, अनन्तदेवरचित 'प्रकाश' टीकासहित। सम्पादक–आचार्यवर गोस्वामी पं० श्रीदामोदरशास्त्री।

२–भक्तिरसायन—[भक्तिस्वरूपका परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर श्रीमधुसूदनसरस्वती रचित। प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकाररचित शेष दो उल्लासोंमें आचार्यवर गोस्वामी पं० श्रीदामोदरशास्त्रीविरचित टीकासे विभूषित। सं०—आचार्यवर गोस्वामी पं० श्रीदामोदरशास्त्री

पृ० सं० १७०, मू.—आ. १२ (भण्डारमें नहीं है)

३–शुल्वसूत्र—[कात्यायनश्रौतसूत्रका परिशिष्ट अंश] म. म. वेदाचार्य पं० श्रीविद्याधर गौड़ द्वारा विरचित सरल वृत्तिसे विभूषित। सं०–म. म. वेदाचार्य पं० श्रीविद्याधर गौड़।

पृ० सं० ६०, मू.—आ. ४

४–कात्यायनश्रौतसूत्र—[इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, पितृमेधपर्यन्त कितने ही यज्ञोंकी विधियाँ साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षिकात्यायनप्रणीत। म. मं. वेदाचार्य पं० श्रीविद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्तिसे अलंकृत। सं०–वेदाचार्य पं० श्रीविद्याधर गौड़।

(बड़ा आकार) पृ० सं० लगभग १०००, मू.—रु. ६

५–प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्तका सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्दव्यासविरचित, ग्रन्थकाररचित सरल संस्कृतटीकासहित। सं०— साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० ३४०, मू.—रु. २

६-भक्तिरसामृतसिन्धु—[भक्तिरससे परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है] श्रीरूपगोस्वामिप्रणीत । श्रीजीवगोस्वामिप्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीकासहित । सं०—आचार्यवर गोस्वामी पं० श्रीदामोदरशास्त्री । पृ० सं० ६२५, मू.—रु. ३

७-प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि—(द्वितीय भाग) पृ० सं० ४५०, मू.—रु. २ आ. ४

८-तिथ्यर्क—[तिथियोंके निर्णय आदिपर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकरविरचित । सं०—साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री । पृ० सं० २४०, मू.—रु. १ आ० ८

९-परमार्थसार—[वेदान्तका अति प्राचीन ग्रन्थ] श्रीपतञ्जलि भगवान्‌की कृति, प्राचीन टीका तथा टिप्पणीसे विभूषित । सं०—न्यायव्याकरणाचार्य पं० श्रीसूर्यनारायणशुक्ल । पृ० सं० १००, मू.—आ० ६

१०-प्रेमपत्तन—[श्रीकृष्णभक्तिसे सराबोर चैतन्य-सम्प्रदायका अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर श्रीरसिकोत्तंसकी कृति तथा अद्भुतप्रणीत टीकासे अलंकृत । सं०—साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री । पृ० सं० २३०, मू.—रु. १

११-माध्यन्दिनशतपथब्राह्मण—(प्रथम भाग) [इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, प्रवर्ग्य, जातकर्म, वंशब्राह्मण पर्यन्त अनेकों यज्ञोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन है ।] सं०—वेदाचार्य पं० श्रीविद्याधरजी गौड़ तथा पं० श्रीचन्द्रधर चौधरी वेदाचार्य । पृ० सं० ८१०, मू.—रु. ३ आ. ८

१२-माध्यन्दिनशतपथब्राह्मण—(द्वितीय भाग) अकारादि क्रमसे बृहद् मन्त्रसूचीसे अलङ्कृत । सं०—वेदाचार्य पं० श्रीवंशीधर मिश्र गौड़ । पृ० सं० लगभग १००० से ऊपर, मूल्य केवल रु० ३ आ० ८

शतपथब्राह्मणकण्डिका सूची मूल्य ॥) नेट

१३-षट्सन्दर्भ—(तत्त्वसन्दर्भमात्र) [यह गौडीय सम्प्रदायका अत्युत्तम भक्तिग्रन्थ है] श्रीबलदेव विद्याभूषण और श्रीराधामोहन भट्टाचार्य विरचित दो टीकाओंसे युक्त । सं०—पं० श्रीकृष्णपन्त साहित्याचार्य । पृ० सं० २००, मू.—रु. १

(ख) विभाग

१-खण्डनखण्डखाद्य—कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षरचित, पण्डितवर श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवादसे विभूषित । मू.—रु. २ आ. १२ **(बाजारमें नहीं है)**,

२-काशी-केदार-माहात्म्य—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठीद्वारा विरचित भाषानुवादसहित । सं०—साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री । पृ० सं० २६ + ६०४, मू.—रु. २ आ. ८

३–सिद्धान्तबिन्दु—[वेदान्तका प्रमेयबहुल अपूर्व ग्रन्थ] आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित। भाषानुवाद तथा टिप्पणीसे विभूषित। सं०—साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० २८०, मू.—रु. १ आ. ६

४–प्रकरणपञ्चक—भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-ग्रन्थोंका भाषानुवादसहित संग्रह। सं०—साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० १३२, मू.—आ. ८

५–ब्रह्मसूत्र—शाङ्करभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित [श्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वतीकृत ब्रह्मतत्त्व-प्रकाशिकावृत्तिके अनुसार सूत्रोंका पदच्छेद, पदार्थोक्ति और सुविशद भाषार्थ एवं वैयासिक-न्यायमालाके सन्देह, पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त निर्देशपुरस्सर सुस्पष्ट और विशद भाषार्थसे विभूषित, वेदान्तप्रेमियोंके लिए अत्यन्त उपादेय और अनुपम ग्रन्थ] अनुवादक—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी। सं०—पं० श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल तथा पं० श्रीकृष्णपन्त साहित्याचार्य। कपड़ेकी पक्की तीन जिल्दोंमें प्रकाशित, छपाई, सफाई सभी मनोहर, पृष्ठ संख्या २६०० के लगभग, मूल्य—[तीनों खण्डोंका] १४) रु०।

६–सिद्धान्तलेशसंग्रह—[अद्वैतवेदान्तके भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंका संग्रहात्मक अपूर्व ग्रन्थ] सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र श्रीमदप्पय्यदीक्षित विरचित। वेदान्ताचार्य पं० श्रीमूलशङ्करशास्त्रिव्यास विरचित भाषानुवादसे विभूषित। सं०—पं० श्रीचण्डप्रसाद शुक्ल तथा साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० २३+५५६, मू.—रु. ३

७–वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली—[वेदान्तसंसारमें एकजीववादका प्रतिपादक अद्वितीय ग्रन्थ] श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीप्रकाशानन्दस्वामिविरचित। अध्यापक पं० श्री प्रेमवल्लभशास्त्री द्वारा विरचित भाषानुवादसहित। सं०—पं० श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल तथा पं० श्रीकृष्णपन्तशास्त्री साहित्याचार्य। पृ० सं० १०+१८६, मू.—रु. १

८–विवरणप्रमेयसंग्रह—[चतुःसूत्रीके ऊपर विविध मतमतान्तरोंके निरूपणपूर्वक अद्वैत-तत्त्वका प्रतिपादक प्रमेयबहुल एक अनुपम ग्रन्थ] सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीविद्यारण्यमुनि-विरचित। व्याकरणाचार्य वेदान्तमर्मज्ञ पं० श्रीललिताप्रसादडबराल विरचित हिन्दीभाषा-नुवादसे विभूषित। सं०—पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल तथा साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। सुन्दर कपड़ेकी पक्की जिल्द। पृ० सं० ६०० से ऊपर मू.—रु. ४ आ. ८

९–वेदान्तसिद्धान्तकल्पवल्ली—[अद्वैतसिद्धान्तमें प्रतिपादित भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंका प्रति-पादक अनुपम ग्रन्थ] योगिराज श्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वती विरचित। म० म० पं० श्रीहाथीभाई शास्त्री विरचित हिन्दीभाषानुवादसे विभूषित। सं०—पं० श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल तथा साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० १४० मू.—आ. ८

१०–बृहदारण्यकवार्तिकसार—(दो भागों में) श्रीसुरेश्वराचार्य विरचित बृहदारण्यक वार्तिक-का संक्षेप। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रीविद्यारण्यमुनि विरचित। ब्रह्मनिष्ठ श्रीमदच्युतमुनि महाराज तथा म०म० पं० श्रीहरिहरकृपालु द्विवेदी विरचित भाषानुवादसे विभूषित। सं० पं० श्रीकृष्णपन्तशास्त्री तथा पं० मूलशङ्कर व्यास। पृष्ठ संख्या लगभग २५०० सिवाय भी मूल्य केवल निछावरमात्र रु० ९

[परीक्षार्थियोंकी सुविधाके लिए केवल प्रयोगपरीक्षान्त भागकी पृथक् जिल्द बनवाई गई है। मू० रु० २ आ० ८]

११–अच्युत-लेखमाला—(अच्युतमासिकमें निकले हुए महात्माओं एवं अन्यान्य विशिष्ट विद्वानोंके सुन्दर लेखोंका संग्रह) पृ० सं० ४०० मूल्य रु० १ आ० ८

१२ श्रीमद्भगवद्गीता—परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीशङ्करानन्दसरस्वतीविरचित गीतातात्पर्य-बोधिनी (शङ्करानन्दी) तथा यतिवर श्रीभोलेबाबाविरचित तदनुवादसे विभूषित। सं० साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री तथा वेदान्ताचार्य पं० मूलशङ्कर व्यास। पृ० सं० १०५० मूल्य केवल रु० ४ आना ८

१३ योगवासिष्ठ—(चार भागोंमें) [वैराग्यमुमुक्षुव्यवहार-उत्पत्तिप्रकरणान्त प्रथम भाग] आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकि महर्षि विरचित। पं० श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री विरचित भाषानुवादसे विभूषित। पृ० सं० १४+११८२ मूल्य केवल रु० ८

[स्थिति-उपशमप्रकरणात्मक द्वितीय भाग] पृ० सं० १०+१४२८ मूल्य सिर्फ रु० ७

[पूर्वार्द्ध निर्वाणप्रकरणात्मक तृतीय भाग] पं० श्रीमूलशङ्करव्यासविरचित भाषानुवादसे विभूषित पृ० सं० १०+११५० मूल्य सिर्फ रु० ७

१४–श्रीमद्भागवत एकादशस्कन्ध—प्रत्येक पदका अनुवाद तथा भावानुवादसे युक्त। १ म भाग पृ०सं० ३३० मूल्य रुपया १ आ० ८

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

(क) विभागमें

(१) **शिवसहस्रनाम**—श्रीमत्परमशिवेन्द्रसरस्वतीविरचितभाष्यभूषित।

(ख) विभाग में

(१) **योगवासिष्ठ ४र्थ भाग** [उत्तरार्द्धनिर्वाणप्रकरणात्मक] भाषानुवाद-युक्त

(२) **श्रीमद्भागवत एकादशस्कन्ध** (२ य भाग)
प्रत्येक पदका हिंदीमें अनुवाद तथा भावानुवाद युक्त।

मिलनेका पता—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।

नोट— स्थायी ग्राहकोंको सभी पुस्तकें पौन मूल्यमें दी जाती हैं। अच्युत मासिक पत्रके ग्राहक (ख) विभागके स्थायी ग्राहक माने जाते हैं।